# हिन्दी गद्य के विविध साहित्य-रूपों का उद्भव और विकास

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की
पी-एच० डी० उपाधि के लिए
स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

डॉ० बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे

कि ता ब म ह ल

इलाहाबाद, बम्बई, दिल्ली

१९५८

# प्रस्तावना

आधुनिक युग में गद्य-साहित्य की प्रधानता मिलती है। हिन्दी गद्य-साहित्य के नाटक, उपन्यास, कहानी आदि साहित्यिक रूपों का विकास समय की गति के अनुसार हो चुका है और उनकी प्रेरक प्रवृत्तियों के आधार पर हिन्दी गद्य-साहित्य के समस्त रूपों का अध्ययन अपना एक स्वतंत्र महत्व रखता है। हिन्दी के अधिकतर आलोचकों ने आधुनिक काल को आलोचना का युग माना है परन्तु हिन्दी गद्य के समस्त साहित्यिक रूपों का एकत्र अध्ययन उसके सम्पूर्ण परिपार्श्व में संभवतः अभी तक नहीं हो सका। अतः मैंने अपने शोध-कार्य के लिये हिन्दी गद्य के साहित्य-रूपों का उद्भव और विकास (Evolution of various literary forms in Hindi Prose) इस विषय को समयानुकूल समझा और हिन्दी गद्य के आरम्भ से लेकर सन् १९५० तक के उसके सम्पूर्ण विकास को अपने अध्ययन का विषय बनाया। मैंने इस विषय पर सन् १९५१ से शोध-कार्य करना आरम्भ किया इसलिए इस विषय के अध्ययन की सीमा सन् १९५० तक प्रकाशित गद्य-ग्रन्थों तक रखी है। उसी प्रकार सन् १९५० में बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध भी समाप्त हुआ है।

मैंने हिन्दी गद्य के नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध और आलोचना इन प्रमुख साहित्य-रूपों को लेकर हर एक रूप के उद्भव और विकास पर इस प्रबंध के अलग-अलग अध्याय में विचार किया है। वैसे तो यह प्रबंध छहः अध्यायों में लिखा है और उसके प्रथम अध्याय में हिन्दी गद्य के साहित्य-रूपों के उद्भव और विकास को ठीक रूप में समझने के लिये **'हिन्दी गद्य का विकास'** शीर्षक विषय पर प्रबंध की भूमिका के रूप में विस्तृत ढंग से विचार किया है। विकास-क्रम की ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार सब रूपों में से सर्वप्रथम **'नाटक'** रूप पर ही दूसरे अध्याय में विचार किया है और अगले अध्यायों में क्रमशः **'उपन्यास'**, **'कहानी'**, **'निबन्ध'** और **'आलोचना'** पर विस्तृत विवेचन किया है। हर एक साहित्य-रूप पर स्वतंत्र रूप में विचार करते समय उसके इतिहास को विभिन्न काल-विभागों में बाँटकर उसके क्रमिक विकास पर विचार किया है। हर एक काल-विभाग का समय निश्चित करके उसके विकास-क्रम की ऐतिहासिक परम्परा की ओर भी संकेत किया है। भविष्य में इस प्रकार का हर एक काल-विभाग पूर्णतया स्वतंत्र रूप में शोध-कार्य का विषय हो सकता है।

प्रस्तुत विषय के अध्ययन के लिए भारतेन्दुकालीन पत्रिकाओं से भी सहायता ली है। इसमें कई ऐसी रचनाओं पर विचार किया है कि जो अभी तक हिन्दी संसार के सामने उपस्थित नहीं की गई हैं। प्रकाशित तथा अप्रकाशित रचनाओं के अध्ययन,

चिन्तन और मनन के बाद जो बात ठीक समझ में आई उसको मैंने साहसपूर्वक तथा सचाई के साथ प्रस्तुत किया है।परन्तु हर एक बात का विश्लेषण पूर्णतया वैज्ञानिक ढंग से किया है।

इस प्रबंध का पांडित्यपूर्ण निर्देशन गुरुवर डा० श्रीकृष्णलाल ने किया है। वास्तव में इतने बड़े व्यापक विषय का, जिसकी परिधि, प्रभाव और अन्विति की दृष्टि से, भारतवर्ष की बहुत सी भाषाओं तथा अंग्रेजी तक फैली है, निर्देशन-कार्य बहुत ही कठिन है। परन्तु डा० श्रीकृष्णलाल ने अपने व्यस्त जीवन में से समय निकाल कर अपने हार्दिक तथा स्नेह-पूर्ण आदेश-निर्देश से मेरे अध्ययन को सुलभ किया और उनकी हार्दिक प्रेरणा के कारण ही यह प्रबंध ठीक समय पर समाप्त हो सका। उनकी पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' तथा उनकी अन्य संपादित पुस्तकों की भूमिकाओं से विषय को ठीक से समझने में मुझे सहायता मिली। इसके लिये उनको केवल धन्यवाद देकर भागना बहुत ही बड़ा अपराध ेगा।

प्रस्तुत प्रबंध लिखते समय डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाज-पेयी, डा० रामकुमार वर्मा, डा० नगेन्द्र, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डा० रामविलास शर्मा आदि साहित्यमनीषियों की आलोचनात्मक कृतियों से जो प्रेरणा तथा सहायता मिली है उन सब आलोचक-प्रवरों का मैं अत्यन्त आभारी हूँ। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने हार्दिक स्नेह द्वारा प्रबंध को पूर्ण करने के लिये जो उत्साह तथा प्रेरणा दी है उनका आभार-प्रदर्शन शब्दों में नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार इस प्रबंध के सन्मान्य परीक्षक आचार्य विनयमोहन शर्मा तथा डॉ० हरवंशलाल शर्मा ने बड़ी सहानुभूति से इस प्रबंध को जाँच कर इसके बारे में जो सुझाव उपस्थित किये थे उनके लिये मैं उनका चिरऋणी हूँ।

इस प्रबंध के लिये काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के गायकवाड पुस्तकालय से सामग्री प्राप्त की है। इन दोनों पुस्तकालयों के अधिकारियों तथा कर्मचारियों ने मेरे अध्ययन के लिये सब प्रकार की सामग्री सुलभ कर दी है। इसलिये मैं उनको धन्यवाद देता हूँ। उसी प्रकार जिन जिन शोध-कर्ताओं के साथ इन पुस्तकालयों में बैठकर इस प्रबंध की सब सामग्री एकत्रित कर सका उन सबके प्रति मैं अपनी हार्दिक स्नेहभावना व्यक्त करता हूँ। उनके अपार स्नेह तथा सानिध्य के कारण ही मुझे यह शोध-कार्य करने में उत्साह तथा शक्ति प्राप्त हो सकी है। डा० रमेशप्रसाद मिश्र 'कुंन्तलमेघ' ने अपने अमूल्य समय द्वारा मेरी जो सहायता की है वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। इस प्रकार मैं अपने सब शुभ-चिन्तकों के प्रति अपना हार्दिक स्नेह-प्रकट करके यह कलाकृति सहृदय पाठकों के सामने उपस्थित कर रहा हूँ।

२२ जनवरी, १९५७ —बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे

लिंगराज कॉलेज, बेलगाँव

# अनुक्रम

# अध्याय १

# हिन्दी गद्य का विकास

आधुनिक हिन्दी गद्य-साहित्य का आरम्भ सन् १८०० ई० से माना जाता है। इसके पहले हिन्दी गद्य का जो रूप मिलता है वह साहित्य की दृष्टि से विशेष महत्व नहीं रखता। भारत में अंग्रेजों का राज्य स्थापित हो जाने से अंग्रेजी शिक्षा तथा सभ्यता का प्रचार हुआ और भारतीय समाज में एक नयी चेतना का आविर्भाव हुआ। अंग्रेजी सभ्यता और राज्य-प्रणाली के संपर्क में आने के कारण भारत में धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलन हुए और साथ ही वैज्ञानिक आविष्कारों, जैसे मुद्रण-यंत्र, परिवहन तथा यातायात के विविध साधनों की उपलब्धि हुई। इन आन्दोलनों तथा वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण साहित्य के निर्माण के लिए एक नवीन दिशा मिली और हिन्दी गद्य-साहित्य में अनेक प्रकार की रचनाएँ होने लगीं। आधुनिक हिन्दी गद्य-साहित्य में नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि जो साहित्यिक रूप मिलते हैं उनका आविर्भाव तत्कालीन विशेष परिस्थितियों के अनुसार ही हुआ। गद्य के इन साहित्य-रूपों के क्रमिक विकास के लिए जैसी-जैसी अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित होती गई हैं वैसे-वैसे उनका विकास एक विशेष ढंग से होता रहा है। भारत की सर्वांगीण उन्नति की दृष्टि से जितने प्रयत्न किए गए हैं उनका सारा इतिहास तत्कालीन साहित्य में मिलता है और परिस्थितियों के अनुसार साहित्य का हर एक रूप, विकास की एक नई दिशा लेकर आगे बढ़ता हुआ दिखाई देता है। हिन्दी गद्य-साहित्य के क्रमिक विकास का अध्ययन निम्नलिखित काल-विभागों को मानकर किया जा सकता है:—

## काल-विभाग

| | | |
|---|---|---|
| १—आदि-काल | ईसा की चौदहवीं शताब्दी से | सन् १८०० ई० तक |
| २—आरंभिक-काल | सन् १८०० ई० से | सन् १८७३ ई० तक |
| ३—प्रयोग-काल | सन् १८७३ ई० से | सन् १९०० ई० तक |
| ४—निर्माण-काल | सन् १९०० ई० से | सन् १९२० ई० तक |
| ५—विकास-काल | सन् १९२० ई० से | सन् १९३६ ई० तक |
| ६—[illegible]तार-काल | सन् १९३६ ई० से | सन् १९५० ई० तक |

आदि-काल (ईसा की चौदहवीं शताब्दी से सन् १८०० ई० तक)

हिन्दी गद्य-साहित्य के आदि-काल में हिन्दी गद्य के पुराने रूप मिलते हैं। यह युग प्रधान रूप से काव्य का था परन्तु गद्य के अन्तर्गत जो कुछ रचनाएँ मिलती हैं उनमें गद्य-साहित्य की परम्परा का ठीक संकेत नहीं मिलता। राजस्थान और दक्षिण भारत में हिन्दी गद्य का प्रारम्भिक रूप मिलता है। उत्तर भारत में हिन्दी गद्य की जो प्रारम्भिक रचनाएँ मिलती हैं वे अधिकतर ब्रजभाषा और खड़ी बोली में हैं। मैथिली साहित्य में भी गद्य की पर्याप्त रचनाएँ हुई हैं जिनमें अभी सभी प्रकाश में नहीं आयी हैं, किन्तु 'वर्णरत्नाकर' एक महत्वपूर्ण साथ ही अत्यन्त प्राचीन गद्य-रचना है। इस प्रकार गद्य को प्रारम्भिक अवस्था पर विचार करते समय मैथिली, राजस्थानी, ब्रजभाषा, दक्खिनी हिन्दी और खड़ी बोली के प्रारम्भिक गद्य-साहित्य पर विचार करना आवश्यक है।

**मैथिली गद्य**

मैथिली गद्य का आरम्भ ईसा की चौदहवीं शताब्दी से माना जा सकता है। मैथिली के प्राप्त ग्रंथों में ज्योतिरीश्वर ठाकुर का 'वर्णरत्नाकर' ग्रंथ सबसे पुराना माना जाता है। इसके रचना-काल के बारे में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। परन्तु इस ग्रंथ की हस्तलिखित प्रतिलिपि सन् १५०७ ई० की मिलती है। इस ग्रंथ में भाषा का रूप इस प्रकार मिलता है :—

**"अथ द्युतवर्णना ॥ नगरक दक्षिण-जूआ योगिनीक-आयतन-देवीकां। सन्निधान-उंच-चौरस-सुगन्ध वातायन-विचित्र-विपुलाकृति-शत हाथ भीतर दीर्घ-चउसठि हाथ फाण्ड-कांच पाटक निर्म्मओल-जोलजन्त्र कण्डारीक कण्डारल-विश्व [ ३७ ख ] कर्म्मओल-वणिकभूमि—अपूर्व्व चेण्टसार एक देषु"**[1]

**राजस्थानी गद्य**

राजस्थानी गद्य का आविर्भाव तेरहवीं शताब्दी से माना जाता है। उसकी प्रारंभिक अवस्था के बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि इसका आरम्भिक रूप दसवीं शताब्दी में ढूँढ़ा जा सकता है। राजस्थानी में जो कुछ प्राचीन गद्य मिलता है वह वार्ताओं, पट्टे-परवानों, जैन-ग्रंथों तथा इतिहास, राजनीति, ज्योतिष आदि विषयों के बारे में लिखी हुई रचनाओं में मिलता है। राजस्थानी गद्य के प्रारम्भिक विकास में जैन विद्वानों का भी हाथ है।

राजस्थानी-गद्य साहित्य को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य की अपेक्षा उसका गद्य-साहित्य पुराना तथा काफी समृद्ध है।

---

1. Varna—Ratnakar of Jyotirisvar Kavisekhara-charya, by Suniti Kumar Chatarji; Calcutta, 1940, Page 28.

राजस्थानी गद्य के प्रारम्भिक विकास में जैन विद्वानों का विशेष हाथ होने के कारण जैन धर्म संबंधी सिद्धान्तों का प्रभाव इस साहित्य पर पड़ा है। इस प्रकार राजस्थानी गद्य पर संस्कृत तथा अपभ्रंश साहित्य की परम्परा का प्रभाव दिखाई देना बिलकुल स्वाभाविक है।

हिन्दी साहित्य के वीर-गाथा-काल में राजस्थान भारत की संस्कृति और साहित्य का एक केन्द्र था। यह काल राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण था। इसलिए प्रसिद्ध राजघरानों के शिलालेख, दानपत्र, पट्टे-परवाने मिले हैं। कुछ विद्वानों ने इन पट्टों तथा परवानों की प्राचीनता में सन्देह किया है। अतः जब तक इनकी प्रामाणिकता के बारे में निश्चित मत नहीं हो जाता तब तक गद्य के विकास की दृष्टि से उनपर विचार नहीं किया जा सकता। वीर-गाथा-काल के उपरान्त राजस्थानी में गद्य की जो रचनाएँ मिलती हैं वे अधिकतर ख्यातों, बातों और वचनिकाओं के रूपों में मिली हैं। इन रचनाओं में राजस्थानी गद्य का प्रौढ़ रूप मिलता है। पंद्रहवीं शताब्दी के बाद ही राजस्थानी गद्य का नमूना इस प्रकार मिलता है—

**"धरती वीघा तीन सै सुर प्रब में उदक आघार श्री रामार अर्पण कर देवाणी सो अणी जमी रो हाँसल भोग डंड वराड़ लागत व-लगत कुड़ा नवाण रुख वरख आँबा महुड़ा मेर को खड़म सरब सुदी थारा बेटा पोता सपुत कपुत खायां जायेला।**

**—ताम्रपत्र। सं० १५३२।"[1]**

राजस्थानी भाषा के अन्तर्गत कई बोलियाँ हैं जिनमें मारवाड़ी, ढूंढाडी, मालवी और मेवाती मुख्य मानी जाती हैं। इन बोलियों का क्षेत्र भी हिन्दी के ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि बोलियों के समान कुछ सीमित-सा है।

**ब्रजभाषा गद्य**

अपभ्रंश भाषा की रचनाएँ विक्रम की दसवीं शताब्दी से चौदवीं शताब्दी तक मिलती हैं। इन रचनाओं में 'पुरानी हिन्दी' के बीज मिलते हैं। एक दृष्टि से देखा जाय तो पुरानी हिन्दी से ही हिन्दी की बोलियों का जन्म हुआ जिनमें ब्रजभाषा भी एक है।

ब्रजभाषा के साहित्यका निर्माण अधिकतर भक्तिकाल और रीतिकाल में हुआ है। पद्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा को भक्तिकाल में धर्माश्रय और रीतिकाल में राजाश्रय मिला। इसलिए भक्तिकाल में जितनी पद्यात्मक रचनाएँ उपलब्ध हैं वे धार्मिक रूप में मिलती हैं और रीतिकाल में साहित्यिक रूप में मिलती हैं। ब्रजभाषा गद्य की रचनाओं के बारे में यह परम्परा नहीं मिलती। ब्रजभाषा गद्य को राजाश्रय नहीं मिला। इसलिए ब्रजभाषा गद्य की परम्परा बीच में रुकी-सी मालूम पड़ती है। भक्तिकाल के ब्रजभाषा गद्य-साहित्य में वार्ताओं, पुराणों और अनूदित रचनाओं का

---

**१—पं० मोतीराम मेनारिया, 'राजस्थानी भाषा और गद्य', सं० २००८, पृ० ३९२**

प्राधान्य है और रीतिकाल में टीकाओं के रूप में साहित्यिक रचनाएँ तथा कुछ मौलिक कृतियाँ भी मिलती हैं।

ब्रजभाषा गद्य का प्राचीन रूप गोरखपंथी साधुओं की रचनाओं में मिलता है। हिन्दी पुस्तकों की खोज में 'गोरखसार' नाम का एक ग्रंथ मिला है। गोरखपंथ के प्रवर्तक महात्मा गोरखनाथजी इस कृति के रचयिता माने जाते हैं। लेकिन गोरखनाथ जी का समय और इस ग्रंथ के निर्माण-काल में ठीक मेल नहीं मिल पाता। इसलिए गोरखपंथ के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने वाला यह प्रथम ग्रंथ होने पर भी इसकी मौलिकता और रचयिता के बारे में सन्देह होता है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इसके बारे में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है।

**"ब्रज गद्य के सर्वप्रथम लेखक कहे जाने वाले गोरखनाथ (१३वीं शती) की कोई प्रामाणिक ब्रजभाषा रचना अभी तक नहीं मिली है। गोरखनाथ की प्राप्त रचनाएँ लगभग १३५० ई० की हैं किन्तु हस्तलिपियों का समय १७८८ और १८०२ ई० के मध्य का है।"[१]**

एक बात निश्चित रूप में कही जा सकती है कि इस रचना में ब्रजभाषा-गद्य का प्राचीन रूप मिलता है। यदि गोरखनाथ जी की यह रचना न हो तो भी उनकी शिष्य परम्परा की रचना अवश्य है। हो सकता है उनके किसी शिष्य ने उनके सिद्धान्तों को लिपिबद्ध किया हो। 'गोरखसार' की भाषा का नमूना इस प्रकार है:

**"सो वह पुरुष संपूरन तीर्थ स्नान करि चुकौ, अरु संपूरन पृथ्वी ब्राह्मननिकों दै चुकौ, अरु सहस्त्रजग्य करि चुकौ, अरु देवता सर्ब पुंजि चुकौ, अरु पितरनि कों संतुष्ट करि चुकौ, स्वर्ग लोक प्राप्त करि चुकौ, जा मनुष्य कौ मन छिन-मात्र ब्रह्म कों बिचरा बैठो।'....पराधीन उपरांति बंधन नांहीं सु आधीन उपरांति मुकति नांहीं, चाहि उपरांति पाप नांहीं, अचाहि उपरांइति पुनि नांहीं, क्रम उपरांति मल नांहीं, निहिक्रम उपरांइति निरमल नांहीं, बुध उपरांति कुबुद्धि नांहीं, निरदोष उपरांति सुबधि नांहीं, घोर उपरांईति मंत्र नांहीं, नारायण उपरीईति ईसर नांहीं, निरंजन उपरांईति ध्यान नांहीं।"[२]**

ब्रजभाषा गद्य का स्वरूप भक्ति काल में कुछ स्पष्ट-सा दिखाई देता है। भक्ति-काल में ब्रजभाषा गद्य-साहित्य की यह विशेषता है कि इसमें वार्ता-साहित्य की रचनाएँ बहुत मिलती हैं। इस काल में वल्लभ-संप्रदाय के रचनाकारों ने अपने संप्रदाय के वैष्णवों और महाप्रभुओं की वार्ता या जीवनचरित लिखने का प्रयत्न किया है। वार्ता-साहित्य की दृष्टि से 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता'

---

१—डा० धीरेन्द्र वर्मा, 'ब्रजभाषा', प्र० सं० १९५४, पृ० २०

२—पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ, 'गोरखसार' पृ० ४८०

अत्यन्त प्रसिद्ध है। इनके लेखक तथा निर्माणकाल का अभी तक ठीक निर्णय नहीं हुआ है लेकिन इन वार्ता-साहित्य के द्वारा सर्वप्रथम समीचीन गद्य का स्वरूप उपस्थित हुआ। इस वार्ता-साहित्य की परम्परा में 'द्वादसवार्ता' 'सूरदास की वार्ता' आदि रचनाएँ मिलती हैं। इस वार्ता-साहित्य पर टिप्पणियाँ भी मिलती हैं। इस प्रकार वल्लभाचार्य जी के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ कृत 'श्रृंगार रस मंडल' नाभादास कृत 'अष्टयाम' वैकुंठमणि शुक्ल का 'अगहन महात्म्य' तथा 'वैशाख महात्म्य' सूरति मिश्र की 'बैताल पचीसी' आदि रचनाओं की परम्परा सत्रहवीं शताब्दी तक दिखाई देती है।

१८वीं और १९वीं शताब्दी के मध्यकाल तक ब्रजभाषा गद्य की निम्नलिखित दो निश्चित परम्पराएँ मिलती हैं:—

१—अनूदित और मौलिक ग्रंथ।

२—टीका ग्रंथ।

अनूदित और मौलिक ग्रंथों की दृष्टि से दनकौर निवासी प्रियादास कृत 'सेवक-चरित्र' (१७७९), श्री हीरालालकृत 'आईने अकबरी की भाषा वचनिका' (१७९५), लल्लूजीलालकृत' 'राजनीति' (१८०२) और 'माधोविलास' (१८१७), माणिकलाल ओझाकृत 'सोमवंशन की वंशावली' रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'आनंद रघुनंदन' (सन् १८३० के आसपास) नाटक और भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्रकृत 'नहुप नाटक' (१८५९) आदि उल्लेखनीय हैं।

टीका-ग्रंथों में हरिचरणदासकृत 'बिहारी सतसई की टीका' (१७७८), जानकी प्रसादकृत 'रामचंद्रिका की टीका' (१८१५), प्रतापसाहीकृत 'रसराज की टीका' (१८३९), सरदार कविकृत 'रसिक प्रिया की टीका' (१८४८) आदि महत्व की रचनाएँ मिलती हैं। इस प्रकार काव्य-संग्रहों के बीच-बीच में टीका-गद्य या व्याख्या-गद्य का रूप श्री हरिनाथ गुजराती के 'संग्रह-कवित्त' (१७६४ ई०), रामसनेही संप्रदाय के संस्थापक स्वामी राम-चरणदास के 'अणभौविलास' (१८८८), रसिक गोविन्द के 'रसिक गोविन्दानन्दघन' (१८०१), प्रतापसाही के रीतिग्रंथ 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' (१८२५) आदि ग्रंथों में दिखाई पड़ता है।

इन अनूदित, टीकात्मक तथा मौलिक ग्रंथों को देखकर यह स्पष्ट होता है कि चौदहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम काल तक किसी न किसी रूप में ब्रजभाषा का गद्य था। लेकिन भाषा की दृष्टि से ब्रजभाषा-काव्य में प्रगति की जो परम्परा दिखाई पड़ती है वह ब्रजभाषा गद्य में नहीं दिखाई पड़ती। अधिकतर ग्रंथ टीकात्मक तथा अनूदित होने के कारण मौलिक भावों और विचारों को व्यक्त करने का मौका इनके रचयिताओं को नहीं मिला। भाषा को परिष्कृत या सुगंठित करने का प्रयत्न किसी भी गद्य-लेखक ने नहीं किया है।

उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रजभाषा गद्य की जो रचनाएँ मिलती हैं उनमें भाषा का अच्छा रूप दिखाई पड़ता है। भाषा की दृष्टि से प्रियादास कृत 'सेवक चरित्र' (१७७९), लल्लूलाल जी कृत 'राजनीति' (१८०९) और माधोविलास (१८१७), रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'आनंद रघुनंदन' (१८३० के आसपास) नाटक आदि महत्व के हैं। 'आनंद रघुनंदन' की भाषा का नमूना इस प्रकार मलता है—

**"प्रविश्य राक्षसी। महाराज मोकों ब्रह्मा कों बरदान रह्यो है जब लों कोई तेरो तिरस्कार न करैगो तौलों रक्षस पुरी को भय न होइगो सो काल्हि को रैनि में येक छोटौ सौ बानर आयो ताको मैं द्वार में रोंक्यो मो कों वा मुठिका मारचो मुरछित ह्वै गई जागि अस्तुति करि पूँछी तुम को हौ कहाँ त आये सो कह्यो हों हितकारी को दूत हौं महिजा की खबरि हेत आयो हों महिजा जहाँ रही सौ थल भय सों बताय दियो और तुम्सों कहों हितकारी परम पुरुष हैं जो जीवन चाहौ तो महिजा को लै शरण जाउ।"**[१]

ब्रजभाषा के सम्पूर्ण साहित्य पर विचार करने पर इस बात का पता लगता है कि उसकी क्रमिक या सशक्त परम्परा नहीं मिलती। हो सकता है कि ब्रजभापा की अनेक रचनाएँ प्रकाश में अभी तक न आई हों।

ब्रजभाषा के साहित्य में ब्रजभाषा-गद्य की अपेक्षा ब्रजभाषा-काव्य को ही अत्यन्त महत्व मिला है। इन चार-पाँच सौ वर्षों में ब्रजभाषा गद्य की जो पुस्तकें पायी हैं उनमें जीवन-चरित्र, कथा-साहित्य, नाटक आदि की दृष्टि से साहित्य की किसी विकसित परंपरा का दर्शन नहीं मिलता। ऐसा लगता है कि यह समय गद्य लिखने के लिए योग्य नहीं था।

ब्रजभाषा-गद्य की भाषा का परिष्कृत रूप 'वैष्णव वार्ताओं' में दिखाई पड़ा परन्तु उसकी परम्परा का दर्शन बाद में नहीं मिलता। विशेष महत्व की बात यह है कि जिस समय ब्रजभाषा की जगह खड़ी बोली का उपयोग होने लगा तब ब्रजभापा का झंडा लेकर, किसी ने ब्रजभाषा का प्रचार नहीं किया और उस समय ब्रजभाषा की दृष्टि से कोई आन्दोलन भी नहीं हुआ। ऐसा लगता है कि खड़ी बोली का सशक्त तथा परिष्कृत रूप विकसित होने के लिए विशेष प्रकार के वातावरण की आवश्यकता थी और ब्रजभाषा की अधोगति का यह समय खड़ी बोली के विकास के लिए अनुकूल बना। जिस समय खड़ी बोली व्यवहार की भाषा बनी उस समय गद्य का कोई स्वतंत्र विकास नहीं दिखाई पड़ता। खड़ी बोली के आविर्भाव के कारण गद्य में साहित्य का निर्माण हुआ और गद्य-साहित्य की परम्परा आगे बढ़ी। ब्रजभाषा गद्य की एक

---

**१—आनंद रघुनंदन नाम नाटकम्, बांधवेश विश्वनाथ सिंहकृत, संवत् १९२८, पृ० ८०।**

साहित्यिक तथा मौलिक रचना की दृष्टि से भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र कृत 'नहुप' नाटक (१८५९) अत्यन्त महत्व रखता है। इसके बाद ब्रजभाषा गद्य में कोई महत्व का ग्रंथ दिखाई नहीं पड़ता। इसमें गद्य का प्रयोग इस रूप में मिलता है—

**"सूत्र०—सब कोऊ मौन ह्वै हमारी बात सुनों। विविध बिबुध बृंदारक बृंद-बंदित, वृन्दाबन-बल्लभ, ब्रजबनिता बनजवनी दिभाकर, बंसीधर विधु-बदन-चकोर चारू चतुर चूरामनि चरचति चरन परमहंस प्रसंसित मायाबाद-विध्वंसकर श्रीमद् बल्लभाचार्य बंस अवंतंस श्री गिरिधर जी महाराजाधिराज नें मोकों आज्ञा दींनी हैं, सो में 'गिरिधरदास' कृत 'नहुष-नाटक' आरम्भ करों हों।"[1]**

**दक्खिनी हिन्दी**

जिस प्रकार राजस्थानी और ब्रजभाषा गद्य की परम्परा हिन्दी गद्य के विकास में सहयोग दे रही थी उसी प्रकार दक्षिण भारत के कुछ रचनाकारों ने हिन्दी गद्य के शैशवकाल में अपनी रचनाओं द्वारा हाथ बटाया। गुलबर्गा के ख्वाजा बन्देनवाज, गेसूदराज मुहम्मद हुसेनी (१३१८-१४२२) और मुल्ला वजहीं (लगभग १६०५ से १६६० तक) ने अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी गद्य को परिमार्जित तथा विकसित करने का प्रयत्न किया। दक्षिण भारत में जितनी रियासतें थीं उनके शासकों एवं दरबार के अन्य साहित्यकारों ने भी हिन्दी गद्य के निर्माण में अपना सहयोग दिया है।

दक्खिनी हिन्दी के पहले साहित्यिक ग्रंथकार बन्देनवाज उत्तर भारत के विट्ठलनाथ जैसे प्रारंभिक गद्य-लेखकों के पहले उत्पन्न हुए हैं और उन्होंने पहली बार अपना उपदेश हिन्दी में देना प्रारम्भ किया। उनकी अधिकतर रचनाएँ फारसी में मिलती हैं परन्तु 'तीन रिसाले', 'मीराजुल आशकीन', 'हिदायतनामा' और 'रिसाला सेह-वारा' दक्खिनी हिन्दी में हैं। उनकी 'मीराजुल आशकीन' नामक रचना में उनके धार्मिक उपदेश मिलते हैं। हो सकता है कि उनकी यह रचना उनके हाथ से नहीं लिखी होगी। शायद उनके शिष्यों ने उनके उपदेशों को लिपिबद्ध किया होगा। उनकी भाषा में उर्दू का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है और वाक्य-विन्यास में पर्याप्त स्वाभाविकता दिखाई पड़ती है। उनकी भाषा का नमूना इस प्रकार मिलता है :—

**"वजुदुल आरफीन है नाँव उसका, वो ही पावे नसीब है खूब जिसकी। ज कोई जो पीर कामिल सूं तो देखे अली उसके मना नई है भी किसका, ऐ आरफिहरएक इन्सान कूं—"वजूद हैं सोइ इसमें चार वजूद बन्द के हैं" एक समजना होर अमल**

---

१—सं० ब्रजरत्नदास 'नहुषनाटक', प्रथम संस्करण सन् १९५५ पृ० २१-२२।

**करना, तो अपने मतलब कूं अपड़ेगा, पस अम्मा उस पाँच वजूदाँ है, क्या बयान, अल्ला ताला कुरान में फरमाया है"......[१]**

**—बृन्दानवाज (तर्जुमा वजुदुल आरफीन)**

प्रायः दक्खिनी में जो साहित्य मिलता है, वह धर्म-प्रचार के लिए लिखी गई इस्लामी धर्मप्रचार संबंधी साहित्यिक रचनाएँ फारसी ग्रंथों के अनुवाद के रूप में मिलती हैं। लेकिन इस प्रकार के अनूदित ग्रंथ भाषा की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार फारसी के अन्य ग्रंथों के अनुवाद दक्षिणी हिन्दी में मिलते हैं।

धर्म-संबंधी ग्रंथों में तसव्वुफ संबंधी ग्रंथ बहुत मिलते हैं। इन ग्रंथों की यह एक विशेषता है कि इनमें कथा-कहानियों द्वारा उपदेश दिया गया है इसलिए साहित्यिक गुण मिलते हैं। इस प्रकार के साहित्यिक ढंग का प्रथम ग्रंथ 'सबरस' (१६३६) है।

'सबरस' के लेखक मौलाना वजही, सुल्तान अब्दुला कुतुबशाह के दरबारी कवि थे। उन्होंने कुतुबशाह की आज्ञा से इस पुस्तक की रचना की है। डा० अब्दुल हक़ ने यह ग्रंथ १९३२ में संपादित कर 'अंजुमन तरक्की उर्दू' हैदराबाद से प्रकाशित कराया है। इस ग्रंथ की भूमिका से यह स्पष्ट होता है कि मौलाना वजही इसके मूल ग्रंथकार नहीं हैं। फातही द्वारा लिखित 'दस्तुर उश्शाक' रचना के विषय को लेकर लिखा हुआ 'हुस्नो दिल' नाम का एक ग्रंथ मिलता है। इस ग्रंथ को आधार मानकर मौलाना वजही ने अपनी 'सबरस' की रचना हिन्दी में की।

साहित्यिक दृष्टि से 'सबरस' एक महत्वपूर्ण रचना है। इस ग्रंथ की यह एक विशेषता है कि इसकी कथा बड़ी श्रृंखलाबद्ध है। कथा में एक विशेष गति मिलती है लेकिन कथा का विस्तार बड़े संक्षिप्त ढंग में किया गया है। इसमें आत्मा, बुद्धि, मन आदि को पात्र बनाकर उनको बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। पृष्ठ पर पृष्ठ पढ़ने पर शैली में सुगमता तथा मनोरंजकता मिलती है। इस ग्रंथ में सामान्य पाठक का ध्यान रखकर ही लेखक ने भाषा की पांडित्यपूर्ण शैली को स्थान नहीं दिया है। उपदेश देने की दृष्टि से इस प्रकार की शैली अत्यन्त उपयोगी तथा सुगम है।

'सबरस' ग्रंथ को पढ़न से यह अनुमान किया जा सकता है कि इंशाअल्लाखाँ जैसे परवर्ती गद्य-लेखकों पर इसकी शैली का प्रभाव पड़ा होगा। हिन्दी गद्य के आदि गद्य-लेखकों की रचनाओं का अध्ययन 'वजही' की शैली के साथ किया जा सकता ह।

इस दृष्टि से दक्खिनी के गद्य-लेखकों की रचनाओं का अध्ययन महत्व का है। बन्देनवाज, वजही आदि दक्खिनी के लेखकों की गद्य शैली को बिना समझे हिन्दी गद्य के उद्भव पर ठीक ढंग से विचार नहीं किया जा सकता। वजही ने जिस शैली को

---

**१—श्रीराम शर्मा, 'दक्खिनी का पद्य और गद्य' पृ० ३९४।**

सामने रखकर अपने ग्रंथ का निर्माण किया है, इसकी कल्पना उनके 'सबरस' ग्रंथ के निम्नलिखित उद्धरण से की जा सकती है—

"एक शहर था, शहर का नाऊँ सीस्तान। इस सीस्तान के बादशाह का नाऊँ अक्ल। दीन व दुनिया का तमाम काम उससे चलना, उसके हुक्म बाज जर्रा कई नई हिलता। इसके फरमाये पर जिनो चले, हर दो जहान में वे भले। दुनिया में खूब कहवाये, चार लोगों में इज्जत पाये। जाँ रहे खड़े वाँ कबूल पड़े। ना आफत देखे न जलजला, अपै भले तो आलम भला। किसकूं बुरा बोलना यो विसवास है, भलाई-बुराई सब अपने पास है।"[1]

—वजही (१६३६)

—सबरस

वजही के बाद अब्दुस्समद (१६५१), आबिदशाह अल हसन उल हुसेनी (१६७०), शाह बुरहानुद्दीन क़ादरी (१६७३), मुहम्मद शरीफ (१७००), मुहम्मद वली उल्ला क़ादरी (१७८२) आदि गद्य-लेखकों की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार इन गद्यकारों की रचनाएँ अपना एक महत्व रखती हैं। जहाँ तक गद्य की शैली का प्रश्न है, दक्खिनी का गद्य हिन्दी गद्य के लिए एक प्रेरणा के रूप में है। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि हिन्दी का आरंभिक गद्य दक्खिनी में लिखा गया और उसके विकास की धारा उत्तर तक पहुँच सकी।

**उर्दू गद्य**

दक्खिनी हिन्दी के समान उर्दू गद्य का प्रभाव हिन्दी गद्य पर भी पड़ा है। वास्तव में उर्दू भाषा हिन्दी भाषा की एक शाखा मानी जाती है जो मुसलमानों के आगमन के समय से दिल्ली और मेरठ के आसपास मुख्यतया बोली जाती थी। उर्दू का प्रारम्भ कविता द्वारा हुआ और फारसी जाननेवालों के द्वारा उर्दू का संवर्धन हुआ। इसलिए यह कहा जा सकता है कि अरबी-फारसी के साहित्य का प्रभाव उर्दू द्वारा ही हिन्दी में आया। प्रारम्भ में जब उर्दू कविता की भाषा थी तब उर्दू गद्य फारसी में लिखा जाता था।

बहुत पहले से दक्षिण भारत में फारसी से अनूदित तथा मौलिक उर्दू-ग्रंथों की रचनाएँ मिलती हैं। उत्तर भारत में उर्दू गद्य का रूप अठारहवीं शताब्दी से स्पष्टता से दिखाई पड़ता है और फोर्ट विलियम कॉलेज द्वारा फारसी से अनेक उपयोगी ग्रंथ सरल उर्दू में अनूदित कराये गए। इन उर्दू के विद्वानों ने अनेक मौलिक पुस्तकें लिखीं और उर्दू-कोष और उर्दू व्याकरण लिखकर उर्दू के प्रचार में सहायता दी। उस समय 'बागोबहार', 'आराइशे महफिल', 'गुलशने हिन्द', आदि किताबें लोगों में बहुत प्रिय थीं

---

१—'श्रीराम शर्मा, 'दक्खिनी का पद्य और गद्य' पृ० ४०६-४०७।

और उर्दू गद्य की इस प्रकार की प्रारम्भिक रचनाओं द्वारा हिन्दी का प्रारम्भिक कथा-साहित्य प्रभावित रहा है।

**खड़ी बोली गद्य**

आजकल जिस भाषा में हिन्दी गद्य लिखा जा रहा है वह खड़ी बोली का ही गद्य है। खड़ी बोली के उद्‌गम के बारे में विद्वानों में कोई निश्चित मत नहीं मिलता। पंडित रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार खड़ी बोली गद्य का आरम्भ सोलहवीं शताब्दी से माना जाता है। अकबर के समय में गंग कवि ने "चन्दछंद बरनन की महिमा" नामक गद्य पुस्तक खड़ी बोली में लिखी थी।"[1] डा० तराचंद भी शुक्लजी के इस मत से सहमत हैं। किन्तु आधुनिक शोधों के अनुसार इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। इस ग्रंथ की भाषा का नमूना इस प्रकार मिलता है—

> **सिद्धि श्री १०८ श्री श्री पातसाहिजी श्री दलपतिजी अकबरसाहिजी आमखास में तखत ऊपर बिराजमान हो रहे। और आमखास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी अपनी मिसल से। जिनकी बैठक नहीं सो रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड़ पकड़ के खड़े ताजीम में रहे।**
>
> — — —
>
> **इतना सुन के पातसाहिजी श्री अकबरसाहिजी आद सेर सोना नरहर दास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बंचना पूरन भया। आमखास बरखास हुआ।**

"चंद-छंद बरनन की महिमा' के समान खड़ी बोली का कोई अन्य ग्रंथ सत्रहवीं शताब्दी में नहीं मिलता। परन्तु डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सन् १७४० ई० तक खड़ी बोली गद्य के अस्तित्व पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। उनको शान्ति-निकेतन के विद्याभवन में हिन्दी से संबंधित दो किताबें मिलीं। ये दोनों पुस्तकें महा-महोपाध्याय वररुचि की लिखी हुई पत्रकौमुदी हैं। दोनों बंगला लिपि में लिखी हैं। इनमें एक पुस्तक तो अपूर्ण है और दूसरी पूर्ण। दोनों का रचनाकाल शायद आसपास का ही है। डा० द्विवेदी ने २०० वर्ष पुरानी खड़ी बोली के पत्रों के नमूने नामक लेख में नमूने के लिये पत्रों के पाँच नमूने भी दिये हैं। उस लेख से एक पत्र नीचे उद्धृत है—

---

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' छठां संस्करण, सं० २००७, पृ० ४०९।

२—पं० रामचन्द्र शुक्ल; 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' छठां संस्करण, सं० २००७, पृ० ४१०।

"(५) स्वस्ति श्री सर्वोपमा योग्य फलाने को राम राम। आग हम तुम्हारी भल-मानुष्य इष्किताबी फहव्वज सों हे तिस्वास्ते हम चता हे हैं यो तुम सों हर एक बाब का अखनास वारा इस वास्ते हम अपना फलाना आदमी किताब लेकर तमारे फलाना-नेकभ के वास्ते भेजा हैं तिसका जबाब जैसा तुम जानों तेंसा लिख भेदीयो आगे भी तुमारी अखनानास कोह एक दिन चला जाय तेसा करिना। तुमारा काम को हँम लायक होय तो लिख भजना। बाहेत क्या लिखना"[1]

इन पत्रों की भाषा देखकर इस बात का पता चलता है कि उन दिनों राजकीय पत्र व्यवहार में मुसलमानी प्रशासकीय शब्द प्रयुक्त होने लगे थे। इन पत्रों के आधार पर डा० द्विवेदी ने निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं।

"(१) हिन्दी उन दिनों राजकीय और अन्तरप्रान्तीय व्यवहार की भाषा थी। उसमें पत्र लिखने का ढंग सिखाया जाता था।

(२) 'हिन्दुस्थानी' नाम अंग्रेजों का दिया हुआ नहीं है और न उससे उर्दू। अर्थात् अरबी और फारसी से प्रभावित। भाषा का बोध होता है।

(३) उन दिनों विशुद्ध संस्कृत शैली में लिखे हुए पत्रों में अरबी और फारसी के व्यावहारिक शब्द निःसंकोच ग्रहण किए जाते थे।

(४) यह कहना कि खड़ी बोली में गद्य लिखने का आरम्भ लल्लूलाल जी आदि ने अंगरेजों की प्रेरणा से किया था, एकदम गलत है। बहुत पहले से खड़ी बोली में आज की हिन्दी के समान गद्य लिखा जाता था। वह व्यवहार की भाषा थी और विशुद्ध संस्कृत शैली में उसमें पत्र लिखे जाते थे।"[2]

डा० द्विवेदी की उद्धृत बातों से स्पष्ट पता लगता है कि मुसलमानों के राज्य-काल में खड़ी बोली का उपयोग किया जाता था। उस समय खड़ी बोली शिष्ट समाज की भाषा थी और उसका उपयोग साधारण व्यवहार के लिए होता था। इसलिए चिट्ठी-पत्री लिखने में उसका दर्शन होना स्वाभाविक है। परन्तु इस समय एक साहित्यिक भाषा के रूप में उसे स्वीकृत नहीं किया गया था। शिष्ट समाज में इस भाषा का उपयोग होने के कारण उसे धीरे-धीरे महत्व मिलने लगा और कुछ पुस्तकें भी इस भाषा में लिखी गयीं।

अठारहवीं शताब्दी के मध्यकाल में दो ऐसी गद्य-रचनाएँ मिली हैं कि जिनकी भाषा के आधार पर हम खड़ी बोली गद्य के विकास-क्रम पर प्रकाश डाल सकते हैं। इनमें पहला ग्रंथ पटियाला के रामप्रसाद "निरंजनी" कृत "योग-वाशिष्ठ" अत्यन्त महत्व-पूर्ण ग्रंथ है। अठाहरवीं शताब्दी में भाषा की दृष्टि से यह ग्रंथ अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

---

१—विशालभारत, अप्रैल, १९४०, पृ० ३७०।

२—विशाल भारत, अप्रैल, १९४०, पृ० ३६७।

इस ग्रंथ में भाषा बिलकुल ही साफ सुथरी खड़ी बोली है और इस प्रकार की शृंखलाबद्ध, साधु तथा व्यवस्थित भाषा अठाहरवीं शताब्दी के मध्यकाल तक किसी दूसरे उपलब्ध ग्रंथ में नहीं मिलती। हिन्दी गद्य के इस परिमार्जित तथा परिकृष्त रूप को देखकर तत्कालीन प्रौढ़ गद्य लेखकों में इस ग्रंथ के रचयिता को प्रथम स्थान दिया जा सकता है। 'योगवाशिष्ठ' में गद्य का नमूना इस प्रकार मिलता है—

**"हे मुनीश्वर! यह मैंने विचार कर देखा है, इसमें सुख कछू नहीं अरु संतोष-रूपी मेघ का नाश करनहारा यह शरत्काल है अरु इस मनुष्य में शुभ गुण तब लग दृष्टि आवै, जबलग लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं भई। जब लक्ष्मी की प्राप्ति भई, तब गुण नाश पाते हैं।"[1]**

दूसरा अनूदित ग्रंथ पं० दौलतरामकृत जैन 'पद्मपुराण' का भाषानुवाद है। इस ग्रंथ में 'योगवाशिष्ठ' की भाषा के समान शक्ति नहीं है। इस ग्रंथ का रचनाकाल सन् १७६१ ई० है परन्तु गद्य के विकास की दृष्टि से 'योगवाशिष्ठ' के अनुसार इसमें परिमार्जित गद्य की परम्परा नहीं मिलती। 'पद्मपुराण' की भाषा का नमूना इस प्रकार मिलता है—

**"यह सुन सुकला की सखियाँ उससे बोलीं कि हे महाभाग्यवाली जिसके वसुदेवा व सुदेवा दो नाम हैं उसमें कौन से आचार देखे थे हमसे विस्तार से कहो क्योंकि तुमने अभी कहा है कि इस विषय में सुदेवा का चरित्त कहनी है।"[2]**

खड़ी बोली के तत्कालीन गद्य-साहित्य के विकास में मुसलमानों का योग अवश्य लक्षित होता है परन्तु 'योगवाशिष्ठ' तथा 'पद्मपुराण' की भाषा को देखकर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इनकी भाषाशैली और भावानुभूति पर मुसलमानों का कोई प्रभाव नहीं है। 'योगवाशिष्ठ' में जिस भाषाशैली का आदर्श मिलता है उसकी परंपरा को विकसित करने का कार्य मुंशी सदासुखलाल (१७४६-१८२४) ने किया। उनकी भाषाशैली अवश्य ही योगवाशिष्ठ से प्रभावित दिखाई पड़ती है।

मुंशी सदासुखलाल को आधुनिक गद्य का प्रणेता माना जा सकता है। उनका 'सुरासुर निर्णय' लेख हिन्दी का प्रथम निबन्ध माना जा सकता है। यह निबंध लाला भगवानदीन तथा रामदास गौड़ द्वारा संपादित 'हिन्दी भाषासार' में है। इसमें इस निबंध का रचनाकाल नहीं दिया है परन्तु इस संग्रह के प्रथम संस्करण पर जो वक्तव्य मिलता है उसके अनुसार इसका रचनाकाल सन् १७८२-८३ के आसपास माना गया है। 'सुरासुर निर्णय' में भाषा का नमूना इस प्रकार मिलता है—

**"धन्य कहिये राजा दधीचि को कि नारायण की आज्ञा अपने सीस पर चढ़ायी,**

---

**१—अथ 'योगवाशिष्ठे वैराग्य और मुमुक्षु प्रकरणम्, सं० १९०४, पृ० ५३,**

**२—'पद्मपुराण', भाषा भुमिखंड, द्वितीय संस्करण सं० १८६१, पृ० ४१।**

**अपने हाड़, ऐसे कामी कुटिल अहंकारी को दिये कि उसने उन हाड़ों का बज्र बनाय कर वृत्रासुर-से ज्ञानी से युद्ध किया और उसे मारा। जो महाराज की आज्ञा और दधीचि के हाड़ का बज्र न होता तो ग्यारह जनम ताई (तक) वृत्रासुर से युद्ध में सरवर और प्रबल न होता और जय न पावता।"[1]**

मुंशी सदासुखलाल अरबी और फारसी के विद्वान् होते हुए भी उनकी प्रारंभिक रचनाओं में विदेशी शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता।

यह निश्चित है कि इस निबंध का रचनाकाल 'भाषा योगवाशिष्ठ' तथा जैन 'पद्मपुराण' के बाद का मिलता है। इसी प्रकार अठाहरवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की यह रचना है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी के जो चार मुख्य गद्य-लेखक मिलते हैं उनमें सदासुखलाल, जन्मकाल तथा रचनाओं के निर्माण-काल की दृष्टि से प्रथम लेखक हैं। इस प्रकार मुंशी सदासुखलाल ने अठाहरवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के गद्य को परम्परा की शृंखला जोड़ने का कार्य अपनी रचनाओं द्वारा किया।

मुं० सदासुखलाल के बाद रामचरनदास नामक गद्य लेखक का नाम मिलता है। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हिन्दी ग्रंथों की जो खोज हुई, उसके द्वितीय विभाग में रामचरन नामक एक गद्य लेखक का नाम मिला है। उसका रचनाकाल सन १७८७ है। उसकी भाषा में स्वतंत्र शैली का रूप मिलता है। उनकी भाषा का नमूना इस रूप में मिला है—

**"मुनि राम नाम कैसो है, 'हेतु कृशानु भानु हिमकर को' जहाँ एक शब्द में दुइ दुइ अर्थं होइँ तीन चार पाँच छै सात इत्यादिक अर्थ होइँ आशय लिहे एक शब्द में ताको श्लेषालंकार कही पुनि ध्वन्यात्मक काव्य कही यह चौपाई में अनेक हेतु अनेक अनेक ध्वनि अनेक आशय है। निज मति अनुसार एक दुइ में भी कहता हों। हेतु कहे प्रिय पुनि हेतु कहे कारण पुनि हिमकर कहे, जो हिम सो चन्द्रमा अरु हिम ऋतु अगहन पूस इनको हिमकर कही।"[2]**

'सुरासुर निर्णय' तथा चरनदास की रचनाओं के बाद उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक कोई विशेष साहित्यिक रचना नहीं मिलती। अठाहरवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में ईसाई साहित्य का प्रारम्भ माना जा सकता है।

बहुत काल पहले से ही ईसाई धर्म-प्रचारक अपने धर्म का प्रचार करने की दृष्टि से भारत में आने लगे थे। उनमें अधिकतर पोर्तुगीज ही थे। अठाहरवीं शताब्दी तक इनमें से किसी ने भी अपने धर्मप्रचार के लिये बाइबिल का अनुवाद किसी देशभाषा में

---

१—'हिन्दी भाषासार' सुरासुर निर्णय, सं० स्वर्गीय लाला भगवानदीन, तथा स्व० रामदास गौड़ (दसवाँ संस्करण), सं० २०११, पृ० ५।

२—'राजा राममोहनराय की हिन्दी'-विशालभारत, दिसं० १९३३, पृ० ३७१।

नहीं किया था। पहले उन्हें अपना धर्म प्रचार करने के लिए विशेष सुविधाएँ नहीं मिलती थीं परन्तु कम्पनी-राज्य के शासनकाल में ईसाई धर्म का प्रचार करने की दृष्टि से अनेक सुविधाएँ उन्हें मिलीं।

मुद्रण-कला के प्रचार के कारण देशी भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद हुआ और देशी भाषाओं में भाषा का एक विशिष्ट रूप लोगों के सामने रखा गया। इन धर्म-प्रचारकों को अपने धर्म का प्रचार जनता में करना था इसलिए उन्हें जनता की भाषा से परिचित होने की आवश्यकता थी। किसी भी प्रकार अपने धर्म का प्रचार उन्हें करना था इसलिए बाइबिल का अनुवाद करते समय भाषा और लिपि के बारे में किसी विशेष नीति का अनुसरण उनसे नहीं किया गया।

मुसलमानों में किसी दूसरे धर्म का प्रचार करना अत्यन्त कठिन था इसलिए इन ईसाई धर्मप्रचारकों ने हिन्दुओं में ही अपने धर्म का प्रचार करने का प्रयत्न किया। उनके धर्म प्रचार का संबंध साधारण जनता से था इसलिए जनता की भाषा सीखना उनके लिए अनिवार्य हुआ। इन धर्मप्रचारकों ने जनता की भाषा में उपदेश देना आरम्भ किया और खड़ी बोली में अपने धर्म संबंधी साहित्य प्रकाशित करने लगे। बाइबिल के अनुवाद के अतिरिक्त और छोटी छोटी धार्मिक किताबें इन धर्मप्रचारकों के द्वारा लिखी गयीं।

ये धर्म-प्रचारक जब अपने धर्म का प्रचार करते थे तब खड़ी बोली का उच्चारण या वाक्यरचना ठीक-ठीक नहीं कर पाते। उनके सामने भाषा का कोई प्रामाणिक या प्रौढ़ रूप नहीं था। भाषा की साहित्यिक शैली या भाषा सौन्दर्य पर ध्यान देने की उन्हें आवश्यकता नहीं थी। साधारण जनता की बोलचाल की भाषा उनके काम की थी। अत: उनके सामने जनता की भाषा का आदर्श था।

इन धर्मप्रचारकों ने अपने धर्म का प्रचार करने की दृष्टि से जो कुछ धार्मिक साहित्य प्रकाशित किया उनके द्वारा उनके धर्म का प्रचार हो सका। परन्तु उनकी भाषा द्वारा हिन्दी गद्य की किसी परिमार्जित शैली का निर्माण नहीं हो सका। उन्हें जनता में अपने विचारों का प्रचार करना था और अधिकतर जनता अपढ़ थी। इसलिए उनके उपदेशों में ग्रामीण शब्दों का प्रयोग मिलता है। लेकिन इन ईसाई धर्म प्रचारकों ने अपने धर्म का प्रचार करने की दृष्टि से हिन्दी भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के लिए जो प्रयत्न और परिश्रम किए हैं वे हिन्दी गद्य के विकास में एक प्रेरणा के रूप में धार्मिक घटना है।

ईसाई धर्म के प्रचार की दृष्टि से श्रीरामपुर के मिशनरियों का कार्य प्रशंसनीय है। विलियम कैरे का भारत में आगमन ईसाई धर्म-प्रचार का नया अध्याय खोलता है। उन्होंने कलकत्ता से पंद्रह मील श्रीरामपुर को अपने धर्म-प्रचार का केन्द्र बनाकर ईसाई धर्म के प्रचार की दृष्टि से धर्म, साहित्य, शिक्षा आदि क्षेत्रों में जो कार्य किया वह हिन्दी गद्य के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्व का है।

एक ओर ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए धार्मिक पुस्तकों की आवश्यकता निर्माण हो रही थी तो दूसरी ओर जनता से घनिष्ठ संबंध स्थापित करने के लिए कम्पनी सरकार के नौकरों को जनता की भाषा से परिचित होना अनिवार्य हो गया था। इस प्रकार हिन्दी गद्य के विकास के लिए योग्य वातावरण तैयार होने की परिस्थितियाँ निर्माण होने लगीं।

सन् १८०० ई० तक के साहित्य को देखकर यह कहा जा सकता है कि विशुद्ध खड़ी बोली के प्रमुख लेखक मुंशी सदासुखलाल हैं। उनकी भाषा शैली में रामप्रसाद, निरंजनी, दौलतराम, सीतलदास आदि गद्य-लेखकों की भाषा शैली का आदर्श मिलता है। उनके 'सुरासुर निर्णय' नामक निबंध के कारण उन्हें हिन्दी के प्रथम निबंधकार होने का सम्मान दिया जा सकता है। उनके साहित्य के बारे में अभी तक ठीक अनुसंधान नहीं हुआ है परन्तु आधुनिक गद्य की पूर्वपीठिका तैयार होने की दृष्टि से उनकी रचनाएँ महत्व की हैं। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक जो कुछ साहित्य मिलता है वह प्रायः उपयोगी साहित्य की कोटि में आता है, उसमें जगजीवन का लालित्य या व्यावहारिक जग का सौन्दर्य नहीं मिलता। इस दृष्टि से यह काल विभाग हिन्दी गद्य का अंधकार युग है जिसमें लेखक तथा उनकी कृतियों का कालनिर्णय ठीक विश्वास के साथ नहीं बताया जाता। इसलिए इस काल विभाग को हिन्दी गद्य का आदि युग माना गया है।

## आरंभिक काल (सन् १८०० से सन् १८७३ ई० तक)

हिन्दी गद्य की दृष्टि से ही नहीं भारत की राजनीतिक दृष्टि से भी उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ अत्यन्त महत्व का है। इस काल में अंग्रेजी प्रभुता की स्थापना सर्वत्र हो रही थी और धीरे-धीरे भारतीय राज्य पतन की सीढ़ी पर जा चुके थे। सन् १७९८ में लार्ड वेलेजली भारतवर्ष का गवर्नर जनरल होकर आया। वह पक्का साम्राज्यवादी था और भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का विस्तार करने का कार्य आरम्भ उसने ही किया।

जैसे-जैसे अंग्रेजों का भारत में राज्य विस्तार होने लगा वैसे-वैसे उनकी शासन-व्यवस्था का भार भी बढ़ने लगा और शासन संबंधी अनेक आवश्यकताएँ कम्पनी सरकार के सामने उपस्थित हुईं। भारत में सुशासन के द्वारा शान्ति स्थापित करने की नीति कम्पनी सरकार द्वारा अपनायी गयी और शासन-व्यवस्था के लिए सरकारी नौकरों की संख्या बढ़ने लगी। सुशासन की दृष्टि से कम्पनी सरकार को भारतीय जनता की कठिनाइयों की ओर ध्यान देना आवश्यक हुआ। अतः कम्पनी सरकार के नौकरों तथा जनता में घनिष्ठ संबंध स्थापित होने की आवश्यकता जान पड़ी।

शासकों और शासितों में विचारों के आदान-प्रदान की दृष्टि से शासकों को जनता की भाषा से परिचित होना आवश्यक है। अस्तु। कम्पनी सरकार के नौकरों को

जनता की भाषा का ज्ञान आवश्यक जान उन्हें विविध भाषाओं से परिचित कराने के लिये लार्ड वेलेजली ने कलकत्ता में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की और उसमें भारत की आधुनिक भाषाओं को पढ़ाने की व्यवस्था हुई।

हिन्दी गद्य के विकास की दृष्टि से फोर्ट विलियम कालेज का कार्य अत्यन्त महत्व का है। वास्तविक रूप में इस कालेज की स्थापना कम्पनी सरकार की राजनीतिक तथा शासन संबंधी सुधारों को सामने रखकर ही लार्ड वेलेजली ने की थी। इस कालेज में कम्पनी सरकार के सिविल कर्मचारियों को अरबी, फारसी, संस्कृत, हिन्दुस्तानी, बंगला, मराठी, तामिल आदि भाषाओं की शिक्षा दी जाती थी। हरएक भाषा की शिक्षा देने के लिए भाषाविज्ञों की नियुक्तियाँ हुई थीं। डा० जान बौर्थविक गिलक्रिस्ट को हिन्दुस्तानी भाषा का अध्यापक बनाया गया।

फोर्ट विलियम कालेज में भाषाओं के साथ-साथ विविध विषयों की शिक्षा भी दी जाती थी। हिन्दू कानून, नीतिविज्ञान, न्याय, अर्थशास्त्र, भूगोल, प्रकृति विज्ञान आदि विषयों की उचित शिक्षा दी जाती थी। विविध भाषाओं की शिक्षा देने के लिए तथा साथ ही विविध विषयों का ज्ञान कराने के लिए ग्रंथों के प्रकाशन की आवश्यकता हुई। इसलिए संस्कृत, अरबी, फारसी आदि भाषाओं के ग्रंथों से चुने हुए ग्रंथों का अनुवाद करके उनको प्रकाशित करने का कार्य भी फोर्ट विलियम कालेज द्वारा हुआ।

फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना और हिन्दी तथा उर्दू गद्य के प्रसार का सारा श्रेय डा० गिलक्रिस्ट को दिया जाता है। फोर्ट विलियम कालेज की भाषा-नीति और कम्पनी सरकार की भाषा-नीति में एकता थी। डा० गिलक्रिस्ट कालेज की भाषा-नीति के सूत्रधार थे और अपनी विशेष भाषा नीति को लेकर काम करते थे।

डा० गिलक्रिस्ट ने खड़ी बोली की तीन शैलियाँ मानी थीं—१–फारसी शैली, २–हिन्दुस्तानी शैली और ३–हिन्दवी शैली। परन्तु अरबी-फारसी मिश्रित 'हिन्दुस्तानी शैली' उन्हें प्रिय थी। हिन्दवी शैली को वे गँवारी समझते थे फिर भी वे उसकी अवहेलना नहीं कर सके। इसलिए उन्हें लल्लूलाल की स्थायी नियुक्ति करानी पड़ी।

फोर्ट विलियम कालेज में लल्लूलाल के साथ पं० सदल मिश्र भी काम करते थे। एक दृष्टि से देखा जाय तो इन दोनों का कार्य कुछ अलग-अलग ही था। लल्लूलाल एक अनुवादक के रूप में सर्टिफिकेट मुंशी थे और सदल मिश्र कालेज के अध्यापक-मंडल में थे। खड़ी बोली के विकास की दृष्टि से फोर्ट विलियम कालेज के जिन पंडितों ने सर्वाधिक योग दिया है उनमें लल्लूलाल और सदल मिश्र का कार्य उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त गंगाप्रसाद शुक्ल, इन्द्रेश्वर, नरसिंह, खालीराम, ब्रह्मसच्चिदानन्द, मधुसूदन तर्कालंकार, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दीनबंधु आदि कालेज के विद्वानों ने भी खड़ी बोली गद्य के विकास में सहयोग दिया है।

फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों ने एक शासक के रूप में हिन्दी के विकास पर दबाव डाला। इसलिए फोर्ट विलियम कालेज के द्वारा जो कुछ खड़ी बोली की पुस्तकें प्रकाशित हुईं या हिन्दी का जो कुछ प्रचार हुआ उसमें कम्पनी सरकार की भाषानीति कार्य करती रही। जनता से सम्पर्क रखने की दृष्टि से सरकार के कर्मचारियों ने एक माध्यम के रूप में हिन्दी भाषा का उपयोग किया। इसलिए हिन्दी को साहित्यिक रूप देने का कार्य उनसे नहीं हुआ। अर्थात् हिन्दी गद्य के विकास की दृष्टि से फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हिन्दी के महत्व को बतलाती है परन्तु हिन्दी के विकास में योग या प्रेरणा देने का कार्य कालेज के अधिकारियों द्वारा कभी नहीं हुआ। फोर्ट विलियम कालेज की हिन्दी का नमूना इस प्रकार था—

**"हरी ऐक मोकदीमा में जो हुकूम नाम्मा के फरीआदी वो आसामी ईआ उन सभों के गवाह लोग ई आ डोकरी के जारी करने ई आ सदर दीवानी अदालत और के दरपेसो काम्म के बाबत में कुछ हुकुम्म जारी करने के वास्ते मोफसील कोट अपील के साहेब लोग के नाम्म पर सदर दोवानी अदालत से जारी होए।"**[1]

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी गद्य की विकसित परम्परा को आगे बढ़ाने का कार्य इंशाअल्लाखाँ, (१७६४-१८१७) लल्लूलाल (१७६१-१८२४) और सदल मिश्र (१७६८-१८४८) द्वारा हुआ। आधुनिक गद्य को साहित्यिक रूप देने का अर्थात् गद्य के लिए खड़ी बोली का उपयोग करने का श्रेय इन तीन महानुभावों को दिया जा सकता है।

हिन्दी गद्य साहित्य के विकास की परम्परा में मुंशी सदासुखलाल के बाद लखनऊ के इंशाअल्लाखाँ का नाम आता है। सदासुखलाल ने हिन्दी गद्य की परम्परा में भाषा का एक आदर्श उपस्थित कर हिन्दी में निबंध का रूप उपस्थित किया। इंशाअल्लाखाँ ने अपनी "रानी केतकी की कहानी" द्वारा हिन्दी कथा-साहित्य की नींव डाली।

इंशाअल्लाखाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' (१८००-१८०८) की रचना भाषा का एक विशेष रूप लोगों के सामने उपस्थित करने की दृष्टि से की है। इस कहानी द्वारा वे गद्य के एक विशिष्ट आदर्श रूप की स्थापना करना चाहते थे। उन्होंने इसके लिखने का उद्देश्य कहानी के आरम्भ में ही स्पष्ट किया है—

**"एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिये कि जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले....। बाहर की बोली और गंवारी कुछ उसके बीच में न हो। हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन**

---

१—पं० चंद्रबली पाण्डेय : 'हिन्दी गद्य का निर्माण', सं० २००५, पृ० ४०।

**भी न हो। बस जैसे भले लोग अच्छों से अच्छे आपस में बोलते चालते हैं, ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न हो....।"[१]**

इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि इंशाअल्लाखाँ ने अपनी इस मौलिक साहित्यिक रचना का निर्माण अपनी दृष्टि से भाषा का एक आदर्शरूप उपस्थित करने के लिए किया है। हिन्दवीपन से उनका मतलब था भाषा में हिन्दी के शब्दों का प्रयोग हो जिसमें अरबी, फारसी आदि भाषाओं की मिलावट न हो। 'भाखापन' से उनका मतलब है कि ब्रजभाषा, अवधी आदि प्रान्तीय बोलियों के व्याकरण का अनुकरण न हो। ऐसा लगता है कि उस समय के गद्य पर ब्रजभाषा का अधिक प्रभाव था। मुसलमान लोग भी संस्कृत-मिश्रित हिन्दी को 'भाखा' कहते थे। इसलिए उन्होंने हिन्दी को संस्कृत शब्दों से दूर रखकर केवल शुद्ध हिन्दी का प्रयोग किया। इतनी प्रतिज्ञा करने पर भी उनकी भाषा में विदेशी शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है, लेकिन 'भाखापन' और 'गँवारीपन' उनकी भाषा में नहीं मिलता। इंशा ने अपनी इस रचना द्वारा हिन्दी का ठोस रूप सामने रखने का प्रयत्न किया और साथ ही खड़ीबोली में लौकिक शृंगार का कथात्मक गद्य-रूप भी लोगों के सामने रखा। कुछ भी हो इंशा की यह मौलिक रचना हिन्दी और उर्दू दोनों भाषा के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण कृति है। इसकी भाषा का नमूना इस प्रकार है—

**"दस पंद्रह दिन पीछे एक दिन रानी केतकी बिन कहे मदनबान के वह भभूत आँखों में लगा के घर से बाहर निकल गई। कुछ कहने में आता नहीं, जो माँ-बाप पर हुई। सबने यह बात ठहराई, गुरूजी ने कुछ समझकर रानी केतकी को अपने पास बुला लिया होगा। महाराज जगतपरकास और महारानी कामलता राजपाट उस वियोग में छोड़ छाड़ के एक पहाड़ की चोटी पर जा बैठे और किसी को अपने लोगों में से राज थामने को छोड़ गए।"[२]**

मुंशी सदासुखलाल और इंशाअल्लाखाँ की रचनाओं पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले ने कथा का विस्तृत रूप अपनी रचना के लिए पसन्द किया और दूसरे ने कहानी का रूप लिया। पहले की भाषा में भाखापन मिलता है और शैली में एक प्रकार की गति मिलती है तो दूसरे ने अपनी भाषा को 'भाखा' तथा 'गँवारीपन' से दूर रखा है। इंशा की भाषा में उछलती-कूदती धारा की सजीवता मिलती है। अभी तक गद्य में भाषा का इतना सहज तथा मनोरंजक रूप नहीं मिला था। भाषा का लालित्य, सहज भावना का सुन्दर विश्लेषण और जन भावना का स्वादिष्ट रूप इंशा की भाषा में मिलता है।

---

१—सं० श्यामसुन्दरदास: 'रानी केतकी की कहानी', तृ० आ० सं०, १९४५, पृष्ठ २।
२—सं० श्यामसुन्दरदास: 'रानी केतकी की कहानी', तृ० आ० सं०, १९४५, पृ० २२।

ब्रजभाषा गद्य और खड़ी बोली गद्य की दृष्टि से लल्लूलाल जी की रचनाओं का महत्व है। डा० गिलक्रिस्ट साहब हिन्दवी से परिचित नहीं थे इसलिए उन्होंने भाषा पंडित के रूप में लल्लूलाल जी की नियुक्ति फोर्ट विलियम कालेज में करायी। डा० गिलक्रिस्ट के आदेशानुसार लल्लूलाल ने कम्पनी सरकार के साहबों को हिन्दवी की शिक्षा देने के लिए एक पाठ्य-पुस्तक के रूप में 'प्रेमसागर' की रचना की। यह ग्रंथ अनूदित है और इसके द्वारा लल्लूलाल जी ने भाषा का जो रूप स्थापित किया वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आगरा के निवासी होने के कारण लल्लूलाल की भाषा में कहीं-कहीं ब्रजभाषा के प्रयोगों का दर्शन होना स्वाभाविक है। हिन्दी गद्य के विकास में प्रेम-सागर' की भाषा ऐतिहासिक महत्व रखती है। 'प्रेमसागर' में भाषा का नमूना इस प्रकार मिलता है—

**"इस बीच पुर नाम उनका छोटा बेटा सम्मुख आ हाथ जोड़ बोला, पिता! अपनी वृद्ध अवस्था मुझे दो, औ मेरी तरुणाई तुम लो यह देह किसी काम की नहीं, जो आपके काम आवै तो इससे उत्तम क्या है, जब पुर ने यों कहा, तब राजा ययाति प्रसन्न हो, अपनी वृद्ध अवस्था दे उसकी युवा अवस्था ले बोले, कि तेरे कुल में राजगादी, रहेगी, इससे नानाजी! हम यदुवंशी हैं, हमें राज करना उचित नहीं।"[1]**

मौलिकता की दृष्टि से देखा जाय तो लल्लूलाल जी की कोई विशेष महत्व की रचना नहीं मिलती। उन्होंने ब्रजभाषा का प्रथम व्याकरण लिखा और 'सिंहासन बत्तीसी' (१८०१), 'बैतालपच्चीसी' (१८०१), 'शकुन्तला नाटक' (१८०१), आदि ब्रजभाषा की कृतियों का अनुवाद खड़ी बोली में किया। उनकी रचनाओं के कारण ब्रजभाषा की अनेक कृतियों का परिचय सर्वसाधारण को प्राप्त हुआ।

लल्लू जी के समान सदल मिश्र ने भी अपनी रचनाओं के द्वारा खड़ी बोली को व्यावहारोपयोगी भाषा का रूप देने का कार्य किया। इनकी रचनाओं में ब्रजभाषा का प्रभाव नहीं मिलता। उनकी 'नासिकेतोपाख्यान' (१८०३) और 'रामचरित्र' (१८०६) महत्व की रचनाएँ हैं। परन्तु वे सीधे संस्कृत से अनूदित होने के कारण उनकी भाषा में एक प्रकार का पंडिताऊपन आया है। मिश्रजी बिहार के आरा-निवासी होने के कारण उनकी भाषा में अप्रत्यक्ष रूप में बंगला भाषा का प्रभाव दिखाई पड़ता है। उनकी भाषा का नमूना इस प्रकार मिलता है:

**सुनते ही एक सखी ने झट ला राजपुत्री के हाथ में दिया। वह बहुत प्रसन्न हो खोलकर ज्यों लगी उसे सूंघने, कि वह बीज जिसे उद्दालक मुनि ने उसमें रक्खा. नाक के पथ से पेट में चला गया। पर चन्द्रावती ने कुछ भी न जाना कि मेरे**

---

१—सं० पं० योगध्यान मिश्र : 'प्रेमसागर' (१८४२) पृ० ८३।

**उदर में क्या गया है और स्नान पूजा कर हर्षित हो अपने मंदिर में सब के संग चली आई।[१]"**

लल्लूलाल तथा सदल मिश्र की रचनाओं का निर्माण फोर्ट विलियम कालेज की प्रेरणा द्वारा हुआ, लेकिन साहित्यिक कार्य की दृष्टि से हरएक की अपनी-अपनी विशेषता है। लल्लूलाल जी की रचनाएँ ब्रजभाषा से अनूदित होने के कारण उनकी भाषा पर ब्रजभाषा का प्रभाव दिखाई पड़ता है और शैली में भी एक प्रकार की शिथिलता है। परन्तु मिश्र जी की भाषा में लल्लूलाल की भाषा की अपेक्षा गद्य का प्रौढ़ रूप दिखाई पड़ता है। इसलिए कहना पड़ता है कि भाषा की दृष्टि से इंशा-अल्लाखाँ के बाद सदल मिश्र का स्थान आता है।

सदासुखलाल, इंशाअल्लाखाँ, सदल मिश्र और लल्लूलाल की रचनाओं में खड़ी बोली गद्य की दो परम्पराएँ दिखाई पड़ती हैं। पहली परम्परा बाहरी प्रभाव से मुक्त है और उसमें रामदास, निरंजनी, दौलतराम, सदासुखलाल तथा इंशाअल्लाखाँ की रचनाओं को रखा जा सकता है। दूसरी परम्परा में बाहरी प्रभाव दिखाई पड़ता है और उसमें पं० सदल मिश्र और लल्लूलाल जी की कृतियाँ आती हैं। दूसरी परम्परा के लेखकों ने अपनी कृतियाँ फोर्ट विलियम कालेज की प्रेरणा से लिखी हैं इसलिए बाहरी प्रभाव लेकर उपस्थित हुई और उसमें साहित्यिक पक्ष के अलावा प्रचारात्मक पक्ष मुख्य था।

फोर्ट विलियम कालेज में नौकरी मिलने के कारण लल्लूलाल तथा सदल मिश्र द्वारा हिन्दी गद्य की कई कृतियों का निर्माण हुआ। इसलिए अंग्रेजी राजनीति की प्रेरणा उनकी रचना-निर्मित के पीछे काम कर रही थी। इसलिए उनकी रचनाओं में स्वतंत्र गद्य-रचना का रूप दिखाई नहीं पड़ता।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मुंशी सदासुखलाल और चरनदास ने जिस स्वतंत्र भाषा शैली की परम्परा उपस्थित की थी उसकी परम्परा इंशाअल्लाखाँ और राजा राममोहनराय की शैली में दिखाई पड़ती है।

सन् १८१५ में राजाराम मोहनराय ने वेदान्तसूत्र का अनुवाद कराया और उसी साल ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया। उनके जीवन के आरंभिक वर्ष हिन्दी भाषी नगरों में व्यतीत हुए। अर्थात् उनकी लेखनी पर भाषा के लिखित रूप का संस्कार नहीं हुआ है। उन्होंने जिस रूप में हिन्दी को सुना था उसी को अपनी मातृभाषा की पद्धति से आत्मसात किया। इसलिये उनकी भाषा पर बंगला का स्पष्ट प्रभाव मिलता है। उनकी स्वतंत्र शैली का नमूना इस प्रकार मिला है—

---

१—सं० श्यामसुन्दरदास : नासिकेतोपाख्यान, मान, चतुर्थ सं० २००२, पृ० ८।

**"जवान बादशाह को सलाम करके बाहिर गिया और एक सराय में पहुँच के कबूल कीए कि जब महीने खलास हो गया था, वोह सराय में मिलने को, और एक-एक का नजर एक-एक को दिखलावने को।**
**जैसा कबूल ऐसा किआ और सराय में पहुँच के बड़ा भाई एक दूरबीन दिखलाया, और आँख को लगा के कहा अगर हमारा प्यारी हम अभी दे सकते हैं, कैसा खुश करने ेगा।"[1]**

हिन्दी गद्य की दृष्टि से ईसाई धर्म प्रचारकों के साहित्य का महत्व है। इन धर्मप्रचारकों ने अपने धर्मप्रचार के लिये जो किताबें प्रकाशित कीं उनके द्वारा हिन्दी गद्य के विकास में सहायता मिली। धर्म संबंधी तमाम बातों को इन पुस्तकों द्वारा उन्होंने जनता की भाषा में ही लोगों के सामने रखने का प्रयत्न किया।

हेनरी मार्टिन (Henry Martyin) ने सन् १८०९ के आस पास न्यू टेस्टामेंट (नये धर्म नियमों) का अनुवाद उर्दू में किया और सन् १८१७ में उसका रूपान्तर देवनागरी में किया। अर्थात् इस देवनागरी रूपांतर में अरबी-फारसी शब्दों की भरमार होना स्वाभाविक है। इसके बाद विलियम बाउले (William Bowley) ने सन् १८३८ के उर्दू संस्करण पर आधारित न्यू टेस्टामेंट का संशोधित संस्करण प्रकाशित किया। उसी प्रकार सन् १८४४ में विलियम येट्स (William Yets) ने न्यू टेस्टामेंट का अनुवाद करना प्रारम्भ किया। परन्तु बीच में ही उनकी मृत्यु होने के कारण ऐण्ड्रू लेस्ली (Andrew Leslie) ने उसे पूर्ण करके सन् १८४८ में प्रकाशित किया। इसी प्रकार न्यू टेस्टामेंट के अनेक अनुवाद हुए और धीरे-धीरे उनके संशोधित संस्करण भी प्रकाशित हुए।

इन ईसाई धर्म-प्रचारकों की बाइबिल के अनुवादों द्वारा अपने धर्म में दीक्षित होने वाले भारतवासियों को ईसाई धर्म का परिचय कराना तथा अपने धर्म की अच्छी-अच्छी बातों से उन्हें अपनी ओर आकर्षित करना था। इन अनुवादकों ने भारतीय ईसाइयों से अनुवाद कार्य में सहायता ली है फिर भी बाइबिल का ठीक अनुवाद जनता की भाषा में करने में असफल रहे हैं।

बाइबिल का अनुवाद करते समय इन ईसाई धर्म-प्रचारकों के सामने भाषा का कोई निश्चित आदर्श नहीं था। उनके अनुवाद में सर्वत्र भाषा का एक रूप न होने से तथा बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा में काफी अन्तर होने से भाषा की ठीक शैली प्रस्तुत करने में उनकी शैली को मार्गदर्शन नहीं मिला।

शब्दों के चुनाव के बारे में इन अनुवादों की कोई निश्चित नीति नहीं थी। उनके सामने, अरबी, फारसी और संस्कृत के शब्द थे। इनमें से किस भाषा का कौनसा

---

**१--'राजा राममोहनराय की हिन्दी'-विशाल भारत', दिस० १९३३, पृ० ३७१।**

शब्द ग्रहण करना चाहिए इस पर ठीक निर्णय देना उनके सामने एक कठिन कार्य हो गया। इसलिए उनके अनुवाद में भाषा की सजीवता, विचारों का गांभीर्य या भाषा का सौन्दर्य आदि साहित्यिक गुण दिखाई नहीं पड़ते। अतः इस समय के बाइबिल के अनुवादों में हिन्दी गद्य का साहित्यिक रूप नहीं मिलता। परन्तु इन धर्म-प्रचारकों ने शिक्षा, धर्म, ज्ञानविज्ञान आदि के बारे में जो पाठ्य पुस्तकें प्रकशित की हैं उनसे हिन्दी गद्य के प्रचार में सहायता मिली है। उनकी परिष्कृत भाषा का नमूना इस प्रकार मिलता है—

**"उन्हीं दिनों में जब ईश्वर अपने शास्त्र का प्रकाश करता था वे लोग आज्ञा के विरुद्ध चल के सोने के बछरू बना के पूजने लगे। तब ईश्वर उनपर क्रुद्ध हुआ और उसी दिन में उनमें से तीन सहस्त्र मारे गये। तब उनके अविश्वास का यह दंड ठहराया गया कि वे अरब के निर्जल देश में फिरते रहें औ चालीस बरस तक कनान देश में जाने न पावें। पश्चात् अनेक अद्भुत कर्मों से अपने महात्म्य का प्रकाश करके परमेश्वर ने उनको उसी देश में बसाया। और उनके हाथ से वहाँ के दुष्ट निवासियों को मरवाया। तब वह देश उनके बारहों बच्चों को बँट गया और वे वहाँ रहने लगे।"[१]**

इस तरह फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना और ईसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा हिन्दी गद्य का जो कुछ रूप लोगों के सामने आया, उनसे जनता में आधुनिक शिक्षा के प्रति एक प्रकार का आकर्षण हुआ। सन् १८२० तक का काल शिक्षा संबंधी सुधार के लिए अनुकूल नहीं था, क्योंकि इस समय तक भारत में व्यवस्थित तथा सुदृढ़ राज्यव्यवस्था प्रस्थापित न हो सकी थी। इसलिए हिन्दी गद्य के विकास की दृष्टि से कोई विशेष बात नहीं हुई।

मुद्रणकला के आविष्कार के कारण किसी ग्रंथ की प्रतिलिपियाँ अधिक संख्या में निकलने की व्यवस्था हुई। अंग्रेजी सभ्यता और शिक्षा के कारण भारतीय लोगों में शिक्षा के प्रति एक प्रकार का आकर्षण उत्पन्न हुआ। ईस्टइंडिया कम्पनी ने शिक्षा, शासन, न्याय आदि के बारे में सुधार करने की नीति अपनाई तथा इस नीति के पोषण के लिए तार, रेलवे आदि वैज्ञानिक सुविधाओं का प्रचार करना आरम्भ किया। इस प्रकार भारतीय जीवन में एक नयी चेतना निर्माण करने का कार्य कम्पनी सरकार द्वारा हुआ।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के द्वारा शिक्षा संबंधी जो सुधार हुए उनसे हिन्दी गद्य के विकास को अच्छा वतावरण मिलता गया। परन्तु भारत में राज्यव्यवस्था की दृष्टि

---

**१—'दि कोर्स आव डिवाइन रेवेलेशन' १८४६, बापिस्ट मिशनप्रेस, कलकत्ता, पृ० २९। (डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी की भूमिका पृ० ४७८ से उद्धृत)।**

से सुस्थिरता स्थापित होने के बाद जब राजकर्ताओं के सामने जनता को शिक्षित तथा सुसंस्कृत बनाने का प्रश्न आया तब भाषा के माध्यम के बारे में भी प्रश्न उपस्थित हुआ। इस समय गद्य का कोई व्यवस्थित तथा साहित्यिक रूप नहीं बना था।

सन् १८०० के पहले जो कुछ गद्य-साहित्य था वह अत्यन्त अव्यवस्थित रूप में था। धर्म-प्रचार की दृष्टि से जो कुछ पुस्तकें जनता में प्रचलित थीं उनमें भाषा का शुद्ध रूप नहीं मिलता था। गद्य के विकास के लिए किसी भी प्रकार का मार्गदर्शन या संरक्षण नहीं मिला था। परन्तु शिक्षा की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित होने के कारण शिक्षा संबंधी सुधार की ओर सरकार की दृष्टि गयी।

सन् १८२३ में भारतीय लोगों को शिक्षा देने के लिए एक योजना बनी और उसके अन्तर्गत शिक्षा-प्रचार कार्य को संगठित रूप से चलाने के लिए गवर्नर-जनरल ने उसी साल एक शिक्षा-समिति (Committee of public instruction) की स्थापना करके तत्कालीन शिक्षा-पद्धति की जाँच की। गवर्नर जनरल द्वारा प्रस्थापित इस शिक्षा-समिति ने देश में शिक्षा का प्रसार और उसके सुधार की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया। शिक्षा संबंधी संस्थाओं को जहाँ तक हो सके अधिक से अधिक सुविधाएँ देकर सरकार ने विभिन्न भागों में शिक्षा-संस्थाओं और स्कूल-बुक-सोसायटियों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया।

शिक्षा प्रचार के कार्य में पुस्तक प्रकाशन संस्थाओं की अत्यन्त आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी (१८१७) और आगरा स्कूल-बुक-सोसायटी ने अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया। कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी ने प्रारम्भिक पाठशालाओं के लिए सस्ती किताबों का प्रकाशन किया। इस सोसायटी द्वारा अंग्रेजी, बंगला, हिन्दी, उर्दू आदि भाषाओं में किताबें प्रकाशित हुईं परन्तु अधिकतर अंग्रेजी और बंगला पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। आगरा स्कूल बुक सोसायटी ने अपने पुस्तक प्रकाशन का कार्य उत्तर भारत तक ही सीमित रखा। इन स्कूल बुक सोसायटियों ने ज्ञान-विज्ञान संबंधी पुस्तकें देशी भाषाओं के साथ अंग्रेजी में भी प्रकाशित कीं। कलकत्ता-स्कूल-सोसायटी (१८१७) की स्थापना के कारण शिक्षा प्रचार के लिए सहायता मिली। इस सोसायटी ने पाठशालाओं की स्थापना के लिए अनेक प्रयत्न किए तथा अंग्रेजी शिक्षा के लिए भी प्रयत्न किया।

इन सोसायटियों के साथ आगरा कालेज, दिल्ली कालेज, छोटे बड़े नार्मल स्कूल आदि की स्थापना होने के कारण पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता हुई। आगरा कालेज में संस्कृत और हिन्दी में शिक्षा का प्रारम्भ होने के कारण जनता का ध्यान आकर्षित हुआ। इस प्रकार शिक्षा प्रचार की दृष्टि से अनेक संस्थाओं का जन्म होने लगा। कालेज में संस्कृत, अरबी आदि भाषाओं को पढ़ाने की व्यवस्था होने के कारण नयी-नयी

किताबों का प्रकाशन होने लगा। इस प्रकार पाठ्य पुस्तकों की माँग तत्कालीन स्कूलों तथा कालेजों द्वारा हुई।

सन् १८१३ के ऐक्ट के अनुसार ब्रिटिश पार्लमेंट ने संस्कृत, फारसी तथा भारतीय भाषाओं की शिक्षा के लिए जो व्यय निश्चित किया था उसको एक दृष्टि से मिटाने का कार्य लार्ड मेकाले ने किया। उन्हें भारतीय तथा संस्कृत साहित्य के प्रति आदर नहीं था और उन्होंने अंग्रेजी भाषा के माध्यम द्वारा भारतीयों को शिक्षा देने की अपनी योजना सरकार के सामने रखी। मेकाले के अनुसार शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी बनाया गया।

सर चार्लस वुड की शिक्षा योजना के अनुसार भारत के अनेक ग्रामों में पाठ-शालाओं की स्थापना हुई और उनमें भारतीय भाषाओं द्वारा शिक्षा दी जाने लगी। उनकी योजना के कारण आधुनिक भारत की भाषाओं तथा उनके साहित्य के विकास के लिए मार्ग सुलभ हुआ। इस योजना के कारण ही हिन्दी में पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण की आवश्यकता हुई। पाठशालाओं के विद्यार्थियों के लिए पाठ्य-पुस्तकों और इतर सहायक पुस्तकों को प्रकाशित करने की आवश्यकता होने के कारण नये-नये लेखक सामने आये और शिक्षा का माध्यम तथा पुस्तकों की भाषा आदि के बारे में नयी-नयी समस्याएँ उठीं।

पाठ्य-पुस्तकों की माँग होने के कारण अनेक पुस्तकें लिखी गयीं, परन्तु इन रचनाओं के लेखक अपनी कृतियों द्वारा भाषा का यथार्थ रूप प्रचलित करना चाहते थे। इसलिए भाषा का आदर्श रूप लोगों के सामने उपस्थित करने की दृष्टि से अनेक लेखक हिन्दी के क्षेत्र में आने लगे।

खड़ी बोली गद्य के विकास की दृष्टि से हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का आरम्भ इस काल की एक विशेष घटना है। हिन्दी का पहला पत्र 'उदंत मार्तण्ड' एक साप्ताहिक के रूप में कलकत्ता से प्रकाशित हो रहा था। इस पत्र की भाषा पछाही हिन्दी रहती थी और उसके संपादक पं० जुगोल किशोर ने उसे 'मध्यदेशीय भाषा' कहा है। इस पत्र की भाषा वस्तुतः व्यावहारिक हिन्दी गद्य के रूप में स्वीकार की जा सकती है। 'उदंत मार्तण्ड' की भाषा का नमूना इस प्रकार मिलता है—

### फरासीस देश की खबर

**कहते हैं कि बादशाह गरदी के रौले में एक ठौर बहुतेरे आदमी मारे गए थे एक दिन एक आदमी ने एक मुरदे की जोरू को उस जगह जाते देखा ओ ठंडी साँस ले के यह बोला कि परमेश्वर की इच्छा ऐसी ही थी तेरा स्वामी संसार से उठ गया इसमें क्षमा के सेवाय कुछ उपाय नहीं है तू अपने जी को समझाव उसने उत्तर किया कि इसमें क्या सन्देह है जो होना था वह हो चुका में यह देखने**

आई हूँ कि घर की कुंजी उसकी तलीतो में है या नहीं कुंजी न पाऊँ तो घर कैसे जाऊँ वह सुनकर एक टक लगा रहा।"[१]

'उदंत मार्तण्ड' के बाद 'बंगदूत' (१८२९), 'बनारस अखबार' (१८४४), 'सुधाकर' (१८५०), 'बुद्धिप्रकाश' (१८५२), 'समाचार-सुधावर्षण' (१८५४), 'प्रजा-हितैषी' (१८५५), 'तत्वबोधिनी पत्रिका' (१८६५), 'कविवचन सुधा' (१८६७), 'अलमोड़ा अखबार') (१८७०), 'बिहार बन्धु' (१८७१), 'बोधा समाचार' (१८७२), आदि अनेक पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इन पत्रिकाओं में अधिकतर पत्र मासिक थे। केवल 'समाचार सुधावर्षण' पत्र दैनिक था और वह भी द्विभाषीय (बंगला हिन्दी)। कुछ पत्र आगरे से निकलते थे और समाचार वर्षण के समान कुछ पत्र द्विभाषीय (हिन्दी-उर्दू) और पंचभाषी तक थे। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के उस प्रारम्भिक-युग में पत्रकार-कला का अपरिपक्व रूप दिखाई पड़ता है।

हिन्दी-प्रदेश के प्रारंभिक पत्रों में 'राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद' की प्रेरणा से प्रकाशित 'बनारस अखबार' (१८४५) का स्थान महत्वपूर्ण है। हिन्दी-उर्दू की समस्या की दृष्टि से इन पत्रों में हमेशा संघर्ष रहा है। राजा शिवप्रसाद का झुकाव उर्दू की ओर था इसलिए उनकी भाषा-नीति का विरोध करने के लिए आगरा से 'प्रजाहितैषी' का प्रकाशन आरम्भ किया। श्यामसुन्दर सेन के संपादकत्व में सन् १८५४ से दैनिक 'समाचार सुधावर्षण' का प्रकाशन हो रहा था, परन्तु इस दैनिक पत्रिका की अपनी कोई भाषा-नीति नहीं थी। इतना ही कहा जा सकता है कि इसकी भाषा दैनिक जीवन से अधिक निकट होने के कारण लोक-जीवन की वास्तविकता को प्रकट करने की शक्ति इसमें थी।

भाषा की दृष्टि से देखा जाय तो भारतेन्दु हरिश्चंद्र की 'कवि-वचन-सुधा' का प्रकाशन हिन्दी गद्य के विकास की एक महत्व की सीढ़ी है। राजा शिवप्रसाद का 'बनारस अखबार' उर्दू भाषा शैली को अपनाता था और तारामोहन मैत्र का 'सुधाकर' तथा राजा लक्ष्मण सिंह का 'प्रजाहितैषी' भाषा का पंडिताऊ तथा तत्सम-प्रधान शैली का प्रचार कर रहा था। भाषा के अपने-अपने आदर्श उपस्थित करने का प्रयत्न इन पत्रिकाओं ने किया, परन्तु 'कवि वचन सुधा' के प्रकाशन तक हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं की अपनी कोई निश्चित भाषा-शैली नहीं थी। कवि-वचन-सुधा के प्रकाशन के कारण भारतेन्दु की भाषा शैली का प्रारंभिक रूप प्रकट हुआ। फिर भी उनकी भाषा का आदर्श 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' पत्रिका में ही मिलता है।

---

१—ब्रजेन्द्रनाथ बनर्जी: 'हिन्दी का पहला समाचार पत्र' विशाल भारत, मार्च १९३१, पृ० ४२२।

पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण शिक्षा की ओर लोग आकर्षित होने लगे। एक नयी शिक्षा प्रणाली के रूप में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार अंग्रेजी साहित्य, अंग्रेजी सभ्यता आदि के कारण भारतीय जीवन में एक नया वातावरण तैयार हो रहा था। लोगों को एक नयी दृष्टि मिली थी।

ग्रामों में पाठशालाओं की स्थापना होकर उनमें देशी भाषाओं को स्थान मिला था। हिन्दी प्रदेश की पाठशालाओं में हिन्दी और उर्दू की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा के माध्यम के बारे में सरकार की नीति स्पष्ट नहीं थी और सरकारी दफ्तरों में उर्दू को स्थान मिलने के कारण जनता की भाषा तथा अदालत की भाषा में कोई मेल नहीं था।

हिन्दी गद्य के विकास की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस समय में हिन्दी गद्य की दृष्टि से जो कुछ कार्य हो रहा था उससे हिन्दी गद्य को साहित्यिक रूप मिल रहा था। परन्तु सरकार की भाषा-नीति हिन्दी गद्य के विकास में सहयोग न दे सकी।

फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के बाद हिन्दी की ओर सरकार की भाषा नीति कुछ अस्पष्ट तथा विरोध की भावना लेकर कार्य कर रही थी। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने अपने धर्मप्रचार की दृष्टि से जनता की भाषा को अपनाने का कार्य किया। ऐसी अवस्था में कम्पनी सरकार के नौकर, सरकार की भाषा-नीति के अनुसार ही काम चलाते थे। वे हिन्दी की ओर उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। हिन्दी-उर्दू की इस समस्या का सुन्दर विश्लेषण पं० चंद्रबली पाण्डेय ने इस प्रकार किया है—

> **"यदि हिन्दी-उर्दू द्वन्द्व के इतिहास को देखा जाय तो सिविल सर्विस के लोग किंवा फोर्ट-विलियम-कालेज के छात्र प्रायः उर्दू के पक्ष में रहे हैं और ईसा मसीह के भक्त पादरी लोग प्रायः हिन्दी के पक्ष में। कारण प्रत्यक्ष है। प्रथम को आतंक जमा कर काम निकालना था तो द्वितीय को अपना बनाकर काम करना। निदान पहले ने शासकों की भाषा को पकड़ा और दूसरे ने शासितों की भाषा को। ऐसी स्थिति में सरकार के पालतू प्राणी हिन्दी का विरोध नहीं तो और क्या करते।"[१]**

फोर्ट विलियम कालेज में हिन्दी पढ़ाने की व्यवस्था की गयी थी, लेकिन हिन्दी के विकास की दृष्टि से वहाँ कोई विशेष कार्य नहीं हुआ। लेकिन इस कालेज के द्वारा भाषा के बारे में सरकार की नीति स्पष्ट हुई। हिन्दी भाषा की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। इस समय शिक्षा प्रचार की अनेक योजनाएँ सामने आयी थीं। परन्तु सन् १८३५ तक सरकारी दफ्तरों में फारसी लिपि को स्थान मिलने के कारण सरकार की भाषा नीति का विरोध करने के लिये एक विशेष आन्दोलन की आवश्यकता हुई।

---

**१—पं० चन्द्रबली पाण्डेय–'हिन्दी गद्य का निर्माण', सं० २००५, पृ० २८।**

अंग्रेजों ने अपनी भाषानीति द्वारा हिन्दी और उर्दू का भेद करके धर्म के आधार पर हिन्दुओं और मुसलमानों में वैमनस्य की भावना निर्माण की। हिन्दी-उर्दू का यह आन्दोलन भारत में अंग्रेजों से स्वतंत्र होने तक किसी न किसी रूप में चलता रहा और हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत होने पर भी भाषा की यह समस्या हिन्दुओं और मुसलमानों में वैमनस्य की भावना को आगे बढ़ाने में सहायक हुई।

हिन्दी-उर्दू का यह प्रश्न धीरे-धीरे एक व्यापक रूप ले रहा था। कचहरी में उर्दू भाषा को स्थान मिला था और पाठशालाओं में हिन्दी और उर्दू की शिक्षा दी जाती थी। उस समय की सरकारी भाषा-नीति के अनुसार कचहरी की भाषा में खड़ी बोली का रूप अरबी-फारसी मिश्रित था। जनता की भाषा हिन्दी होकर भी सरकारी कागज-पत्र उर्दू में लिखे जाते थे। अदालत में उर्दू को स्थान मिलने के कारण जनता देवनागरी लिपि को भूलने लगी और हिन्दी का पक्ष दुर्बल होने लगा। कुछ ऐसे समय में काशी के राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' (१८२९-१८९५) का उदय हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक उर्दू का प्राबल्य रहा। मुसलमानों ने उर्दू का पक्ष लिया और अंग्रेजों की राजनीति उर्दू का समर्थन कर रही थी। कई अंग्रेजी विद्वान भी हिन्दी-उर्दू समस्या पर अपने विचार प्रगट करते थे। उर्दू के समर्थकों में सर सैयद अहमद खाँ प्रसिद्ध हैं। सर सैयद और उनके साथी हिन्दी के कट्टर विरोधी थे और वे हिन्दी को गँवारू भाषा समझते थे। इन्हें अंग्रेजों में सम्मान मिलता था और वे किसी प्रकार अंग्रेजों को उर्दू के प्रति आकर्षित करना चाहते थे। उन्होंने अंग्रेजों के धर्म से अपने धर्म का नाता जोड़ कर हिन्दू धर्म के विरुद्ध आन्दोलन चलाया और धर्म के आधार पर भी हिन्दी का विरोध किया। उनके इस हिन्दी विरोधी आन्दोलन का समर्थन फ्रांसीसी विद्वान गार्सा द तासी ने भी किया।

गार्सा द तासी उर्दू के बड़े भारी पक्षपाती थे साथ ही उन्होंने हिन्दी के महत्व को समझा था। परन्तु वे सैयद अहमद खाँ के पक्षपाती थे और धार्मिक आधार पर हिन्दी-उर्दू की समस्या को समझने का इन्होंने प्रयत्न किया; जान बीम्स ने भी उर्दू का समर्थन करके हिन्दी को रूढ़िवादी तथा गतिहीन बतलाया।

एफ० एस० गाउज ने हिन्दी का पक्ष लेकर कचहरी की उर्दू शैली का विरोध किया। उन्होंने प्रेमसागर की भाषा शैली को पसन्द किया। काशी के राजा शिवप्रसाद जी भी उर्दू शैली के विरोधी थे। परन्तु उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों को समझकर अपनी भाषा-नीति निश्चित की। वे इस परिणाम पर पहुँचे कि उर्दू पढ़े-लिखे लोगों को एकदम हिन्दी की ओर आकर्षित नहीं करना चाहिए। अब खड़ी बोली का रूप धीरे-धीरे उर्दू हो रहा था। अतः वे देवनागरी लिपि के माध्यम से हिन्दी को शुद्ध करना चाहते थे। राजा साहब शिक्षा-विभाग में काम करते थे। इसलिए अपनी भाषा-नीति को ठीक रूप में व्यक्त करने के लिए बड़ी चतुराई से काम लेना चाहते थे। परन्तु इसमें वे असफल

ही रहे। शिक्षा-विभाग में मुसलमानों का प्राबल्य था और सरकारी भाषा नीति उर्दू के लिए काम कर रही थी तथा सरकारी नौकर होने के कारण राजा साहब को हमेशा अंग्रेजों और मुसलमानों को खुश रखना पड़ता था।

राजा साहब की अपनी कोई स्पष्ट भाषा नीति नहीं थी। अंग्रेजी सरकार का झुकाव आरम्भ से ही उर्दू की ओर था तथा शिक्षा विभाग में उन्हें काम करना था इसलिए स्कूलों में पढ़ने वाले हिन्दू और मुसलमान विद्यार्थियों का भी ध्यान उन्हें रखना पड़ता था। इधर शिष्ट समाज में उर्दू को महत्व का स्थान मिला था और बड़े-बड़े हिन्दू घरों में उर्दू भाषऔर फारसी लिपि ने अपना स्थान बना लिया था। राजा शिवप्रसाद ने इसका संकेत इस प्रकार दिया है :—

> **"हिन्दू लोग न केवल आपस के बीच फारसी में चिट्ठी-पत्री जारी रखते थे, वरन् अपने घर का हिसाब भी फारसी में लिखते थे। उस वक्त हिन्दू मुसन्निफों (ग्रंथकारों) का हाल जो सर हेनरी ईलियट साहिब ने अपनी किताब में दर्ज फरमाया है लायक देखने के है। साहब मौसूफ (उक्त) लिखते हैं कि हिन्दू मुसन्निफ तसनीफ (लेख), में कोई बात ऐसी नहीं है जिससे उसकी कौम और उसका मजहब जाहिर हो सके।"[1]**

ऐसी परिस्थिति में राजा साहब उर्दू का विरोध नहीं कर सकते थे। इसलिए वे अरबी-फारसी शब्दों द्वारा हिन्दी का गँवारूपन निकालना चाहते थे।

राजा साहब ने जब यह देखा कि वे उर्दू को पाठशालाओं या दफ्तर से हटाने में असमर्थ हैं, तब उन्हें हिन्दी से किसी प्रकार समझौता ही करना पड़ा। वे नागरी लिपि में सरल हिन्दुस्तानी का प्रचार करके अपने अंग्रेज अधिकारियों को प्रसन्न करना चाहते थे। उन्होंने 'बैताल पचीसी' की भाषा को आदर्श माना और फारसी लिपि में लिखी हुई क्लिष्ट उर्दू को उन्होंने जनहित के विरुद्ध समझा। परन्तु उनकी रचनाओं में भाषा का कोई आदर्श रूप दिखाई नहीं पड़ता। उनकी रचनाओं में हिन्दी की दो शैलियाँ मिलती हैं। 'भाषा का इतिहास' में उनकी उर्दू-फारसी मिश्रित हिन्दी का रूप दिखाई पड़ता है और 'राजा भोज का सपना' में उनकी संस्कृत-शब्द-प्रधान शैली मिलती है। 'गुटका' (भाग तीसरा) में राजा साहब ने भाषा का जो आदर्श पाठकों के सामने रखने का प्रयत्न किया वह शायद इनको भाषा-नीति का आदर्श माना जा सकता है। राजा साहब की भाषा का नमूना उनके 'इतिहास तिमिरनाशक' ग्रंथ में इस प्रकार मिलता है—

> **"अकसर लोग मुसलमान बादशाहों की भलाई और बड़ाई प्रजा के चित्त पर खचित करने को दिल्ली को नहर और ताजगंज का रोजा इत्यादि दिखलाते**

---

१—राजा शिवप्रसाद; भाषा का इतिहास' '(हिन्दी भाषा सार' से उद्धृत, पृ० ४४-४५)।

हैं यह नहीं जानते कि दिल्ली वाली नहर बादशाह की बनायी नहीं है अलीमर्दाखाँ को लायी है वह अपने स्वामी इरान के बादशाह से बिगड़ के अफगानस्तान का तमाम माल मार लाया था और खूब जानता था कि खर्च न कर डालता उसके मरने पर जरूर जब्ती में जाता ताजगंज के लिए तमाम पत्थर राजाओं से तुहफा और नजर में लिये गये होंगे।"[१]

राजा साहब की भाषानीति के बारे में अनेक तर्क किए जा सकते हैं। एक तो राजा साहब सरकारी नौकर थे और शिक्षा-विभाग में उन्हें काम करना था इसलिए सरकार की शिक्षा-नीति का पालन उन्हें किसी न किसी रूप में करना पड़ता था। शिष्ट समाज की भाषा का आदर्श सामने रख कर उन्होंने अपनी भाषा-नीति को निर्धारित किया। जब शिष्ट समाज ने उर्दू को अपनाया तब उस समय विशुद्ध हिन्दी का प्रचार करना हिन्दी के लिए एक अहितकर बात हो सकती थी। उन्होंने यह जाना होगा कि विशुद्ध हिन्दी का प्रचार करने के लिए ठीक वातावरण नहीं है, इसलिए उस समय के शिष्ट समाज की भाषा, मुसलमानों का उर्दू प्रेम, अंग्रेज अधिकारियों का रुख, अपने स्थान का अस्तित्व आदि बातों को सामने रखकर उन्होंने अपनी भाषा-नीति का आदर्श निश्चित किया होगा। उनका हमेशा यह दृष्टिकोण रहा है कि उर्दू के समान हिन्दी भी एक सजीव तथा आधुनिक भाषा है इसलिए हिन्दी की कमजोरियों को दूर करने के लिए उर्दू की शैली और अरबी-फारसी शब्दों की सहायता लेने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। अपनी भाषा नीति का आदर्श राजा साहब ने 'भाषा का इतिहास' शीर्षक लेख में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"ऐसी शुद्ध चाहने वालों को हम इस बात पर यकीन दिला सकते हैं कि जब तक कचहरी में फारसी हरफ जारी है इस देश में संस्कृत शब्दों के जारी करने की कोशिश बेफायदा होगी।....जब यह सवाल पैदा हो सकता है तो हम लोगों को क्या करना चाहिये, किस तरह फिरना चाहिए जिसमें हमको सीधी राह मिले ?"[२]

इससे स्पष्ट होता है कि राजा साहब ने अपनी भाषानीति को स्थिर करते समय अनेक बातों का विचार किया। विशुद्ध हिन्दी के लिए योग्य वातावरण नहीं था, यह उनका सिद्धान्त था। हो सकता है कि यदि राजा साहब सरकारी नौकर नहीं होते तो विशुद्ध हिन्दी का आन्दोलन भी चलाते।

राजा शिवप्रसाद के हिन्दी का पक्ष लेकर खड़े होने के कारण हिन्दुओं में एक

---

१—राजा शिवप्रसाद; 'इतिहास तिमिरनाशक' (३), प्र० सं०, सन् १८७७, पृ० ११४।

२—राजा शिवप्रसाद—'भाषा का इतिहास' ('हिन्दी भाषा-सार' पृ० ५६, ५७ से उद्धृत)।

प्रकार का जोश आया। वास्तविक रूप में वे शुद्ध हिन्दी के विरोधी नहीं थे। उनका सारा दृष्टिकोण उर्दू की सहायता से हिन्दी को परिष्कृत करके अदालत की भाषा से जन-संपर्क रखना था। वे चाहते थे कि अरबी-फारसी मिश्रित हिन्दी का रूप अधिक परिमार्जित तथा सुगठित हो, इसलिए वे हिन्दी की सेवा करते-करते उर्दू के पक्षपाती बने। प्रो० विनयमोहन शर्मा ने उनकी भाषा नीति का विश्लेषण बड़ी सहानुभूति के साथ इस प्रकार किया है—

> **"वे उर्दू लिपि और थोड़े बहुत अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग नीति की दृष्टि से करते थे परन्तु जब लोगों ने उनकी नीयत पर ही संदेह करना आरम्भ कर दिया तब उनके हृदय में जबरदस्त प्रतिक्रिया पैदा हुई और वे कट्टर उर्दू पंथी बन गये।"**

जिस समय हिन्दी का रूप अरबी-फारसीमय हो रहा था और जनता के सामने भाषा का कोई विशुद्ध रूप नहीं था उसी समय राजा लक्ष्मणसिंह हिन्दी का शुद्ध संस्कृतमय रूप लेकर सामने आये। राजा शिवप्रसाद की अरबी-फारसी मिश्रित भाषा के रूप का सम्मान लोगों में नहीं हो सका। राजा लक्ष्मणसिंह ने हिन्दी साहित्य के लिए कोई मौलिक साहित्यिक रचना नहीं दी, परन्तु राजा शिवप्रसाद के कारण भाषा में जो अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग हो रहा था उसे रोककर प्रचलित संस्कृत शब्दों का प्रयोग करने की भाषानीति को आगे बढ़ाया।

भाषा को अभी तक कोई साहित्यिक रूप नहीं मिला था लेकिन राजा लक्ष्मण सिंह ने अरबी-फारसी मिश्रित भाषाशैली से विहीन एक विशुद्ध भाषा का निर्माण किया। उनके सामने राजा शिवप्रसाद जी के समान समझौते की बात नहीं थी या सरकारी भाषानीति का दबाव उनपर नहीं था। वे अपनी भाषा का रूप सरल-स्वदेशी तथा साहित्यिक रखना चाहते थे।

राजा लक्ष्मण सिंह ने राजा शिवप्रसाद जी की भाषाशैली का विरोध करके हिन्दी साहित्य के इतिहास में पहली बार यह आवाज उठाई कि हिन्दी और उर्दू अलग-अलग भाषाएँ हैं और किसी भी नीति के आधार पर इन दोनों के मिश्रण से कोई कृत्रिम भाषा बनाई नहीं जा सकती।

राजा शिवप्रसाद ने फारसी के प्रभाव से हिन्दी को मुक्त करने के लिए आगरे से 'प्रजाहितैषी' नाम की पत्रिका निकाली और 'शकुन्तला' (१८६१), 'रघुवंश' (१८७८), और 'मेघदूत' इन तीन अनूदित ग्रंथों द्वारा अपनी भाषा का आदर्श लोगों के सामने उप-स्थित कर हिन्दी के आन्दोलन के लिए एक सुदृढ़ पृष्ठभूमि तैयार की। उनके शकुन्तला नाटक के अनुवाद द्वारा भाषा का एक साहित्यिक रूप लोगों के सामने आया और

---

१—**साहित्य संदेह—भारतेन्दु विशेषांक, अक्तूबर-नवम्बर, १९५० पृ० २०२।**

भाषा शैली के इस आदर्श पर भारतेन्दु न अपनी शैली का निर्माण किया। राजा शिवप्रसाद जी ने 'शकुन्तला' में भाषा का आदर्श इस रूप में रखा है—

"दु०। सखा, जिस समय मैंने प्यारी का त्याग किया उसकी ऐसी दशा थी कि अब उसकी सुध करके मैं व्याकुल हुआ जाता हूँ। हाय! जब उसने साथी ब्राह्मणों को पीछे चलने को मना किया, ऋषि के चेले ने झिड़क कर कहा कि यहीं रह। फिर भी एक बेर प्यारी ने मुझ निर्दयी की ओर आँसू भरे नेत्रों से देखा। अब वही दृष्टि मेरे हृदय को विष की बुझी भाल के समान छेदती है।"[1]

राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी को केवल लिपि के रूप में उर्दू से अलग करने का प्रयत्न किया, परन्तु राजा लक्ष्मणसिंह ने भाषा और लिपि दोनों में हिन्दी को उर्दू से अलग करने का प्रयत्न किया। उनके द्वारा हिन्दी उर्दू के पंजे से अलग होकर अपने स्वतंत्र अस्तित्व का अनुभव करने लगी। अर्थात् हिन्दी को शुद्ध रूप देने का कार्य उनसे हुआ। अभी तक के लेखकों में हिन्दी का शुद्ध तथा स्वतंत्र रूप उपस्थित करने का यह कार्य पहली बार राजा लक्ष्मणसिंह ने किया। इसलिए हिन्दी गद्य के उन्नायकों में उनका ऊँचा स्थान रहेगा।

हिन्दी गद्य के विकास की दृष्टि से अहिन्दी भाषाभाषी-विद्वानों ने भी हिन्दी गद्य के इस प्रारंभिक-काल में सहयोग दिया है। राजाराममोहनराय, फेडरिक पिन्काट, बाबू नवीनचंद्र राय आदि हिन्दी-प्रेमियों ने हिन्दी भाषा के महत्व को समझकर हिन्दी की सेवा की है। वैसे तो कलकत्ता से ही हिन्दी को प्रेरणा मिलती रही है।

आधुनिक हिन्दी गद्य के उन्नायकों में राजा राममोहन राय को महत्वपूर्ण स्थान देना चाहिए। उन्होंने सन् १८१७ में अपनी रचना की भाषा का रूप सामने रखा। फेडरिक पिन्काट का हिन्दी प्रेम स्मरणीय है। वे संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और वे अपने जीवन के अन्त तक भारतीय साहित्य की सेवा करते रहे। उन्होंने हिन्दी और उर्दू का अध्ययन किया और दोनों में से हिन्दी को ही भारतीय परम्परा के रूप में देखा। वे हिन्दी के सच्चे हितैषी थे और भारतीय जनहित के लिए उन्होंने हृदय से हिन्दी साहित्य की सेवा की।

शिक्षा-प्रचार की दृष्टि से बाबू नवीनचंद्रराय और श्रद्धाराम फुल्लोरी ने हिन्दी के विकास में योग दिया है। बाबू नवीनचंद्र ने शिक्षा प्रचार के साथ लोगों में धार्मिक तथा सामाजिक सुधार करना आरम्भ किया। पंजाब में हिन्दी का प्रचार करने वालों में उनका स्थान महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपने प्रचार कार्य के लिए हिन्दी में अनेक पुस्तकें लिखीं। वास्तव में इस समय पंजाब में उर्दू को स्थान मिला था इसलिए वहाँ

---

१—सं० पण्डित विजयानंद त्रिपाठी 'अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक' (अनुवादक राजा लक्ष्मणसिंह) सं० १९२१ प्र०, पृ० ८५।

के उर्दू-प्रेमियों के साथ उन्हें लड़ना पड़ा। उन्होंने ब्रह्म-समाज के प्रचार के लिए समय-समय पर अनेक पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं। उनकी 'ज्ञानप्रदायिनी-पत्रिका' में उनके शिक्षा संबंधी लेख प्रकाशित होते थे। उन्हें अपने प्रचार कार्य के लिए व्याख्यान भी देने पड़ते थे। उन्होंने शुद्ध तथा परिमार्जित हिन्दी में व्याख्यान देकर लोगों में हिन्दी को प्रचलित करने की कोशिश की। इस दृष्टि से श्रद्धाराम फुल्लोरी की भी हिन्दी-सेवा अत्यन्त महत्व की है। स्त्री-शिक्षा की दृष्टि से इन दो कार्यकर्त्ताओं ने पंजाब में महत्वपूर्ण कार्य किया।

इस प्रकार राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा नीति के कारण हिन्दीगद्य के विकास के लिए एक नयी परम्परा मिली। सन् १८५७ के स्वातंत्र्य-युद्ध के कारण भारत में एक नयी राजव्यवस्था का आरम्भ हुआ और अंग्रेजों का ध्यान भारतीयों की उन्नति पर गया। लार्ड मेकाले की अंग्रेजी शिक्षा की योजना के कारण भारत में अंग्रजी शिक्षा का प्रचार होने लगा था और अंग्रेजी साहित्य द्वारा भारतीय जीवन में अंग्रेजी सभ्यता तथा संस्कृति का प्रवेश हो रहा था। सन् १८५७ में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालयों की स्थापना हो चुकी थी और उनके द्वारा अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार हो रहा था।

अंग्रेजी भाषा के प्रचार के कारण हिन्दी-उर्दू का झगड़ा घरेलू हो रहा था। इन दो भाषाओं पर भी अंग्रेजी भाषा एक शासक के रूप में अपना प्रभाव रखती थी। अब भारतीयों को अंग्रेजी का ज्ञान अनिवार्य हुआ और अंग्रेजी भाषा तथा अंग्रेजी साहित्य का प्रभुत्व सर्वत्र दिखाई देने लगा।

अंग्रेजी द्वारा उच्च शिक्षा का प्रचार होने के कारण अंग्रेजी साहित्य के प्रति भारतीय जनता आर्कषित हुई। अंग्रेजी पढ़े लिखे लोग अंग्रेजी सभ्यता से परिचित होकर उनके जीवन में एक नया परिवर्तन हुआ और वे भारतीय बातों की ओर घृणा की दृष्टि से देखने लगे। स्वदेश, स्वभाषा आदि के प्रति उनमें कम प्रेम रहा। इस समय भारतेन्दु के समान राष्ट्रीय साहित्यप्रेमी की आवश्यकता थी और उनका आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब कि हिन्दी भाषियों के लिए एक साहित्यिक भाषा की आवश्यकता थी।

भारतेन्दु जी ने अपना साहित्यिक कार्य 'कविवचन सुधा' पत्रिका के प्रकाशन के साथ आरम्भ किया। छोटी उमर में ही भारतेन्दु ने इस पत्रिका द्वारा हिन्दी गद्य और जनता में नवचेतना को जागृत किया। उन्होंने अपने 'विद्या-सुन्दर' नाटक के द्वारा नाटक-साहित्य के निर्माण की ओर लेखकों और जनता का ध्यान आर्कषित किया। 'विद्या सुन्दर' नाटक तथा 'कवि-वचनसुधा' पत्रिका के द्वारा अपनी भाषा का नमूना लोगों के सामने रखा। भारतेन्दु की इस हिन्दी को 'हरिश्चन्द्री हिन्दी' कहा जाता है यद्यपि इसमें शैली तथा व्याकरण की दृष्टि से कोई विशेष क्रान्तिकारी परिवर्तन दिखाई नहीं देता।

समाचार-पत्रों के प्रकाशन के कारण हिन्दी-गद्य की अनेक शैलियाँ सामने आने लगीं। समाचार-पत्रों का आरम्भ कलकत्ता से ही हुआ था, इसलिए बँगला भाषा का प्रभाव उन पर होता रहा। १७ जून १८६७ में प्रकाशित एक बँगला समाचार पत्र के 'इस्तहार' में हिन्दी का रूप इस प्रकार मिलता है—

"सब कोई को खबर दिया जाता है कि शहर कलकत्ता का उत्तर डिवीजन का शामिल मोकाम अमड़ातल्ला गोबिन चाँद घर लेन में इगारह नंबर का जमीन—उओ जमीन का नाप पाँच काठा, उसका कुच कमी होय और बेसी होय, उओ जमीन और सुर्ती बागान के रहने वाला उसका मालिक बाबू हरनारायण चक्रवर्ती उसको बेचने माँगता है।"[१]

शिक्षा-प्रचार और समाचारपत्रों के प्रकाशन के कारण हिन्दी में नये-नये ग्रंथों की आवश्यकता हुई और लेखकों को अच्छे-अच्छे ग्रंथ लिखने को लिये प्रोत्साहन मिलने लगा। 'वामा-शिक्षक' (१८७२) जैसी स्त्री-शिक्षा के प्रचार की दृष्टि से लिखी हुई किताबों का निर्माण होने लगा। 'वामा शिक्षक' में भाषा की शैली इस रूप में मिलती है:—

"चार पाँच बरस तक किशोरी ने हरप्रसाद को आप नागरी और उर्दू पढ़ाई और हिसाब-किताब सिखलाया जब वह नागरी पढ़ने लिखने लगा और हिसाब में होशियार हो गया और कुछ उर्दू भी पढ़ने लगा तब किशोरी ने चाहा कि उसको अंग्रेजी पढ़ाऊँ पर उस्की सास ने कहा कि मैं तो इस्को अंगरेजी कभी नहीं पढ़ाऊँगी मदरसे के पढ़ने में मिहनत बहुत पड़ती है इस्का बाप ठाकुर प्रसाद रातों जागा करता था इस बिचारे में इतने पराक्रम कहाँ हैं जो मदरसे की पढ़ाई के बोझ को उठायेगा यह तो वैसे ही नित नया छूई मुई रहता है और दूसरे यह बात भी है जो यह अंगरेजी पढ़ जायगा तो जाने कहाँ का मारा कहाँ नौकर होगा और मैं अपने जीतेजी इसको आँखों ओलट करना नहीं चाहती।[२]

भाषा का लोक-प्रचलित रूप इस प्रकार के शिक्षा-प्रधान ग्रंथों में उपस्थित होने लगा। भारतेन्दु की 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के प्रकाशन के बाद हिन्दी भाषा के विकास को एक नयी दिशा मिली और भारतेन्दु द्वारा 'हिन्दी नई चाल में ढली' की घोषणा हुई।

---

१. 'राजा राममोहन राय की हिन्दी'—विशालभारत—दिसं० १८३३, पृ० ६६८

२. मुँशी ईश्वरीप्रसाद और मुँशी कल्याणदास : 'वामा शिक्षक', प्र० सं० १८८३ पृ० १७८

## प्रयोग-काल (सन् १८७३ से सन् १९०० ई० तक)

हिन्दी गद्य-साहित्य के निर्माण में भारतेन्दु की 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (१८७३) पत्रिका का प्रकाशन एक नयी दिशा का सूत्रपात करता है। पत्रिका के मुखपृष्ठ पर लिखा था—

**Haris Cnandra's Magazine : a Monthly journal published in connection with the Kavivachan Sudha containing articles on literary, scientific, political and religious subjects ; antiquities. reviews,** *dramas*, **history,** *novels*, **political relations,** *gossip*, *humour* **and** *wit*.

'हरिश्चन्द्र मैगजीन' में प्रकाशित होने वाले विषयों की विविधता देखकर यह जान पड़ता है कि पत्र-पत्रिकाओं के उद्देश्य में काफी फर्क पड़ा है। इस प्रकार अनेक विषयों से संबंधित रचनाएँ किसी भी पत्रिका में नहीं मिलती थीं। ऐसा लगता है कि भारतेन्दु अपनी इस पत्रिका द्वारा साहित्य के हरएक रूप का प्रचलन करना चाहते थे। साहित्य, विज्ञान, धर्म, राजनीति, पुरातत्व, आलोचना, नाटक, कविता, गद्य, हास्य और व्यंग्य से संबंधित सब विषयों का प्रकाशन इस पत्रिका में होता था। भारतेन्दु काल में नाटक, उपन्यास, आलोचना आदि गद्य के साहित्यिक रूपों का नाम लोगों ने पहली बार सुना। अभी तक इस प्रकार की रचनाओं से लोग परिचित नहीं थे। इस दृष्टि से भारतेन्दु ही पहले लेखक हैं जिन्होंने इन साहित्य-रूपों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया।

'कविवचन-सुधा' और 'हरिश्चन्द्र मैगेजीन' के प्रकाशन के कारण हिन्दी में पत्रकारिता की नींव दृढ़ हुई। धीरे-धीरे 'सारसुधानिधि', 'उचित-वक्ता' आदि पत्रिकाओं का प्रकाशन होने लगा। भारतेन्दु ने अपनी पत्रिकाओं के द्वारा देशोन्नति तथा निर्भीक पत्रकार-कला का आदर्श तत्कालीन पत्रकारों के सामने रखा। कोई भी पत्रिका हो उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है और किसी विशेष उद्देश्य को लेकर उसकी स्थापना होती है। यह प्रवृत्ति इस काल के प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं की स्थापना के पीछे एक प्रेरणा के रूप में कार्य करती रही। 'सारसुधानिधि' साप्ताहिक पत्रिका ने अपने उद्देश्य के पांच प्रयोजन लोगों के सामने रखे हैं:—

"१. भारतवासियों का भ्रमसंशोधन, सत्संस्कार स्थापन तथा इनके चित्त की स्थिरता और दृढ़ता संपादन करना।
२. यथार्थ हिन्दी भाषा का प्रचार करना और हिन्दी लिखने वालों की संख्या-वृद्धि करना।
३. देश देशान्तर की प्राचीन और नवीन, सामयिक घटना प्रकाशित कर के स्वदेशियों को बहुदर्शन कराना।

४. भारतवासियों की मानसिक तथा शारीरिक शक्ति नितान्त हीन और एकान्त जीर्ण हो गई है। इसकी यथोचित औषधि द्वारा मनस्विता, तेजस्विता और ओजस्विता आदि गुणों का संचार करना।

५. व्यापार को उत्तेजन देना।"

इन पांच प्रयोजनों में दूसरा प्रयोजन महत्वपूर्ण है। यथार्थ भाषा का प्रचार करने की दृष्टि से समाचार-पत्रों का प्रकाशन अत्यंत उपयोगी साधन है। हिन्दी की प्रारंभिक पत्रिकाओं के द्वारा भाषा के अलग-अलग रूप पाठकों के सामने रखे गये। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इन पत्रिकाओं के द्वारा पाठकों की संख्या बढ़ने में सहायता हुई और साथ ही नये-नये लेखकों की कृतियाँ सामने आयीं। इस प्रकार नये-नये लेखकों की कृतियों द्वारा साहित्य का निर्माण होने लगा और भाषा का यथार्थ रूप पाठकों के सामने आने लगा।

भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के कारण पाश्चात्य साहित्य तथा सभ्यता का प्रभाव शिक्षित लोगों के जीवन पर पड़ने लगा। अंग्रेज़ी साहित्य के प्रचार के कारण पाश्चात्य विचारों का प्रचार भी सर्वत्र दिखाई देने लगा और पाश्चात्य विचारों से प्रभावित शिक्षित लोगों का एक वर्ग बन गया। कुछ ऐसे ही शिक्षित भारतीय मिले जो पाश्चात्य सभ्यता के रँग में रंगकर अपनी भारतीयता को खो बैठे। परन्तु अधिकांश नवशिक्षितों ने पाश्चात्य विचारों के द्वारा भारतीय समाज को एक नया रूप देने का संकल्प किया तथा पिछड़े हुए भारतीय समाज के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया। सांस्कृतिक पुनर्जागरण का यह कार्य सर्वप्रथम बंगाल से राजा राममोहन राय ने आरंभ किया था।

राजा राममोहन राय ने (१७७२-१८३३) वर्णव्यवस्था और मूर्तिपूजा का विरोध किया और ब्रह्मसमाज की स्थापना (१८२८) की। राजा राममोहन राय ने सती-प्रथा का विरोध किया तथा विधवा-विवाह और अंग्रेजी शिक्षा का समर्थन किया। ब्रह्मसमाज के समान 'प्रार्थना समाज' (१८६०) नाम की एक और संस्था बंबई में स्थापित हुई। इस समाज का उद्देश्य यह था कि अन्तर्जातीय विवाह, खानपान, विधवा-विवाह, विधवाओं और हरिजनों का उद्धार और सामूहिक प्रार्थना हो। इस प्रकार के अनेक प्रार्थना-समाजों की स्थापना भारत के बड़े-बड़े शहरों में हुई और उनके द्वारा सामाजिक सुधार का आरंभ सर्वत्र आरंभ हुआ।

सामाजिक सुधार के आन्दोलन के कर्णधारों में रामकृष्ण गोपाल भंडारकर तथा न्यायाधीश रानडे का स्थान महत्व का है। इन्होंने अनेक नये समाज-सेवियों और राजनीतिक नेताओं को अपने कार्य की ओर आकर्षित किया। इनकी प्रेरणा से पूना में 'डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी' (१८८४) की स्थापना हुई और गोखले, आगरकर, तिलक जैसे व्यक्ति इस संस्था के सदस्य हुए। ये कार्यकर्ता आदर्शवादी थे और शिक्षा-प्रचार में अटूट विश्वास रखते थे। इन्हीं के प्रयत्न से पूना में फर्ग्यूसन कालेज की स्थापना

हुई। इस प्रकार भारत में सर्वत्र धीरे-धीरे शिक्षा का प्रचार होने लगा और राष्ट्रीय भावना को एक नयी चेतना मिली।

हिंदी गद्य के विकास की दृष्टि से आर्य-समाज की स्थापना एक महत्वपूर्ण घटना है। स्वामी श्री मद्द्यानंदजी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' (१८७५) हिन्दी में लिखकर उसके द्वारा हिन्दू-समाज में प्रचलित अन्ध-विश्वासों तथा रूढ़ियों का विरोध किया। बहुदेवोपासना, मूर्तिपूजा, जातिपाँति, अवतारवाद आदि की आलोचना की। स्वामीजी ने अपने विचारों द्वारा विधवा-विवाह और स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहित कर लिया तथा भारतीय संस्कृति का स्मरण दिलाकर देश में सांस्कृतिक वातावरण का निर्माण किया।

स्वामी दयानंदजी ने देश में एक सांस्कृतिक आन्दोलन की स्थापना कर के स्वभाषा (हिन्दी), स्वदेश, स्वधर्म, स्वराज्य आदि की आवाज उठायी। इस प्रकार स्वामीजी ने आर्य समाज के कार्य में हिन्दी को महत्व का स्थान देकर हिन्दी के प्रचार का प्रयत्न किया। 'सत्यार्थ प्रकाश' की भाषा का नमूना इस प्रकार मिलता है:—

**"जो संग्रामों में एक दूसरे को हनन करने की इच्छा करते हुए राजा लोग जितना अपना सामर्थ्य हो बिना डर पीठ न दिखा युद्ध करते हैं वे सुख को प्राप्त होते हैं। इससें विमुख कभी न हो, किन्तु कभी-कभी शत्रु को जीतने के लिये उनके सामने से छिप जाना उचित है क्योंकि जिस प्रकार से शत्रु को जीत सके वैसे काम करें जैसा सिंह क्रोध से सामने आकर शस्त्राग्नि में शीघ्र भस्म हो जाता है वैसे मूर्खता से नष्ट भ्रष्ट न हो जावें ।।५।।**[1]

उस समय आर्य समाज के सांस्कृतिक तथा पुनर्जागरंण के कार्य को साथ देने वाली दूसरी अनेक संस्थाओं का जन्म हुआ था। सन् १८७५ में भारत में थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना हुई। यह एक धार्मिक संस्था थी और हिन्दू धर्म की ओर आकर्षित हुई थी। समाज-सेवा का आदर्श 'रामकृष्ण मिशन' जैसी धार्मिक संस्थाओं द्वारा हो रहा था। सारांश, यह काल सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलन का था और भारत में सर्वत्र नये तथा पुराने विचारों का संघर्ष चल रहा था। इस दृष्टि से अंबिकादत्त व्यास, श्रद्धाराम फुल्लोरी, राधाचरण गोस्वामी आदि की धार्मिक गद्य-रचनाएँ विशेष महत्व रखती हैं।

अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार होने के कारण अंग्रेज लोग भी भारतीय संस्कृति और सभ्यता से परिचित होने लगे। परन्तु पाश्चात्य शिक्षा के कारण भारतीयों द्वारा ही भारत की संस्कृति, सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था आदि पर आघात होने लगे और

---

**१. स्वामी दयानन्द सरस्वती : 'सत्यार्थ प्रकाश' 'गोविन्दराम हासानंद द्वारा प्रकाशित द्वि० सं० सन् १९००, पृ० १९२**

उनकी प्रतिक्रिया के रूप में अनेक सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक आन्दोलनों का जन्म हुआ। इस प्रकार भारत में एक नयी चेतना का वातावरण सर्वत्र दिखाई दे रहा था। इस काल की पत्र-पत्रिकाओं में इन सब बातों की चर्चा हो रही थी। अतः अपने साहित्य-सेवा द्वारा समाज में नये युग का निर्माण करने वाले लेखकों की आवश्यकता थी और इस दृष्टि से भारतेन्दु का कार्य अत्यंत महत्वपूर्ण है।

भारतेन्दु के पहले जो कुछ गद्य-साहित्य मिला है उसमें एक प्रकार की निर्जीवता तथा शुष्कता है। भारतेन्तु ने अपनी रचना द्वारा ललित-साहित्य का आदर्श लोगों के सामने रखा। अभी तक भाषा के रूप के बारे में बहुत बड़ा संघर्ष हुआ था। रामप्रसाद निरंजनी, सदासुखलाल, राजा लक्ष्मण सिंह आदि ने हिन्दी भाषा की शैली के रूप में जो परंपरा दी थी उसको आगे बढ़ा कर अपनी भाषा शैली द्वारा हिन्दी को नई चाल में ढालने का कार्य भारतेन्दु ने किया।

राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मण सिंह ने अपनी विशेष भाषा नीति के अनुसार अरबी-फारसी और संस्कृत शब्दों की सहायता से एक कृत्रिम भाषा का निर्माण किया। भारतेन्दु ने समय के अनुसार भाषा की शैली का आदर्श लोक-रुचि की परख करके लोगों के सामने उपस्थित किया। भारतेन्दु ने भाषा का वर्गीकरण बोलने की भाषा, कविता की भाषा, लिखने की भाषा इन तीन रूपों में किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में साधु भाषा का प्रयोग करके सरल, सुबोध तथा परिमार्जित गद्य का रूप लोकरुचि के अनुसार प्रस्तुत किया। भारतेन्दु ने भाषा का रूप निर्माण करने की दृष्टि से किसी भाषा-नीति का उपयोग नहीं किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में ऐसे गद्य का आदर्श सामने रखा जिसमें प्रचलित अरबी, फारसी, उर्दू, ब्रजभाषा, संस्कृत आदि के भी शब्द हों। भाषा के निर्माण के बारे में एक विशेष नीति का पालन करके अपनी रचनाओं द्वारा भाषा का परिष्कृत रूप लोगों के सामने रखने का कार्य भारतेन्दु ने किया। इस प्रकार की भाषा में स्वभाविकता के गुण कम होते हैं परन्तु भाषा का एक आदर्श रूप लोगों में प्रचलित होने की धारणा निर्माण करने का कार्य भारतेन्दु ने किया। इसलिये भाषा के रूप का महत्व भी बढ़ गया।

भारतेन्दु ने हिन्दी नई चाल में ढलने का वर्ष सन् १८७३ दिया है परन्तु 'कविवचन-सुधा' और 'विद्यासुन्दर' के प्रकाशन के साथ ही उनकी 'हरिश्चंद्री हिन्दी' का प्रारंभ होता है। बाद में उनकी रचनाओं में भाषा की कोई विशेष युगांतकारी शैली नहीं मिलती। 'हिन्दी नई चाल में ढली' से उनका यह तात्पर्य था कि उनकी हिन्दी में किसी भी प्रकार के बंधन को स्थान नहीं है और उसे किसी भी कृत्रिम रूप में ढलने का या तैयार करने का प्रयोग नहीं किया है।

भारतेन्दु ने अपने गद्य में तद्भव तथा देशज शब्द का उपयोग करके ग्रामीण कहावतों तथा मुहावरों का प्रयोग किया। जनता की भाषा का आदर्श सामने रख

कर उन्होंने विदेशी शब्दों का उपयोग जनसाधारण की समझ का ध्यान रखकर किया। इसलिये उनकी भाषा जनसाधारण के लिये सुलभ हुई और गद्य की एक नयी शैली का आविर्भाव हुआ जो साधारणतया उच्चारण-सम्मत सिद्धान्त पर निर्मित हो रही थी।

भारतेन्दु की भाषा शैली का अध्ययन उनके 'हिन्दी भाषा' (१८८४) शीर्षक लेख के आधार पर किया जा सकता है। इस लेख में उन्होंने तत्कालीन हिन्दी भाषा के अनेक नमूने दिये हैं तथा वांछित शैलियों को निर्देश किया। इन शैलियों के आधार पर उनकी भाषा का विभाजन 'लोक-भाषा और साहित्यिक भाषा' में किया जाता है। उन्होंने 'नाटक' शीर्षक लेख साहित्यिक भाषा में लिखा और साहित्यिक शैली, जो विवेचनात्मक है, निबंधों में मिलती है। विषय के अनुसार उनकी भाषा में परिवर्तन भी मिलता है। लेकिन अपनी भाषा के लिये शब्दों का चुनाव किसी विशेष प्रयोग के अनुसार नहीं किया। जहाँ शब्दों के प्रयोग का प्रश्न आया वहाँ गंभीर प्रश्नों का विश्लेषण करने के लिये संस्कृत शब्दों का उपयोग किया। उनकी भाषा का यथार्थ रूप इस रूप में मिलता है:—

> **"हे स्त्री देवो! संसार रूपी आकाश में गुब्बारा (बैलून) हो, क्योंकि बात बात में आकाश में चढ़ा देती हो, पर जब धक्का दे देती हो तब समुद्र में डूबना पड़ता है अथवा पर्वत के शिखरों पर हाड़ चूर्ण हो जाते हैं, जीवन के मार्ग में तुम रेलगाड़ी हो, चौदहों भुवन दिखला देती हो, कार्य क्षेत्र में तुम इलेक्ट्रिक टेलीग्राफ हो, बात पड़ने पर एक निमेष में उसे देश-देशांतर में पहुँचा देती हो, तुम भवसागर में जहाज हो, बस अधम को पार करो।"**[1]

भारतेन्दु जी ने अपनी शैली में लोकभाषा को स्थान देने की दृष्टि से अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग किया है। प्रान्तीय शब्द और व्याकरण के दोषों से उनकी भाषा पूर्णतया मुक्त नहीं है। लेकिन उन्होंने भाषा को व्याकरण-सम्मत तथा परिष्कृत करने का प्रयत्न नहीं किया न इसके लिये उपयुक्त वातावरण था। इतना ही कहा जा सकता है कि उनकी भाषा उस समय के गद्य-लेखकों की अपेक्षा अधिक साफ-सुथरी है। वे 'निजभाषा उन्नति' को ही देश की सर्वांगीण उन्नति का मूल मानते थे। भाषा के प्रति उनकी यह जागरूकता उनकी राष्ट्रीयता के रूप में कार्य कर रही थी और उनकी इस राष्ट्रीय भावना ने हिन्दी भाषा को जन भाषा बनने के लिये सचेत किया।

---

१. सं० ब्रजरत्नदास : भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग ३ 'स्तोत्र पंचरत्न', से०, पृ० ८४६

हिन्दी गद्य-साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु का महत्व केवल उनकी भाषा की दृष्टि से नहीं है। उनका जन्म, जीवन और मृत्यु हिन्दी साहित्य में एक युगांतर्कारी घटना है। भारतेन्दु एक युग का कार्य लेकर हिन्दी के क्षेत्र में आये और उन्होंने अपना सारा जन्म निजभाषा और निजसाहित्य की उन्नति के लिये व्यतीत किया। उनके जन्म तक हिन्दी साहित्य में कथा, कहानी और इतिहास की चर्चा चल रही थी। परन्तु भारतेन्दुजी ने अपनी साहित्य-सेवा द्वारा हिन्दी साहित्य में एक नया युग निर्माण किया।

भारतेन्दु ने अपनी रचनाओं द्वारा उपन्यास, नाटक, निबंध, आलोचना, प्रहसन आदि विविध साहित्य-प्रकारों का आदर्श उपस्थित किया। उन्होंने अनेक नाटकों की रचना करके नाटक के प्रति जनता में रुचि निर्मित की और नाटक-साहित्य के विकास में एक युगांतर्कारी प्रेरणा दी। उन्होंने अपने नाटकों द्वारा भारतीय राष्ट्रीय भावना का प्रचार करके भारत की सर्वांगीण उन्नति के लिये अनेक उपायों का निर्देश किया। निबंधों में उनके राजनीतिक तथा सामाजिक विचारों का प्रणयन हुआ है। उनकी हरएक कृति परंपरा की एक नयी दिशा लेकर आगे बढ़ी। उनके संपर्क में जितने लेखक आये वे सब उनकी मृत्यु के बाद भी अपनी अनेक साहित्यिक रचनाओं का निर्माण कर सके। उन्होंने अपने मित्रों की कृतियों के रूप में हिन्दी गद्य की परंपरा को सजीव रूप म चलने दिया।

भारतेन्दु ने हिन्दी में साहित्य निर्माण करने की दृष्टि से अनेक लेखकों को प्रोत्साहित किया। उन्होंने अपने जीवनकाल में गद्य-लेखकों और कवियों का एक अच्छा मंडल तैयार किया। उनके काल के गद्य-लेखकों में पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रताप-नारायण मिश्र, श्रीनिवासदास, पं० केशवदास भट्ट, कार्तिक प्रसाद खत्री, ठाकुर जगमोहन सिंह, राधाचरन गोस्वामी, अंबिकादत्त व्यास, दुर्गाप्रसाद मिश्र आदि मुख्य थे। इन लेखकों ने भारतेन्दु की मृत्यु के बाद भी हिन्दी गद्य-निर्माण में अपना सहयोग दिया। इनमें अधिकतर लेखक उस समय के किसी न किसी पत्र-पत्रिका के संपादक थे या संपादक के सहकारी लेखक थे। अतः इन लेखकों की कृतियों में सामयिक विषयों को ही प्राधान्य मिला है।

भारतेन्दु-युग का सूत्रपात हिन्दी समाचार पत्रों के प्रकाशन के साथ हुआ। भारतेन्दु काल में ही 'कविवचन-सुधा', 'सारसुधानिधि', 'उचित-वक्ता' आदि पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही थीं। इन पत्रिकाओं में निबंध, नाटक, उपन्यास आदि हिन्दी गद्य के विविध रूप दिखाई पड़ते हैं। उसी प्रकार भारतेन्दु की मृत्यु के बाद 'शुभचिंतक' (१८८८), हिन्दी बंगवासी (१८९०), 'कवि व चित्रकार' (१८९१), काशी की नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (१८९७) आदि पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। सन् १८७३ से १९०० तक प्रकाशित पत्रों की संख्या तीन सौ-साढ़े तीन सौ से अधिक थी तथा अधिकांश पत्र मासिक या साप्ताहिक थे। इन पत्र-पत्रिकाओं में भी नवलकथा (उपन्यास)

नाटक, निबंध, जीवनचरित, आलोचना, प्रहसन आदि गद्य-रूपों का प्रकाशन होता रहा।

भारतेन्दु ने अपनी पत्रिकाओं का उपयोग देश की सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक समस्याओं पर प्रकाश डालने के लिये किया था और यही परंपरा भारतेन्दु के बाद भी चलती रही। इन पत्र-पत्रिकाओं ने उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी के गद्य लेखकों और शैलीकारों का मार्ग दर्शन करके उनकी कृतियों को लोगों के सामने उपस्थित करने का कार्य किया। लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि इन सब पत्र-पत्रिकाओं की फाइलें अभी तक सुरक्षित नहीं मिलतीं। और न जाने इन महान लेखकों के समान और कितने लेखकों के निबंध तथा अन्य साहित्यिक लेख आज हमें अलभ्य जैसे हैं।

भारतेन्दु काल में जो कुछ साहित्यिक रचनाएँ सामने आयीं उनमें अधिकतर तत्कालीन पत्रिकाओं के द्वारा लोगों के सामने उपस्थित हुईं। पुस्तक रूप में साहित्य का प्रकाशन इस काल में कम मिलता है। इससे माना जा सकता है कि साहित्य के प्रति रुचि रखने वाले लोगों की संख्या कम थी। 'कविवचन-सुधा', 'हरिश्चंद्र मैगेज़ीन', 'आनंदकादंबिनी', 'हिन्दी-प्रदीप' आदि पत्रिकाओं के फाइलों में अनेक रचनाएँ ऐसी मिलती हैं कि उनका प्रकाशन पुस्तक रूप में नहीं हुआ है। इसलिये सामयिक रचनाओं का प्रकाशन इन पत्र-पत्रिकाओं में हुआ। इस काल की जितनी साहित्यिक कृतियाँ मिलती हैं उनके लेखक अधिकतर इन पत्रिकाओं के संपादक ही थे। इसलिये अच्छे-अच्छे उपन्यासकार, नाटककार और आलोचक के रूप में इस काल के संपादक-वर्ग ने हिन्दी गद्य का विकास किया है।

भारतेन्दु के जीवन-काल में उपन्यास, नाटक, निबंध, आलोचना आदि की प्रारंभिक रचनाएँ लिखी गयीं। विशेषतः उपन्यास, नाटक तथा निबंध का सूत्रपात भारतेन्दु के जीवन-काल में हुआ।

पंडित श्रद्धाराम फुल्लोरी ने स्त्री-शिक्षा का महत्व लोगों के सामने रखने के लिये 'भाग्यवती' (१८७७) शीर्षक एक कथा-प्रधान रचना का निर्माण किया। इसमें आधुनिक उपन्यास के कुछ तत्व ढूँढे जा सकते हैं लेकिन आधुनिक उपन्यास की परंपरा का मूल इस किताब में नहीं मिलता। परन्तु इस रचना द्वारा कथा का जो रोचक ढंग तथा भाषा का व्यावहारिक रूप लोगों के सामने रखा गया वह अत्यंत महत्वपूर्ण है। पं० श्रद्धाराम फुल्लोरी की भाषा में पंजाबी-मिश्रित हिन्दी का रूप मिलता है। उनकी 'भाग्यवती' रचना में भाषा का नमूना इस प्रकार मिलता है:—

> **"पण्डित जी प्रसन्न होकर भाग्यवती के पास आये और गली में की कई लड़कियों के सामने यह बात कह के वह माला दी कि बेटा भाग्यवती! राजाजी तेरे बनाये हुए रुमाल को देखके बहुत आनंदित हुए, सारी सभा के सामने उन्होंने यह मोती की माला तेरे लिये भेजी है। उनका गुण विद्या चतुराई को देख के**

**अति आनन्द मानता है, यदि इन लड़कियों में से भी कोई कुछ अपनी चतुराई राजाजी को दिखावे तो वह अवश्य अपनी उदारता दिखावेंगे।"**[1]

उपन्यास और नाटक-साहित्य की दृष्टि से लाला श्रीनिवास दास जी का नाम अत्यंत महत्व का है। उपन्यास-साहित्य की दृष्टि से उनकी 'परीक्षागुरु' (१८८२) रचना 'हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास' के रूप में सामने आयी। हिन्दी के पहले दु:खान्त नाटक के रूप में उनका 'रणधीर सिंह प्रेममोहिनी' (१८७८) नाटक महत्व का है। इन्होंने इन दो रचनाओं द्वारा दिल्ली से बनारस के परे बोलने वालों की भाषा का नमूना उपस्थित किया। उनके 'परीक्षागुरु' उपन्यास में उनकी भाषा का नमूना इस प्रकार मिलता है:—

**"परन्तु आज ब्रजकिशोर की वह सफाई और सचाई कहाँ है? हरकिशोर का कहना इस समय क्या झूठ है? इस्के आचरण से इस्को धर्मात्मा कौन बता सक्ता है? और जब ऐसे खर्तल मनुष्य का अंत में यह भेद खुला तो संसार में धर्मात्मा किस्को कह सक्ते हैं?"**[2]

भारतेन्दु के जीवनकाल में अनेक छोटे-बड़े उपन्यास लिखे गये लेकिन उनमें साहित्यिकता कम थी। इस दृष्टि से देखा जाय तो कथा-साहित्य की रोचकता का परि-पोषण ठाकुर जगमोहन सिंह की 'श्यामा-स्वप्न' (१८८५) में मिलता है। इसमें उपन्यास की अपेक्षा गद्यकाव्य की शैली मिलती है। ठाकुर साहब संस्कृत साहित्य के विज्ञ होने के कारण संस्कृत की काव्यात्मक शैली उनकी रचना में मिलती है। उनकी रचना में उनके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट मिलती है। 'श्यामा स्वप्न' (१८८५) में भाषा का नमूना इस प्रकार मिलता है:—

**"ऐसे दंडकारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला जो नीलोत्पला की झाड़ी और मनोहर पहाड़ी के बीच होकर बहती है कंकगृध्र नामक पर्वत से निकल अनेक अनेक दुर्गम विषम और असम भूमि के ऊपर से बहुत से तीर्थ और नगरों को अपने पुण्य जल से पावन करती पूर्व समुद्र में गिरती है।"**[3]

'श्यामा-स्वप्न' की भाषा में संस्कृत शैली का दर्शन स्पष्ट दिखाई पड़ता है। वे हृदय से कवि थे। इसलिये उनकी भाषा में कविहृदय की सरसता और माधुर्य मिलता है। डा० श्रीकृष्णलाल ने उनकी भाषा के बारे में अपना निर्णय इस प्रकार दिया है:—

**"श्यामा-स्वप्न" में स्थान-स्थान पर भाषा बड़ी संस्कृत-गर्भित और तत्सम-प्रधान हो गई है। संस्कृत काव्यों के प्रभाव से कवि ने जहाँ तहाँ जो प्रकृति-वर्णन**

---

१. पं० श्रद्धाराम फुल्लोरी, 'भाग्यवती' आवृत्ति पंचम्, सं० १९७२, पृ० २६

२. सं० डा० श्रीकृष्णलाल : 'परीक्षा गुरु' प्रथम संस्करण, पृ० ३३९

३. सं० डा० श्रीकृष्णलाल 'श्यामास्वप्न', प्रथम संस्करण, सं० २०१०, पृ० ४१

**किए हैं उनमें भाषा संस्कृतनिष्ठ और अलंकृत हो गई है, पर अन्य स्थानों पर इस ग्रंथ की भाषा में तद्भव शब्दों की प्रधानता है जो 'हरिश्चंद्री हिन्दी' की विशेषता है। वर्णन इनके बड़े ही स्वाभाविक और सुन्दर हैं परन्तु उनमें रीतिकालीन परम्परा की स्पष्ट छाप है।"[१]**

पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण अनेक गद्य-लेखकों ने अपनी रचनाएँ लोगों के सामने रखने का प्रयत्न किया। इनमें अधिकतर लेखकों ने अच्छे-अच्छे निबंध लिख कर अपने निबंधों द्वारा भाषा को परिमार्जित रूप दिया है। उनके निबंधों में भारत की सामाजिक, राजनीतिक, तथा सांस्कृतिक समस्याओं पर विचार मिलते हैं। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंध-साहित्य में ही दिखाई पड़ता है। इसलिए इस काल के निबंध- साहित्य में हिन्दी ग्रद्य का परिष्कृत रूप मिलता है। भारतेन्दु के बाद अपने निबंधों द्वारा हिन्दी गद्य का सशक्त तथा सजीव रूप लोगों के सामने उपस्थित करने का कार्य पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी, गोविंद नारायण मिश्र, बालमुकन्द गुप्त आदि गद्य-लेखकों ने किया।

भारतेन्दु के बाद हिन्दी गद्य को स्थिर रूप देने का कार्य पं० बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४) और पं० प्रतापनारायण मिश्र (१८५६-१८९४) ने किया। इन दोनों लेखकों की यह विशेषता है कि हिन्दी गद्य के कृतिकार के व्यक्तित्व के निजत्व की छाप इनकी रचनाओं में मिलती है।

पं० बालकृष्ण भट्ट के आविर्भाव के समय हिन्दी भाषा में विशेष स्थिरता नहीं थी। उन्होंने अपनी भाषा में नवीन भावों की प्रकाशन-क्षमता लाने के लिय अन्य भाषाओं और बोलियों से अच्छे-अच्छे शब्दों का ग्रहण करने का प्रयत्न किया। भाषा का बाहरी प्रभाव उनकी भाषा में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उन्होंने कहीं-कहीं अंग्रजी शब्दों को ज्यों का-त्यों रख दिया है।

भट्ट जी एक प्रतिभा-संपन्न संपादक होने के कारण उनकी भाषा में साहित्यिक प्रौढ़ता और भावव्यंजना शक्ति है। अपने वर्णित विषय को मनोरंजन के साथ पाठकों के सामने रखने में बड़े निष्णात हैं। व्यंग्यात्मकता उनकी भाषा-शैली का एक विशेष गुण है। भाषा शैली और साहित्यसंवर्धन की दृष्टि से इस काल के लेखकों में भट्ट जी का स्थान महत्वपूर्ण है।

पं० प्रतापनारायणमिश्र ने साधारण जनता को अपने सामने रखकर अपनी रचनाओं का निर्माण किया। परिणामतः आपकी भाषा शैली में एक सहज सरलता आयी। मिश्रजी एक उच्च कोटि के निबंधकार थे और उन्होंने अपनी भाषा में ग्रामीणता को आश्रय देकर भाषा का सर्वसाधारण रूप जनता के लिये सुलभ कर लिया।

---

१. सं० डा० श्रीकृष्णलाल 'श्यामा स्वप्न', प्रथम संस्करण, सं० २०१०, पृ० ३३

ग्रामीण मुहावरों और कहावतों का प्रयोग मिश्रजी की कला में प्रचुर-मात्रा में मिलता है। उनका लिखने का ढंग बड़ा आकर्षक है और उसमें एक प्रकार की चुस्ती और बांकापन मिलता है। उन्होंने अपनी भाषा को साहित्यिक रूप प्रदान किया परन्तु साथ ही शैली की व्यावहारिकता पर भी लक्ष दिया। इस प्रकार मिश्रजी ने अपनी साहित्यिकता के साथ ग्रामीण और बोलचाल की भाषा का मिश्रण करके अपनी एक नवीन शैली को जन्म दिया।

पं० बालकृष्ण भट्ट तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र जी की रचनाओं के कारण हिन्दी गद्य को स्थिरता और शक्ति आ रही थी, पं० बदरीनारायण चौधरी (१८५५-१९२३) ने उसमें एक नूतन और अलौकिक गद्य-शैली का रूप निर्माण करके गद्य की शक्ति को और भी बढ़ाया।

'प्रेमघन' जी भारतेन्दु-मंडल के प्रमुख लेखक तथा पत्रकार थे। उन्होंने 'आनंद कादंबिनी' और 'नागरी-नीरद' पत्रिकाओं का संपादन किया। वे अपनी कलम की कारीगरी दिखाना अपनी लेखनी का कार्य मानते थे। वे अपनी भाषा के सजावट में अत्यंत दक्ष थे, इसलिये एक-एक शब्द गढ़कर लिखते थे। 'प्रेमघन'जी जैसे कुशल संपादक थे वैसे ही वे प्रसिद्ध नाटककार और समालोचक भी थे। उनका 'भारत सौभाग्य' नाटक (१८८९) उर्दू मिश्रित हिन्दी में मिलता है। उन्होंने हिन्दी में आलोचना साहित्य का सूत्रपात किया।

पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० प्रतापनारायण मिश्र के समान पं० गोविंदनारायण मिश्र और पं० बालमुकुन्द गुप्त दोनों अपनी अलग-अलग गद्य-शैलियाँ लेकर आये। मिश्रजी ने अपनी पांडित्यपूर्ण शैली द्वारा हिन्दी गद्य-संसार में भाषा की समासांत-पदावली का आदर्श उपस्थित किया। गुप्तजी ने अपनी सुबोध तथा सरल भाषा-शैली द्वारा पाठकों के मन को एक प्रकार के हलकेपन का अनुभव दिया।

पं० गोविंद नारायण मिश्र इस काल के एक धुरंधर लेखक माने जाते थे। अभी तक हिन्दी संसार में मिश्रजी के समान पांडित्यपूर्ण शैली का प्रयोग दुर्लभ था। उनकी इस शैली का आभास पं० बदरीनारायण चौधरी की भाषा में मिलता है। लेकिन चौधरी की रचना में मिश्रजी के समान दीर्घ समासांत पदावली नहीं मिलती। मिश्रजी की शैली में सामाजिक पदावली का इतना बाहुल्य है कि वाक्य के अन्त तक आते-आते अर्थ का पूर्वापार संबंध समझ लेना साधारण पाठक के लिये सहज नहीं।

मिश्रजी की इस पांडित्यपूर्ण शैली का विकास होना इस काल के लिये अस्वा-भाविक लगता है। इसी कारण मिश्र जी की इस पांडित्यपूर्ण शैली का विकास आगे के किसी विशेष लेखक की कृतियों में नहीं दिखाई पड़ता। केवल 'हृदयेश' की भाषा-शैली में इस प्रकार की शैली का आभास मिलता है। अतः मिश्रजी की भाषा उच्च कोटि की होकर भी साधारण पाठक के लिये सुलभ तथा सहज नहीं है।

पं० गोविंद नारायण मिश्र के बिलकुल उलटी शैली लेकर बाबू बालमुकुन्द गुप्त (१८६५-१९०७) हिन्दी गद्य के क्षेत्र में आये। उनका रचना-काल भारतेन्दु के उत्तरार्द्ध से द्विवेदी युग के पूर्वार्द्ध तक फैला है। उनकी रचनाओं में भारतेन्दु युग की राष्ट्रीय-भावना और एक नये समाज की स्थापना की आकुलता मिलती है।

गुप्त जी एक कुशल पत्रकार तथा निबंधकार के नाते हिन्दी गद्य के विकास में अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। भारत की राजनीतिक अराजकता और सामाजिक वुराइयों के विरुद्ध लेखनी चलाना उनकी पत्रकारिता तथा निबंधशैली का आदर्श था। गुप्तजी उर्दू के विद्वान् थे। इसलिये उनकी भाषा में उर्दू शब्द और उर्दू शैली का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। गुप्तजी ने भारत की राजनीतिक तथा सामाजिक परस्थिति के अनुसार अनेक निबंध लिखे। वे अपने विचारों को विनोदपूर्ण वणनों के भीतर ऐसे ढंग से रखते थे कि उनके अन्दर उनके असली विचार और भाव लुके-छिपे रूपों में पाठकों के सामने स्पष्टता से आते थे। 'शिवशम्भु का चिट्ठा' में संग्रहीत निबंधों में उनकी इस शैली का दर्शन होता है।

गुप्तजी की भाषा-शैली की यह एक विशेषता है कि वे गंभीर से गंभीर विचारों को ऐसे ढंग से लिखते हैं कि उसमें सरलता तथा सचित्रता के साथ एक चुलबुलापन और गुदगुदी पैदा करने वाला व्यंग्य मिलता है। उनकी लेखनी की कला किसी भी विषय पर विनोद और मनोरंजन का रंग डालकर उनके विचारों को जन साधारण तक पहुँचाने तक शक्ति रखती है। उनके विचारों और भावों में जनता के प्रति एक अपील रहती है।

गुप्तजी के सभी लेखों में भारत के राष्ट्रीय जागरण की नवचेतना प्रस्फुटित हुई। उन्होंने अंग्रेजी सरकार पर शिवशंभु के चिट्ठों द्वारा जो व्यंग्य किये हैं वे बड़े तीखे और मार्मिक हैं। उनकी भाषा नाटक के लिये उपयुक्त थी। अभी तक लेखकों ने हिन्दी भाषा के प्रयोगों के औचित्य-अनौचित्य पर ध्यान नहीं दिया था। लेकिन गुप्तजी ने भाषा की शक्ति को ठीक समझ कर अपनी भाषा-शैली का रूप लोगों के सामने रखा।

इस काल में हिन्दी गद्य को प्रेरणा देने वाली अनेक शक्तियों में राजनीतिक जाग्रति एक प्रमुख शक्ति थी जिसका बीजारोपण सन् १८८५ में 'इंडियन नेशनल काँग्रेस' की स्थापना के साथ-साथ हुआ। इसी साल भारतेन्दु जी का स्वर्गवास हुआ। कुछ ऐसा भी कहा जा सकता है कि भारतेन्दु ने जिस कार्य को हाथ में लिया था उसका राष्ट्रीय रूप इस संस्था के द्वारा सजीव रूप में लोगों के सामने आया।

इस समय लार्ड डफरिन भारतवर्ष के वायसराय थे और वे स्वयं इंडियन नेशनल काँग्रेस जैसी राष्ट्रीय संस्था की आवश्यकता का अनुभव करते थे। काँग्रेस का कई वर्षों तक केवल यहीं उद्देश्य था कि भारत की राज्य-व्यवस्था में भारतीयों की अधिक से अधिक संख्या ली जाय और शासन व्यवस्था संबंधी छोटे-मोटे सुधार किए जायँ। परन्तु काँग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में केवल प्रस्ताव पास करने से काम न

चलने के कारण काँग्रेस के दल की नीति में कड़ाई लाने का प्रयत्न कुछ युवकों ने किया। इस समय लोकमान्य तिलक जैसे नेता का मार्गदर्शन मिलने के कारण काँग्रेस में एक प्रकार की सजीवता आई। तिलकजी ने साफ कहा कि स्वतंत्रता भिक्षा माँगने से नहीं मिलती। उसके लिये साधना और त्याग की आवश्यकता है। लेकिन सन् १८९७ में उनको अठारह मास की कड़ी सजा मिली। इसी कारण सारा देश उनकी ओर आकर्षित हुआ और सारे भारत में राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार बड़े जोरों से होने लगा।

इस प्रकार इस काल के बाबू नवीनचंद्र राय, बाबू तोताराम, राजा रामपाल सिंह, पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, कार्तिक प्रसाद खत्री, पं० केशवराम भट्ट, भीमसेन शर्मा, देवीप्रसाद मुंसिफ, पं० राधाचरण गोस्वामी, पं० अम्बिकादत्त व्यास, देवकी नंदन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी आदि गद्य-लेखकों ने अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी गद्य के विकास में सहयोग दिया।

भारतेन्दु-युगीन लेखकों की रचनाओं को देखने से यह दिखाई देता है कि इस काल में नाटक, उपन्यास, निबंध, आलोचना आदि साहित्यिक गद्य-रूपों का जन्म होकर वे समय की गति के अनुसार अपने विकास की दिशा की ओर बढ़े थे। परन्तु उनके रचना-विधान में कोई स्थिरता दिखाई नहीं पड़ती। अतः उन की निर्मिति में अनेक प्रयोग होते रहे। इस काल के समूचे साहित्य पर बँगला और अंग्रजी साहित्य का प्रभाव किसी न किसी रूप में मिलता है।

भाषा की दृष्टि से देखा जाय तो हिन्दी गद्य का स्वच्छ रूप उपन्यास और निबंध की भाषा में मिलता है। मनोरंजन तथा लोक-जाग्रति का कार्य इस काल के नाटक और उपन्यासों द्वारा हुआ। इस काल के निबंधों ने राष्ट्रीय विचारों का प्रचार किया। आलोचना में प्रगति के लक्षण कम दिखाई पड़ते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भाषा का रूप अस्थिर ही था। भाषा को व्यवस्थित रूप में परिष्कृत करने की दृष्टि से अनेक प्रयोग हो चुके थे। फिर भी भाषा का रूप खिचड़ी जैसा बना था और शुद्धता की दृष्टि से उसमें बल था। भाषा की इस प्रकार की अनेक कमजोरियों को दूर करने का कार्य बाकी रह गया।

सन् १८९३ में 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना हुई और हिन्दी साहित्य के विकास का एक नया अध्याय खोला गया। सन् १८९७ में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का प्रकाशन अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है। हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास की दृष्टि से अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन होने लगा और नये-नये लेखक आगे आये। उन्नीसवीं शताब्दी का यह अन्तिम शतक अपना एक विशेष महत्व रखता है।

सन् १८७३ से सन् १९०० तक का समय हिन्दी गद्य के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन अट्ठाईस वर्षों में हिन्दी गद्य-साहित्य की उन्नति केवल हिन्दी साहित्य की दृष्टि से ही नहीं खड़ी बोली के विकास की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

## निर्माण–काल (१९०० से १९२० ई० तक)

हिन्दी गद्य-साहित्य की दृष्टि से बीसवीं शताब्दी का आरम्भ एक नये युग का सूत्रपात करता है। उन्नीसवीं शताब्दी में गद्य-साहित्य का जो कुछ निर्माण हुआ था वह अत्यन्त अव्यवस्थित ढंग से हुआ था। उस काल में भाषा, साहित्य का उद्देश्य आदि के बारे में अनेक समस्याएँ थीं और साहित्य की धारा बहुत धीरे-धीरे चली थी। परन्तु काशी की नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना सन् १८९३ ई० में होने के कारण हिन्दी गद्य के विकास के लिये नई प्रेरणा मिली।

काशी नगरी प्रचारिणी सभा की स्थापना के बाद हिन्दी के विकास की दृष्टि से अनेक प्रयत्न हुए। सभा के द्वारा नागरी.प्रचारिणी पत्रिका का प्रकाशन सन् १८९७ से प्रारम्भ हुआ और हिन्दी साहित्य संबंधी अनेक आलोचनात्मक तथा शोध संबंधी लेख प्रकाशित होने लगे। सभा ने सन् १८९८ में 'आर्यभाषा पुस्तकालय' की स्थापना करके हिन्दी साहित्य के अध्ययन के लिये एक स्थायी पुस्तकालय का निर्माण किया। अब सभा के सामने हिन्दी के बारे में एक महत्वपूर्ण कार्य था और वह था हिन्दी को अदालत में स्थान दिलाना। सभा ने हिन्दी को अदालत में स्थान दिलाने के लिए बहुत बड़ा आन्दोलन करने का निश्चय किया।

सभा के उस उद्योग में पं० मदन मोहन मालवीय ने अत्यन्त परिश्रम किया। उन्होंने 'कोर्ट करैक्टर एण्ड प्रायमरी एज्युकेशन' नाम की एक पुस्तक लिखी। उनके इस ग्रंथ को सन् १८९८ में संयुक्त प्रान्त के लेफ्टनंट गवर्नर सर ऐंटनी मैकडानल के सामने नागरी मेमरेंडम के प्रतिनिधि-मंडल ने अपने निवेदन-पत्र के साथ उपस्थित किया। सभा ने अंग्रेजी में 'शुड नागरी बी इन्ट्रोड्यूस्ड इन कोर्ट?' नाम की पुस्तिका छपवा कर उसकी हजारों प्रतियां जनता में वितरित करके तीन साल तक नागरी प्रचार की धूम मचा दी। इस प्रकार सभा के तीन वर्षों के निरंतर प्रयत्न के बाद हिन्दी को सन् १९०० में अदालत में स्थान दिया गया।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में सन् १९०० ई० अत्यन्त महत्व का वर्ष है। हिन्दी साहित्य की प्रगति की दृष्टि से इस वर्ष में तीन महत्व के कार्य हुए—

१. काशी की नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सरकारी सहायता से हिन्दी की हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का आरम्भ।
२. न्यायालयों में हिन्दी का प्रवेश।
३. प्रयाग से 'सचित्र सरस्वती' तथा काशी से 'सुदर्शन' पत्रिकाओं का प्रकाशन।

काशी की 'नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना के बाद हिन्दी के विकास में एक नये युग का आरम्भ होता है। हिन्दी का उपयोग शिक्षाप्रचार में करने की दृष्टि से हिन्दी का साहित्य-भंडार समृद्ध करना आवश्यक था। विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा देने के लिए सब प्रकार का साहित्य प्रकाशित करना आवश्यक हुआ। इस समय अनेक

हस्तलिखित ग्रंथ पड़े थे जिनका प्रकाशन नहीं हो चुका था। इन ग्रंथों को खोज कर उनके संरक्षण की व्यवस्था करना बहुत आवश्यक था। यह कार्य सभा ने सन् १९०० से आरम्भ किया और उसके निरीक्षक बाबू श्यामसुन्दर दास थे। बाद में इस कार्य के लिए सरकार की ओर से सहायता मिलने लगी और इस कार्य की वार्षिक रिपोर्ट सरकार के पास भेजी जाती थी। सन् १९०५ के बाद खोज के कार्य की रिपोर्ट त्रैवार्षिक प्रकाशित होने लगी। इस प्रकार के खोज कार्य के कारण अनेक अप्रकाशित ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ सभा के कार्यालय में एकट्ठी की गयीं और अनेक हिन्दी के प्राचीन कवियों और लेखकों की अप्रकाशित रचनाएँ सभा के कार्यालय में सुरक्षित रखी गयीं। इस प्रकार हिन्दी की अनेक हस्तलिखित पुस्तकों की खोज होने के कारण अनेक महत्व की रचनाएँ सामने आईं और कवियों और लेखकों की कृतियों पर प्रकाश डाला गया। हिन्दी साहित्य की विकास-परम्परा का ठीक निरीक्षण करने की दृष्टि से इस प्रकार का कार्य अत्यन्त महत्व का है।

भाषा के विकास की दृष्टि से शब्दकोश और व्याकरण की आवश्यकता है। हिन्दी में एक बहुत बड़ा शब्दकोश तैयार करने की योजना एक प्रस्ताव के रूप में राधाकृष्ण द्वारा सन् १८९४ में सभा के सामने रखी गयी और शब्दकोश तैयार करने का कार्य सन् १९०८ से आरम्भ हुआ। दो साल के बाद कोष तैयार हुआ और सन् १९२९ में उसकी छपाई पूर्ण होकर एक पूरे कोश के रूप में लोगों के सामने आया। इस प्रकार 'हिन्दी शब्द सागर' को एक स्थायी रूप मिला। बड़ा कोश खरीदने में जो असमर्थ थे और जो स्कूल के विद्यार्थी थे उनके लिए एक संक्षिप्त कोश सन् १९३२ में तैयार करवाया। इसी प्रकार कोष के समान हिन्दी के एक अच्छे व्याकरण की आवश्यकता का अनुभव किया गया और उसको लिखवाने के लिए बहुत प्रयत्न किये गये। अन्त में श्री गंगाप्रसाद और श्री रामकरण के व्याकरणों के आधार पर श्री कामता प्रसाद गुरु ने एक सर्वांगपूर्ण व्याकरण तैयार किया। इस व्याकरण का एक संक्षिप्त रूप 'संक्षिप्त हिन्दी व्याकरण' शीर्षक से हाई स्कूल के विद्यार्थियों के लिये प्रकाशित किया गया। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के विकास की दृष्टि से अनेक प्रकार के कार्य की ओर सभा की दृष्टि गयी और हिन्दी के विकास के लिये ठीक वातावरण तैयार होने लगा।

न्यायालयों में हिन्दी को स्थान मिलना इस काल की एक महत्वपूर्ण घटना है परन्तु वास्तविक रूप में हिन्दी का उपयोग न्यायालयों में नहीं हो रहा था। लोगों का समाधान करने की दृष्टि से सरकार ने आज्ञापत्र निकालकर न्यायालयों में हिन्दी के उपयोग की घोषणा की। परन्तु हिन्दी न्यायालयों में कभी महत्वपूर्ण स्थान नहीं पा सकी। इस प्रकार सरकारी दफ्तरों में उर्दू को महत्वपूर्ण स्थान मिलने के कारण उत्तर भारत की जनता अपनी भाषा और लिपि को भूल रही थी। यह भाषा और

लिपि की समस्या इतना गंभीर रूप ले रही थी और उत्तर भारत की जनता पर मुस्लिम संस्कृति और परम्परा का बुरा प्रभाव दिखाई देने लगा और हिन्दू जीवन में एक प्रकार की विषमता उत्पन्न हुई। इस समय हिन्दी को न्यायालयों में महत्व-पूर्ण स्थान मिलना बहुत आवश्यक था परन्तु सरकार की नीति हिन्दी के विकास में सहयोग नहीं दे सकी। १८ अप्रैल, सन् १९०० को संयुक्त प्रान्त की सरकार ने हिन्दी के बारे में जो आज्ञा निकाली वह बिल्कुल ही अस्पष्ट तथा निरुपयोगी थी। सरकार की इस आज्ञा का आशय इस प्रकार मिलता है—

१. सभी अपनी इच्छा के अनुसार नागरी व फारसी लिपि में लिख सकते हैं।
२. सरकारी न्यायालयों के प्रधान अधिकारियों की ओर से जो समन सूचना-पत्र या अन्य प्रकार के कागज पत्रादि प्रकाशित किए जायेंगे वे सब नागरी और फारसी दोनों लिपियों में छापे जायेंगे और नागरी अक्षरों में भी भरे जायेंगे।
३. ऐसे दफ्तरों को छोड़कर जहाँ केवल अंग्रेजी में काम होता है, हिन्दी जानने वाला कोई व्यक्ति नियुक्त किया जायगा जो, दोनों में से केवल एक भाषा जानता होगा, तो उसे नियुक्ति की तारीख से एक वर्ष के भीतर दूसरी भाषा सीख लेना आवश्यक होगा।

प्रयाग से 'सरस्वती' का प्रकाशन हिन्दी साहित्य के विकास के द्वार खोलता है। भारतेन्दु काल में 'कविवचन-सुधा' 'हरिश्चन्द्र मैगेजीन', 'आनंद कादंबिनी', 'क्षत्रिय-पत्रिका', 'हिन्दी प्रदीप' आदि साहित्यिक पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। भारतेन्दु-युगीन पत्रिकाओं में नागरी प्रचारिणी पत्रिका द्वारा जो कार्य आरम्भ किया गया वह इस काल की एक विशेष घटना है। इस पत्रिका का उद्देश्य हिन्दी साहित्य के बारे में अनुसंधान और पर्यालोचन था। इस पत्रिका द्वारा भाषा की जो नीति अपनाई गई थी उसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

**"सभा की ओर से लिखे हुए जो लेख वा रिपोर्ट आदि प्रकाशित हों, उनमें ठेठ हिन्दी के शब्द रहा करें, अर्थात् न बड़े संस्कृत शब्द हों और न अरबी-फारसी भाषाओं के हों। जो लेख सभा द्वारा प्रकाशित होने के लिये कहीं से आएँ, उनमें यदि फारसी अरबी के शब्द भरे रहें तो परीक्षक कमेटी उन्हें स्वीकृत न करे।"[1]**

अतः भाषा के बारे में 'पत्रिका' की यह भाषा-नीति स्पष्ट होने के कारण हिन्दी के खोज संबंधी लेख तथा अन्य रचनाएँ एक नियमबद्ध भाषा के रूप में प्रकाशित होने में सहायता मिली और इससे नागरी प्रचारिणी सभा का भाषा संबंधी दृष्टिकोण लोगों के सामने उपस्थित किया गया।

---

**१. सं० श्री कृष्णलाल और करुणापति त्रिपाठी, हीरक जयंती ग्रंथ, ना० प्र० स० काशी, पृ० २७**

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के इतिहास में सरस्वती का प्रकाशन एक युगांतरकारी घटना है। हिन्दी पाठकों को मनोरंजक तथा साहित्यिक सामग्री देने का उपक्रम 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के द्वारा आरम्भ हुआ। इस पत्रिका में साहित्य के विविध रूपों को स्थान मिलने के कारण हिन्दी के अनेक लेखकों और कवियों को अपनी साहित्यिक कृतियों के निर्माण करने का उत्साह मिला। इसलिए 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ लेखकों की संख्या में वृद्धि हुई।

इस पत्रिका के प्रथम वर्ष की संपादक-समिति में कार्तिक प्रसाद खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, जगन्नाथदास, राधाकृष्णदास, श्यामसुन्दरदास जैसे हिन्दी के महान् तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। पत्रिका में सब प्रकार के लेखों को स्थान मिलता रहा है। गद्य, पद्य, काव्य, नाटक, उपन्यास, निबन्ध, चम्पू, इतिहास, जीवन-चरित, पत्र, हास्य, कौतुक, पुरावृत्त, विज्ञान, शिल्प कला आदि संबंधी लेखों तथा रचनाओं का समावेश होने लगा। इसी कारण हिन्दी गद्य में नाटक, उपन्यास, निबंध, कहानी, समालोचना आदि हिन्दी गद्य के विविध रूपों का विकास होने में सहायता मिली।

सन् १९०० तक हिन्दी गद्य की दृष्टि से जो कुछ कार्य हो चुका था उसकी परम्परा को परिष्कृत करके नये रूप-विधानों के अनुसार उनका संवर्धन करना था। नाटक, उपन्यास, निबंध आदि की एक परम्परा इस काल में मिलती है; परन्तु इसपर साहित्य की स्वतंत्र शैली या विचारधारा का स्वच्छन्द प्रभाव नहीं मिलता। परिस्थितियों के अनुसार जो कुछ लिखा गया था, उसमें साहित्य निर्माण का प्रवाह बढ़ता गया परन्तु भारतेन्दु के बाद किसी कुशल तथा साहित्यिक व्यक्ति के द्वारा मार्ग-दर्शन नहीं मिल सका। इस दृष्टि से पं० महाबीरप्रसाद द्विवेदी जी का 'सरस्वती' का संपादक होना अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है।

भारतेन्दु के बाद हिन्दी गद्य-साहित्य में अनेक परिवर्तन होते रहे। 'सरस्वती' के प्रकाशन तक हिन्दी भाषा का प्रचार उपन्यासों, नाटकों और निबंधों द्वारा होता रहा। देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, गोपालराम गहमरी आदि हिन्दी के उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों द्वारा जनता में पढ़ने की रुचि बढ़ायी। 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता संतति', 'भूतनाथ' जैसे उपन्यासों के प्रकाशन के कारण पाठकों की कुतूहल-वृत्ति को तृप्त करने का कार्य हुआ और हिन्दी के पाठकों की संख्या में वृद्धि हुई। अतः इन पाठकों द्वारा अच्छे-अच्छे उपन्यासों के निर्माण की माँग हुई।

हिन्दी गद्य-साहित्य के निर्माण में बंगला, अंग्रेजी, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं के साहित्य ने भी योग दिया है। अर्थात् इन भाषाओं की विशेष रचनाओं का अनुवाद हिन्दी में हुआ। इस अनूदित साहित्य के कारण इन भाषाओं के साहित्य तथा शैली का प्रभाव हिन्दी गद्य पर स्पष्ट दिखाई देता है। हिन्दी गद्य ने बँगला से बहुत कुछ लिया है। इस अनूदित साहित्य द्वारा पर-प्रान्तीय शब्दों तथा वाक्यविन्यास की शैली

का रूप हिन्दी गद्य में दिखाई देने लगा। पर-प्रान्तीय भाषाओं से परिचित हिन्दी लेखक परिचित भाषा की शैली, रचना-विधान आदि का अनुकरण करने लगे। इस प्रकार की अनेक घटनाएँ हो रही थीं, जिनके कारण हिन्दी गद्य की विकसित परम्परा के लिए योग्य वातावरण तैयार हो रहा था। ऐसी परिस्थिति में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का साहित्यिक कार्य आरम्भ हुआ।

महावीरप्रसाद जी के कार्य का आरम्भ सन् १९०० के बाद होता है। भारतेन्दु काल में भाषा के बारे में प्रयोग ही चल रहे थे और भाषा का कोई स्थिर रूप नहीं आया था। लोग जैसे बोलते थे, वैसा ही प्रयोग होता रहता था। उच्चारण-सम्मत भाषा का सरल रूप सर्वत्र प्रचलित था। भाषा को ठेठ हिन्दी का रूप देने का कार्य उनके पहले ही पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने आरम्भ किया था। वे अपनी कृतियों द्वारा एक कृत्रिम भाषा का रूप प्रचलित करना चाहते थे।

इंशाअल्ला खाँ के समान भाषा का एक विशिष्ट रूप सामने रखकर पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' १८९९, और 'अधखिला फूल' १९०७ नामक दो उपन्यास लिखे। उपाध्यायजी ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' की भूमिका में ठेठ हिन्दी की परिभाषा इस प्रकार दी है—

**"जैसे शिक्षित लोग आपस में बोलते-चालते हैं, भाषा वैसी ही हो, गँवारी न होने पावे, उसमें दूसरी भाषा अरबी, फारसी, तुर्की, अंग्रेजी, इत्यादि का कोई शब्द शुद्ध रूप या अपभ्रंश रूप से न हो, भाषा अपभ्रंश संस्कृत शब्दों से प्रयुक्त हो, और यदि कोई संस्कृत शब्द उसमें आवे भी तो वही, जो अत्यंत प्रचलित हो, और जिसको एक साधारण जन भी बोलता हो।"[1]**

किसी उद्देश्य को सामने रखकर भाषा के इस प्रकार के रूप को व्यवहृत करने की उपाध्यायजी की मनीषा अभिनन्दनीय है। 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' में भाषा का रूप इस प्रकार मिलता है—

**"देवनंदन धीरे-धीरे उसके पास आया, धीरे-धीरे अपनी आँखें उठाकर उसकी ओर देखा, पीछे दोनों एक पेड़ के नीचे बैठ गये। कुछ घड़ी दोनों चुप रहे, मन ही मन न जाने क्या-क्या सोचते रहे। फुलवारी में सब ओर सन्नाटा रहा, बयार ही धीरे-धीरे चलकर पत्तों को खड़खड़ाती थी, कभी-कभी कोई चिड़िया कहीं बोल उठती थी, नहीं तो और किसी भाँत फुलवारी का सन्नाटा न टूटता था।"[2]**

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय जी ने अपने दोनों उपन्यासों को 'ठेठ हिन्दी' में लिखने का प्रयत्न किया। परन्तु वे 'अधखिला फूल' की भूमिका ठेठ हिन्दी में नहीं

---

**१. पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय: 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (भूमिका से), १८९९, पृ० २।**
**२. पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय: 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' १८९९, पृ० २१।**

लिख पाये। इससे स्पष्ट है कि उपाध्यायजी भाषा की अपनी इस शैली का प्रयोग अपनी रचना में सरलता से न कर सके। उनके अधखिला फूल में उनकी भाषा का नमूना इस प्रकार मिलता है—

> **"इस फुलवारी के बीच में एक पक्का चौतरा है, इसपर पारबती और देवहूती बैठी हुई हैं। भोर हो गया है, सूरज की सुनहरी किरणों चारों ओर छिटक रही हैं। एक भौंरा एक फूल पर गूँज रहा है। गूँजता-गूँजता ठीक फूल की सीध में आता है, ठिठकता है, सिकुड़े हुए पाँवों को फैलाकर फूल की ओर झुकता है।"[1]**

उपाध्याय जी ने अपनी 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' की रचना के समान हिन्दी की एक स्वतंत्र शैली का रूप उपस्थित किया है। उपाध्यायजी की शैली में पद्य का प्रभाव बहुत है। उनकी भाषा में गद्य का सुगठित रूप दिखाई नहीं पड़ता। परन्तु उनकी भाषा में साहित्यिकता तथा काव्यात्मकता का दर्शन मिलता है।

इस प्रकार भाषा के बारे में प्रयोग हो रहे थे और हिन्दी को कृत्रिम रूप में एक नया स्वरूप देने का कार्य चल रहा था। हिन्दी की शक्ति समझ कर उसके विकास के लिये उपायों की योजना करना आवश्यक था और यह कार्य पं० महाबीरप्रसाद द्विवेदी के द्वारा हुआ। उनका हिन्दी संसार में प्रवेश हिन्दी भाषा के विकास में एक नये युग की दिशा का संकेत करता है।

पं० महाबीर प्रसाद द्विवेदी से पहले भाषा में स्थिरता लाने की दृष्टि से अनेक प्रयोग हुए, परन्तु उनसे किसी विशेष परिवर्तन की प्रवृत्ति हिन्दी गद्य में नहीं दिखाई पड़ती। अपने भावों को स्वच्छंदतापूर्ण शैली में प्रकाशित करने की प्रवृत्ति अनेक लेखकों में मिलने लगी, परन्तु भाषा के मर्यादीकरण (Standardization) की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। सर्वत्र उच्चारण-सम्मत भाषा का प्रयोग किया जाता था और व्याकरण की दृष्टि से भाषा की अशुद्धता पर ध्यान नहीं दिया जाता। अन्य भाषाओं के साहित्य का प्रवाह हिन्दी में आने के कारण दिनों दिन भाषा का रूप विकृत हो रहा था। इस प्रकार व्याकरण की अवहेलना, विराम चिह्नों के प्रयोग की कमी, अन्य कारणों से भाषा में अस्पष्टता और दुरूहता आई थी। लेखक के ठीक-ठीक विचारों को उसकी भाषा द्वारा समझने में कठिनाई प्रतीत हुई। अतः भाषा के परिमार्जन तथा नियमन की आवश्यकता हुई।

भाषा की विकृति के बारे में जो एक समस्या निर्माण हुई थी, उस पर सर्वप्रथम पं० महाबीर प्रसाद द्विवेदी जी का ध्यान गया और उन्होंने अनेक प्रयत्न करके भाषा को व्याकरण-सम्मत बनाया और उसका साहित्यिक तथा यथार्थ रूप लोगों के सामने

---

१. पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय: 'अधखिला फूल' पृ० १११।

रखा। द्विवेदी जी के आगमन के समय भाषा के बारे में तीन मत थे :—

१. संस्कृत शब्दों का विशुद्ध प्रयोग करनेवाले।

२. हिन्दी में सीधे सादे तद्भव शब्दों का प्रयोग करनेवाले और संस्कृत की कठिन शब्दावली से रुचि न रखनेवाले।

३. हिन्दी और उर्दू का मिश्रण करके एक मिश्रित भाषा का उपयोग करनेवाले।

द्विवेदी जी को इन तीनों मतों में कोई भी मत पसन्द नहीं आया। उन्होंने अपनी भाषा को शुद्ध तथा व्याकरण-सम्मत बनाने का प्रयत्न किया और भाषा का एक निश्चित आदर्श लोगों के सामने उपस्थित किया।

द्विवेदी जी ने अपनी भाषा का रूप स्थिर करने की दृष्टि से राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह, भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र आदि गद्य-लेखकों की भाषा की परंपरा को समझा। उन्हें इन लेखकों की भाषा में एक प्रकार की अपरिपक्वता, शिथिलता और व्याकरण की अवहेलना का दर्शन हुआ। भारतेन्दु कालीन उच्चारण-सम्मत भाषा की जगह व्याकरण-सम्मत भाषा का आदर्श कायम करने में द्विवेदीजी ने अपनी शक्ति का पूरा उपयोग किया। अभी तक के लेखकों ने व्याकरण की अवहेलना करके अपनी-अपनी शैली का प्रचार किया था। इसलिये भाषा-शुद्धि के इस कार्य में द्विवेदीजी का कई लेखकों से विरोध हुआ।

द्विवेदी जी उर्दू और हिन्दी के झगड़े में नहीं पड़े। वे भाषा-द्रष्टा थे और उन्हें भाषा के शुद्ध रूप से साहित्य को भी शुद्ध करना था। उन्होंने गलती से भी कभी संस्कृत शब्दों के प्रयोग से बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा में दीवार खड़ी करके शुद्ध हिन्दी का आदर्श उपस्थित करने का प्रयत्न नहीं किया। उनकी भाषा का आदर्श साधारण से साधारण विषय पर लिखने योग्य भाषा का निर्माण करना था। उन्होंने भाषा का लक्ष्य साधारण विषय तथा सामान्य पाठक की दृष्टि से निश्चित किया।

द्विवेदी जी ने सरस्वती का संपादन-कार्य सत्रह वर्ष तक किया और इस कालावधि में उन्होंने हिन्दी साहित्य की सेवा अनेक दृष्टियों से की। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी-गद्य की शैलियों का निर्माण किया। उन्होंने परिस्थिति के अनुसार अपनी भाषा-शैली को परिष्कृत करके उसे सजीव तथा विशुद्ध रूप दिया। उन्होंने जनसाधारण की दृष्टि से मुहावरेदार तथा मिश्रित भाषा का प्रयोग कर के अपनी भाषा का सरल रूप पाठकों के सामने रखा।

द्विवेदी जी ने भाषा की दृष्टि से एक अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने अपने काल के नये तथा पुराने लेखकों का ध्यान भाषा की शुद्धता की ओर आकर्षित किया। उन्होंने ऐसे लेखकों की रचनाओं की आलोचना करना प्रारंभ किया जो अपनी रचनाओं में व्याकरण की साधारण भूलों की ओर भी ध्यान नहीं देते। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक लेखक भाषा की शुद्धता का महत्व समझने लगे और भाषा का

शुद्ध रूप अपनी रचनाओं में उपस्थित करने लगे। अतः भारतेन्दु-कालीन लेखकों की भाषा में जो अनेक दोष निर्मित हुए थे उनका क्रमशः नाश होने लगा और भाषा में एक प्रकार की शुद्धता आने लगी।

द्विवेदीजी का भाषा के संस्कार करने का कार्य पुराने लेखक तक ही सीमित नहीं था। नये लेखकों की भाषा को व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध करने का भी कार्य द्विवेजी ने किया। उन्होंने यह कार्य एक साहित्यकार के रूप में न कर एक कुशल संपादक के रूप में किया। द्विवेदीजी ने नये लेखकों की रचनाओं की प्रवृत्तियों का अध्ययन करके हिन्दी साहित्य के विकास की दृष्टि से अनेक नये लेखकों को साहित्य-निर्माण में निर्देशन दिया। उन्होंने अपनी रचना द्वारा भाषा का आदर्श लोगों के सामने रखकर भाषा के रूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। द्विवेदी जी की भाषा का नमूना इस प्रकार मिलता है:—

**"जिसका हृदय स्वभाव ही से पत्थर के समान है, जो जन्मरोगी है, व्याकरण 'घोखते-घोखते' जिसकी बुद्धि जड़ हो गई है, घट-घट और अग्नि-धूम आदि से संबंध रखने वाली फक्किकायें रटते-रटते जिसकी मानसिक सरसता दग्ध-सी हो गई है, महाकवियों की सुन्दर कविताओं का श्रवण भी जिसके कानों को अच्छा नहीं लगता उसे आप चाहे जितनी शिक्षा दें और चाहे जितना अभ्यास करावें वह कभी कवि नहीं हो सकता। सिखाने से भी क्या गधा भैरवी अलाप सकता है? अथवा दिखाने से भी क्या अंधा मनुष्य सूर्य-बिम्ब देख सकता है?"[१]**

द्विवेदी जी ने भाषा और व्याकरण की दृष्टि से एक नया आन्दोलन उपस्थित करके भाषा के महत्व को सिद्ध किया। उनके 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर वाद-विवाद चलता रहा और हिन्दी गद्य में एक वाद-विवाद के लिये उपयुक्त शैली का सूत्रपात हुआ। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'आत्माराम' नाम से जो लेख प्रकाशित किया, उसका उत्तर पं० गोविंदनारायण मिश्र ने 'आत्माराम की टें-टें' लेखमाला से दिया। भाषा के प्रश्न को लेकर यह झगड़ा 'भारतमित्र' तथा 'सरस्वती' में बरसों तक चला।

द्विवेदी जी का महत्व केवल भाषा के सुधार की दृष्टि से नहीं आँकना चाहिये, उन्होंने अपनी साहित्य-सेवा द्वारा नये-नये लेखकों का निर्माण किया। उन्होंने अपनी 'पत्रिका' में अनेक नये लेखकों की रचनाओं को प्रकाशित किया और उनके लेखन-कार्य को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने नये-नये लेखकों की कठिनाई को समझकर उनका ठीक मार्ग-दर्शन किया। इसलिए उनकी 'पत्रिका' में लेखों के विषयों की विविधता मिलती है। उन्होंने अनेक साहित्यिक तथा आलोचनात्मक निबंध लिखकर साहित्य की विविध समस्याओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया।

---

१. संकलनकर्ता—प्रभात शास्त्री साहित्याचार्य, 'संचयन', सं० २००६, पृ० ८५।

'सरस्वती' के प्रकाशन के कारण हिन्दी साहित्य की निर्मिति में एक नयी दिशा मिली। हिन्दी गद्य साहित्य की दृष्टि से देखा जाय तो कहानी और आलोचना का सूत्रपात 'सरस्वती' के प्रकाशन के द्वारा हुआ। शेक्सपियर के नाटकों की कथा-वस्तु का कथात्मक रूप कहानियों के रूप में सरस्वती में छपने लगा। तत्कालीन 'इंदु', 'सुदर्शन' आदि पत्रिकाओं में बंगला से अनूदित कहानियाँ प्रकाशित होने लगीं। निबंध और आलोचना संबंधी लेख इस काल की पत्रिका में छपते थे। 'हिन्दी-प्रदीप' में निबंधों का प्रकाशन हो रहा था। खुद द्विवेदी जी ने अच्छे-अच्छे निबंध लिखकर साहित्य तथा भाषा के बारे में अपने विचार लोगों के सामने रखे। मिश्रबन्धु तथा रामचंद्र शुक्ल की प्रारंभिक कृतियाँ इस काल में प्रकाशित हुईं।

कहानी साहित्य की दृष्टि से सन् १९०० से सन् १९२० तक का समय एक प्रयोग-काल के रूप में माना जा सकता है। 'सरस्वती', 'सुदर्शन' और 'इन्दु' में अनेक कहानियाँ प्रकाशित हुईं। इनमें अनूदित कहानियों की संख्या अधिक मिलती है। चतुरसेन शास्त्री, जयशंकरप्रसाद, पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचंद आदि की प्रारंभिक कहानियाँ इस काल में प्रकाशित हुईं। इस काल के कहानी-लेखकों में पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का स्थान महत्व का है। गुलेरी जी ने अपनी कहानियों द्वारा नितांत स्पष्ट, सरल एवं व्यावहारिक भाषा का आदर्श उपस्थित किया। उनकी शब्दावली में संस्कृत की छाप स्पष्ट है। उनकी भाषा-शैली में वाक्य-विन्यास का आकर्षण तथा भावप्रवण की सहजता मिलती है। गुलेरीजी की भाषा का नमूना इस प्रकार मिलता है :—

> **"रघुनाथ के हृदय में स्त्री जाति की अज्ञानता का भाव और उससे पृथक रहने का कुहरा तो था ही, अब उसके स्थान में उद्वेगपूर्ण ग्लानि का धूम इकट्ठा हो गया था। पर उस धूम के नीचे-नीचे उस चपल लड़की की चिनगारी भी चमक रही थी। अवश्य ही अपने पिछले अनुभव से वह इतना चमक गया था कि किसी स्त्री से बात करने की उसकी इच्छा नहीं थी, परन्तु रह-रहकर उसके चित्त में उस पिघलती हुई आँखोंवाली का और अधिक हाल जानने और उसके वचन-कोड़े सहने की इच्छा होती थी। रघुनाथ का हृदय एक पहेली हो रहा था और उस पहेली में उस स्वतंत्र लड़की का स्वभाव था। रघुनाथ का हृदय धुएँ से घुट रहा था और विवाह के पास आते हुए अवसर को वह उसी भाव से देख रहा था, जैसे चैत्रकृष्ण में बकरा आने वाले नवरात्रों को देखता है।"[1]**

उपन्यास और नाटक की दृष्टि से देखा जाय तो बंगला से अनेक श्रेष्ठ कृतियों का अनुवाद हिन्दी में हुआ। बंगला भाषा की भावात्मक शैली का प्रभाव धीरे-धीरे हिन्दी गद्य पर पड़ने लगा। ब्रजनंदन सहाय के उपन्यासों पर बंगला उपन्यास की शैली

---

१. सं० शक्तिधर गुलेरी : 'गुलेरी की अमर कहानियाँ' तृ० सं० १९४५, पृ० ३१.

का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। किसी भी चीज की व्याख्या भावात्मक ढंग से करने की प्रवृत्ति बंगला उपन्यास की देन है। इस शैली का रूप 'ब्रजनंदन सहाय के 'सौंदर्योपासक' (१९१९) उपन्यास में मिलता है। इसमें प्रेम की व्याख्या बड़े भावात्मक ढंग से इस प्रकार की गई है:—

**"सुनो, जिसे प्यार करना है वह चाहता है कि उसका प्रेम-पात्र अपना प्रेम किसी दूसरे को न दे। उसकी सदा यही इच्छा रहती है कि "मैं" जिसे प्यार करता हूँ, वह मुझी को प्यार करे, दूसरा कोई उसके हृदय में स्थान न पावे। दो प्रेम-प्रतिमाएँ एक संग एक संबंध से किसी के हृदय-मंदिर में निवास नहीं कर सकतीं। प्रेम का यह एक नियम है।"[1]**

समालोचना साहित्य की दृष्टि से मिश्र-बंधु और श्यामसुन्दर दास की रचनाएँ मिलती हैं। मिश्रबंधुओं के 'नवरत्न' (१९११) के प्रकाशन के कारण तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात हो रहा था। इस दृष्टि से पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र आदि की आलोचनात्मक कृतियाँ महत्व की हैं। भाषा की दृष्टि से 'पद्मसिंह शर्मा की कृतियाँ महत्व की हैं। शर्माजी की भाषा में जो एक सजीवता मिलती है, उसका रूप इस काल के किसी भी गद्य लेखक में नहीं मिलता। वियोगीहरि ने पद्मसिंह शर्मा की भाषा की विशेषताओं की ओर इस प्रकार संकेत किया है:—

**"पूर्ववर्ती लेखकों से प्रभावित होने पर भी शर्मा जी की शैली अनूठी जान पड़ती है। वाह! क्या बाँकापन है। हिन्दी और उर्दू का ही बढ़िया मेल है। मुहावरे चुस्त और दुरुस्त हैं। शब्द-योजना भी टकसाली है। प्रत्येक पद से अमृत झलक रहा है। पढ़ते-पढ़ते मन काबू में नहीं रहता। आँखों में मादकता भर आती है। हृदय में गुदगुदी पैदा हो जाती है। साहित्य विवेचन के लिये गुप्तजी की शैली के बाद उससे अच्छी शैली अभी तक देखने में नहीं आयी।"[2]**

इस प्रकार बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० माधव प्रसाद मिश्र, अध्यापक पूर्णसिंह, माधवराव सप्रे, पं० गोविंदनारायण मिश्र आदि लेखकों की गद्य-रचनाएँ हिन्दी गद्य के विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्व की हैं। समाचार-पत्रों के प्रकाशन के कारण हिन्दी गद्य-लेखकों की संख्या बढ़ने लगी। बंगाल, महाराष्ट्र, पंजाब आदि प्रान्तों में भी हिन्दी में रचनाएँ होने लगीं। ये अहिन्दी भाषा-भाषी लेखक अपनी भाषा में अपने साहित्य की शैली लेकर आये। प्रान्तीय भाषाओं की शैलियों का भी हिन्दी पर संस्कार हो रहा था।

सन् १९२० तक हिन्दी गद्य-साहित्य के आधुनिक युग का आरंभ माना जाता

---

१. ब्रजनन्दन सहाय : 'सौन्दर्योपासक', पृ० १६८।

२. वियोगीहरि : 'हिन्दी गद्य-रत्नावली' भूमिका से, पृ० ३।

है। इस समय तक हिन्दी में भाषा और साहित्य की दृष्टि से अनेक प्रयोग हुए। साहित्य का दृष्टिकोण नीतिवादी बना था यह इस काल की एक विशेषता है। भाषा में इतिवृत्तात्मकता का दर्शन मिल रहा था और उपन्यास, नाटक, कहानी, आलोचना, निबंध आदि हिन्दी गद्य के विविध रूपों में स्थिरता आयी थी। कथा-साहित्य की उन्नति की दृष्टि से यह काल-विभाग प्रयोग की अवस्था में ही दिखाई पड़ता है। परन्तु इस काल-विभाग में द्विवेदी जी को छोड़कर कोई महत्व का लेखक दिखाई नहीं पड़ता। परन्तु इसमें श्यामसुन्दरदास, रामचंद्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचंद आदि लेखकों की प्रारंभिक कृतियाँ मिलती हैं। इन सब लेखकों की रचनाओं का विकसित रूप सन् १९२० के बाद ही दिखाई पड़ता है।

## विकास काल (सन् १९२० से सन् १९३६ ई० तक)

आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास-काल बीसवीं शताब्दी के तीसरे शतक से आरंभ होता है। इस काल के पूर्व भारतेन्दु और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ये दो महान् जननायक हुए। इन दो लेखकों ने अपनी साधना और तपस्या द्वारा हिन्दी साहित्य के इतिहास में दो युगों का निर्माण किया। भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग में साहित्य के विविध रूपों का उद्भव होकर समय के अनुसार उनके रूप, रचना-विधान, भाषा आदि के बारे में क्रमिक विकास होता रहा। हिन्दी गद्य-साहित्य की दृष्टि से भी यह बात हुई है।

सन् १९१४-१८ के प्रथम महायुद्ध के बाद भारत में राजनीतिक विचारधारा का नया प्रवाह बहने लगा और महात्मा गाँधी की राष्ट्रीय विचार-धारा का प्रचार सर्वत्र दिखाई देने लगा। स्वदेश, स्वभाषा, और स्वराज्य की घोषणा भारतीय जीवन में एक नयी चेतना निर्माण कर रही थी और सर्वत्र जीवन की ओर देखने के दृष्टिकोण में परिवर्तन के लक्षण दिखाई दे रहे थे। महात्मा गाँधी का असहयोग आन्दोलन राष्ट्रीय भावनाओं को चेतावनी दे रहा था। इन सब प्रकार की परिस्थितियों का प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक था। भारतेन्दु ने अपने नाटकों द्वारा जिस राष्ट्रीय-भावना का बीजारोपण किया था उसका जीता-जागता रूप जीवन के हरएक पहलू में दिखाई देता था।

इस काल की यह एक विशेषता है कि कलकत्ता, काशी, इलाहाबाद आदि विश्वविद्यालयों में एम० ए० के पाठ्य-क्रम में हिन्दी को स्थान मिला। इस समय हिन्दी साहित्य का अध्ययन करने की दृष्टि से हिन्दी में आलोचनात्मक साहित्य नहीं के बराबर था। अर्थात् विद्यार्थियों को पढ़ाते समय प्राध्यापकों को अंग्रेजी पुस्तकों से सहायता लेनी पड़ती थी। विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिये जो नोट्स तैयार किये जाते थे उनके आधार पर उस समय के अध्यापकों के द्वारा अनेक आलोचनात्मक ग्रंथ लिखे गये। मौलिकता की दृष्टि से इस प्रकार के परीक्षोपयोगी ग्रंथ हिन्दी के प्रचार की दृष्टि से अत्यंत

उपयोगी ठहरे। उसी प्रकार 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' (प्रयाग) की ओर से 'सेठार विशारद', 'साहित्य रत्न' आदि परीक्षाओं का प्रबंध होने के कारण सर्वत्र आलोचनात्मक साहित्य की माँग हुई।

इन परीक्षाओं के लिये जो कुछ साहित्य लिखा जा रहा था उनमें भाषाविज्ञान, हिन्दी साहित्य का इतिहास, भाषा का इतिहास, कवियों की आलोचना आदि पर अनेक रचनाएँ मिलती हैं। इसी प्रकार डी० फिल्०, पी० एच० डी०, डी० लिट्० आदि उपाधियों के लिये विद्यार्थियों को थीसिसें लिखनी पड़ती थीं। इन थीसिसों के रूप में जो प्रबंध लिख गये, उनके द्वारा हिन्दी साहित्य के विविध अंगों पर प्रकाश डाला गया और अनेक रचनाओं का ठीक मूल्यांकन हुआ। इस प्रकार हिन्दी साहित्य का वास्तविक रूप धीरे-धीरे लोगों के सामने आने लगा और हिन्दी साहित्य की महत्ता का अनुभव लोगों को होने लगा। हिन्दी साहित्य का महत्व ध्यान में आने के कारण हिन्दी के साहित्यकारों के प्रति आदर-भाव की वृद्धि हुई और हिन्दी के विद्वान् साहित्यकारों तथा साहित्य-सेवियों का अभिनंदन करने की दृष्टि से 'अभिनंदन ग्रंथ' अर्पण करने की प्रथा शुरू हुई। इन अभिनंदन ग्रंथों में हिन्दी के विद्वान् लोगों के अनेक आलोचनात्मक लेख छपते थे। इस प्रकार साहित्य के साथ अनेक साहित्यकारों का परिचय होने में सहायता हुई। हिन्दी के अच्छे-अच्छे ग्रंथों पर 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक', 'सेक्सरिया महिला पारितोषिक' आदि पुरस्कार देने की प्रथा शुरू होने के कारण हिन्दी में अच्छे-अच्छे ग्रंथों के निर्माण में सहायता मिलने लगी और अच्छे-अच्छे ग्रंथ प्रकाशित होने लगे।

हिन्दी का प्रचार होने की दृष्टि से इस काल की पत्र-पत्रिकाओं ने भी अच्छा काम किया। अनेक साहित्यिक तथा राजनीतिक पत्रिकाओं का प्रकाशन होने के कारण नये-नये लेखकों की कृतियाँ प्रकाशित होने लगीं और हिन्दी के पाठकों की संख्या बढ़ने लगी। सन् १९२१ के बाद हिन्दी में 'माधुरी' (१९२३), 'चांद' '(१९२३), 'समालोचक' (१९२५), 'कल्याण' (१९२६), 'विशाल भारत' (१९२५), 'सुधा' (१९२७), 'हंस' (१९३०) आदि साहित्यिक पत्रिकाओं का प्रकाशन होने के कारण कहानी, निबंध, आलोचनात्मक लेख, जीवन चरित्र, गद्यकाव्य आदि हिन्दी गद्य के विविध रूप पाठकों के सामने उपस्थित किये गये। इन साहित्यिक पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण साहित्य की नयी-नयी समस्याओं की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ।

सन् १९२१ के बाद का काल राजनीतिक दृष्टि से अत्यंत महत्व का समय है। भारत में राष्ट्रीय भावनाओं का प्रचार हो रहा था और इस दृष्टि से 'कर्मवीर' (१९२४), 'हिन्दू पंच' (१९२६), 'स्वतंत्र भारत' (१९२८), 'जागरण' (१९२९), 'स्वराज' (१९३१), 'नवयुग' (१९३२) आदि पत्रिकाएँ राजनीतिक क्षेत्र में प्रचार कार्य कर रही थीं। इस काल में अनेक दैनिक पत्रों का भी प्रकाशन हुआ। बनारस का प्रसिद्ध दैनिक पत्र 'आज' (१९२१) का प्रकाशन भी इस काल में हुआ। 'आज' के समान

शुक्लजी की आलोचना की शैली पर आय० ए० रिचर्ड्स का पूरा प्रभाव दिखाई देता है। उन्होंने अपनी शैली द्वारा पाश्चात्य विचारों को इस रूप में ग्रहण किया है कि उनके साहित्यिक विचार मौलिकता का दावा कर सकते हैं। शुक्लजी ने आलोचनात्मक प्रबंध कम लिखे, लेकिन उन्होंने जो कुछ लिखा उसके आधार पर आज के आलोचना साहित्य का निर्माण हो रहा है।

उनकी आलोचनात्मक शैली की यह एक बड़ी विशेषता है कि उनके विचार और भाषा साथ-साथ चलती हैं। ऐसा लगता है कि उनके विचारों के सूक्ष्म संकेत प्रकट करने की शक्ति उनकी भाषा और शैली में है। उनकी आलोचनात्मक शैली का नमूना इस प्रकार मिलता है:—

**"योरप में चित्रकारी, मूर्तिकारी, नक्काशी, बेल-बूटे आदि के समान कविता भी 'ललित-कलाओं के भीतर' दाखिल हुई, अतः धीरे-धीरे उसका लक्ष्य भी सौन्दर्य-विधान ही ठहराया गया। जब कि यह सौन्दर्य-भावना काम-वासना द्वारा प्रेरित ठहराई गई तब पुरुष कवि के लिये यह स्वाभाविक ठहरा कि उसकी सारी सौन्दर्य-भावना स्त्री-मयी हो अर्थात् प्रकृति के अपार क्षेत्र में जो कुछ सुँदर दिखाई पड़े उसकी भावना स्त्री के रूप-सौन्दर्य के भिन्न-भिन्न अंग लाकर ही की जाय। अरुणोदय की छटा का अनुभव कामिनी के कपोलों पर दौड़ी हुई लज्जा की ललाई लाकर किया जाय, राका रजनी की सुषमा का अनुभव सुँदरी के उज्ज्वल वस्त्र या शुभ्र हास द्वारा किया जाय, आकाश में फैलती हुई कादंबिनी तब तक सुँदर न लगे जबतक उस पर स्त्री के मुक्त कुंतल का आरोप न हो।"[१]**

आलोचना के क्षेत्र में शुक्लजी की कृतियाँ युगांतर्कारी ठहरीं। उसी प्रकार कहानी, नाटक, उपन्यास, निबंध आदि का विकसित रूप इस काल के साहित्य में सहायक हुआ। द्विवेदी-युग में गद्य-साहित्य के विकास में कोई विशेष गति नहीं मिलती। कुछ ऐसा भी कहा जा सकता है कि उस काल में लोगों की रुचि को परिष्कृत करने वाली साहित्यिक कृतियाँ पाठकों के सामने नहीं आईं।

कहानी-साहित्य का सूत्रपात द्विवेदी-काल में हुआ था और उस काल में पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचंद आदि की कई कहानियाँ भी प्रकाशित हुईं। परन्तु इस काल-विभाग में प्रसाद, प्रेमचंद, 'हृदयेश' आदि की अनेक सुंदर कहानियाँ प्रकाशित हुईं तथा प्रसाद और 'हृदयेश' की अनेक काव्यात्मक कहानियों का निर्माण हुआ। इन भावपूर्ण कहानियों में जिस भाषा का उपयोग किया गया था वह अत्यंत ही काव्यात्मक शैली का रूप दिखाती है। प्रसाद जी के 'समुद्र संतरण' कहानी का अन्त कितना काव्यात्मक है।:—

---

१. रामचंद्र शुक्ल, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', छठा संस्करण, सं० २००७ पृ० ५७३।

"धीवर-बाला ने कहा—आओगे ?

लहरों को चीरते हुए सुदर्शन ने पूछा—कहाँ चलोगी ?

पृथ्वी से दूर जल-राज्य में, जहाँ कठोरता नहीं केवल शीतल कोमल और तरल आलिंगन है, प्रवंचना नहीं सीधा आत्मविश्वास है, वैभव नहीं सरल सौन्दर्य है।

धीवर-बाला ने हाथ पकड़कर सुदर्शन को नाव पर खींच लिया।

दोनों हँसने लगे। चन्द्रमा और जलनिधि भी।"[1]

प्रसाद जी की नाटकीय तथा काव्यात्मक भाषा-शैली उनके उपन्यासों में स्थिर होकर अपने स्वाभाविक आकर्षण का मोह पाठक पर सहज भाव से डाल सकती है। उनके 'इरावती' उपन्यास में भाषा की शैली इस प्रकार मिलती है:—

"नर्तकी ने गायन प्रारंभ किया। उसकी पंचम तान सभामंडप में गूँज उठी। और युवा परदेशी ! वह तो जैसे पागल हो उठा। उसकी आँखें जैसे फैल गईं। वह कुछ पहचान लेने का प्रयत्न कर रहा था। अब वह रुक नहीं सकता, बोलना ही चाहता था कि नवागन्तुक कुमार ने ललकार कर कहा—"बन्द करो निंदनीय प्रदर्शन को। देव मन्दिर के नाम पर विलासिता के प्रचार को बंद करो।"[2]

जयशंकरप्रसाद पहले कवि हैं और बाद में गद्य-लेखक। अत: उनकी भाषा-शैली में कवि-हृदय की भाव-धारा स्वच्छंद गति से बहती हुई दिखाई देना स्वाभाविक है। उपन्यास और कहानी में प्रसादजी की भाषा का प्रभाव कुछ शान्त-सा है। लेकिन उनके कवि-हृदय की भावुकता बीच-बीच में अपना रूप दिखाती है। कथा में जब कहीं प्रकृति-वर्णन का प्रश्न आता है तब प्रसाद जी की भाषा का मनोहर रूप दिखाई पड़ता है। उनकी भाषा-शैली में काव्यात्मकता के दर्शन मिलते हैं।

प्रसादजी की भाषा की यह भी एक विशेषता है कि उसमें वाक्यों का क्रम और पदविन्यास का लालित्य पाठक पर इतना गहरा प्रभाव डालता है कि उसको संपूर्ण पैराग्राफ कंठस्थ करने की इच्छा होती है। भाषा का मँजा हुआ इतना प्रौढ़, सजीव, भावात्मक तथा मधुर रूप हिन्दी में क्वचित् ही किसी अन्य गद्य-लेखक की कृतियों में मिल सकता है। भावुकता और कल्पना का प्रयोग प्रसाद जी की भाषा-शैली की विशेषता है। उनके समान उपमाएँ, अलंकार, शब्दसौष्ठव, शब्दमाधुर्य, वाक्य-विन्यास आदि का रूप हिन्दी के कम गद्य-लेखकों की रचनाओं में मिलता है।

गद्य-साहित्य के विकास की दृष्टि से उनके नाटक अत्यंत महत्व के हैं। अपने नाटकों द्वारा प्रसादजी ने अपनी देशभक्ति का स्वर ऊँचा उठाया है। भारत के अतीत काल के स्वर्णिम युग की झाँकी प्रसादजी की नाटचकृतियों में मिलती है। प्रसादजी ने

---

१. जयशंकर प्रसाद : 'आकाशदीप', तृ० संस्करण, सं० २००२, पृ० ११६।

२. " 'इरावती' द्वि० " सं० २००१, पृ० ११।

अपने भावों को व्यक्त करने की शैली का सुन्दर नमूना पात्रों के कथोपकथन में दिखाया है। गद्य-काव्य की विशेषता लेकर ही उनके संवादों का निर्माण हुआ। इस दृष्टि से प्रसाद जी की भाषा का यह नमूना मत्हव का है :—

**सुवासिनी—"अकस्मात् जीवन-कानन में, एक राका-रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसंत घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल—"कौन ?" कहकर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। राजकुमारी ! फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसूभरी स्मृतियाँ मकरंद-सी उसमें छिपी रहती हैं।"[१]**

प्रसाद जी की भाषा में जिस काव्यात्मक शैली का सूत्रपात हुआ। उसका सुसंस्कृत रूप 'हृदयेश'-की कहानियों में मिलता है। 'हृदयेश' ने बहुत कम लिखा है लेकिन जो कुछ लिखा है वह अत्यंत संपन्न तथा परिमार्जित शैली में लिखा है। उनकी भाषा में संस्कृत शब्दों की संख्या बहुत है और साथ ही समासांत पदावली का भी दर्शन मिलता है। उनकी रचनाओं में बहुत बड़े वाक्य मिलते हैं परन्तु हरएक वाक्य का अनेक टुकड़ों में विभाजित होने के कारण लेखक के भावों को समझने में पाठक को किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं पड़ती। उन की 'शान्तिनिकेतन' कहानी से निम्नलिखित भाषा का नमूना उनकी भाषा-शैली का रूप उपस्थित कर सकता है :—

**"कल्पना के कलित कलेवर में शीतल समीर ने सुरक्षित सुमन-समूह का पराग लेकर अंगराग लगाया, चंद्रिका ने हँसकर सुधा-स्नान कराया, अंबर ने नीलांबर पहनाया, तारकावली ने हीरक-हार पहनाया, स्वर्ग-मंदाकिनी ने कर-कमल में कांचन-कमल का उपहार दिया। इस प्रकार सुसज्जित होकर, सर्वत्र-गामी मनोरथ पर आरूढ़ होकर, कल्पना कनक-राज्य में विचरण करने के लिये निकली।"[२]**

इस काल के कहानी-साहित्य तथा उपन्यास-साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रेमचंद की कृतियों द्वारा हुआ। प्रेमचंद की कहानियों तथा उपन्यासों में तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण मिलता है। उपन्यास साहित्य की दृष्टि से देवकीनंदन खत्री के बाद प्रेमचंद के उपन्यासों में उपन्यास की विकसित परंपरा मिलती है। प्रेमचंद की 'पंच-परमेश्वर', 'कफन', 'रंगभूमि', 'गबन', 'गोदान', 'मंगल-सूत्र' आदि महत्व की साहित्यक कृतियाँ हैं। नाटकों और निबंधों के रूप में भी उनकी कुछ रचनाएँ मिलती हैं।

प्रेमचंद की कृतियों में पं० रामचंद्र शुक्ल और जयशंकर प्रसाद की भाषा-शैली के विपरीत भाषा का रूप मिलता है। प्रेमचंद पहले उर्दू के लेखक थे इसलिए

---

**१. जयशंकर प्रसाद ? 'चंद्रगुप्त', पंचम सं० सन् १९४५, पृ० १९३-१९४।**

**२. चंडीप्रसाद 'हृदयेश'—शान्तिनिकेतन कहानी से उद्धृत।**

उनकी भाषा-शैली पर उर्दू का प्रभाव रहना स्वाभाविक है। परन्तु प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं के निर्माण के लिये भारतीय जीवन का जो क्षेत्र चुन लिया है, उसके कारण उसकी भाषा शैली में भी परिवर्तन दिखाई देता है। उन्होंने अपने उपन्यासों और कहानियों द्वारा जिस समाज का चित्र खींचने का प्रयत्न किया, वह समाज अत्यंत दुर्बल तथा दीन था। इसलिये उनकी रचनाओं में भावनाओं का उन्माद या शैली की काव्यात्मकता नहीं मिलती। उनकी रचनाओं में चारों ओर कारुणिक तथा दीनता के भाव दिखाई देते हैं, इसलिये उनमें भाषा की मार्मिकता और भावव्यंजना की शैली मिलती है।

प्रेमचंद की भाषा की यह विशेषता है कि उसमें भाषा की यथार्थवादी परंपरा का रूप मिलता है। भाषा को स्थिर तथा व्यापक रूप देने का प्रयत्न प्रेमचंद द्वारा हुआ। उनकी भाषा में मिश्रित शैली का सुन्दर परिपाक हुआ है और भाषा को एक उचित (Standard) रूप देने का कार्य प्रेमचंद ने किया। प्रेमचंद अपनी रचनाओं द्वारा जनता में एक चेतना का भाव निर्माण करना चाहते थे। इसलिये जनता की भाषा में ही उन्होंने अपनी कृतियों का निर्माण किया। भाषा के साथ मानव-जीवन का वैज्ञानिक चित्र खींचने में उनकी लेखनी की प्रतिभा में कितनी शक्ति थी, उसका परिचय निम्नलिखित उद्धरण में मिल सकता है:—

**"होरी की आँखें आर्द्र हो गईं। धनिया का यह मातृ-स्नेह उस अँधेरे में भी जैसे दीपक के समान उसकी चिन्ता-जर्जर आकृति को शोभा प्रदान करने लगा। दोनों ही के हृदय में जैसे अतीत-यौवन सचेत हो उठा। होरी को इस बीते यौवन में भी वही कोमल-हृदय बालिका नजर आयी, जिसने पचास साल पहले उसके जीवन में प्रवेश किया था। उस आलिंगन में कितना अथाह वात्सल्य था, जो सारे कलंक, सारी बाधाओं और सारी मूलबद्ध परंपराओं को अपने अंदर समेटे लेता था।"[1]**

प्रसाद और प्रेमचंद इस काल के प्रमुख गद्य-लेखक होने के कारण उनकी साहित्यिक कृतियों का प्रभाव तत्कालीन लेखकों पर पड़ना स्वाभाविक था। भाषा और साहित्य की दृष्टि से उनकी कृतियाँ भविष्य के लिये एक नये युग का निर्देश करती हैं। इन दोनों की भाषा शैलियों में एक प्रकार की विचित्रता का दर्शन मिलता है। प्रसाद और प्रेमचंद की भाषा शैली का तुलनात्मक विश्लेषण डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने इस प्रकार किया है:—

**"एक स्वर्ग का आह्लादपूर्ण यौवन है और दूसरा हमारे साथ दिन-रात रहनेवाला मृत्युलोक का सहचर। एक में हम प्रकृति का मनोरम शृंगार पाते हैं,**

---

**१. प्रेमचंद—'गोदान', चतुर्थ संस्करण, पृ० १८६।**

**दूसरे में मानव-जीवन की सहचरी समीक्षा। एक हमें स्वर्गीय मधुरता का प्रतिबिंब दिखाता है और दूसरा वास्तविक संसार का चित्र।"[1]**

इस प्रकार इन दो लेखकों में मूलतः ही फर्क है इसलिये उनकी भाषा शैली में अन्तर दिखाई पड़ना स्वाभाविक है।

प्रसाद जी अपनी कहानियों और उपन्यासों में भाषा के समतल भूमि पर आये हैं। उनकी कहानियों में कवि हृदय की भावुकता का अनुभव होता है, लेकिन जहाँ प्रकृति के वर्णन का प्रसंग आता है वहाँ प्रसाद जी प्रकृति के प्रसन्न तथा वैभवशाली वातावरण का चित्र बड़ी स्वच्छंदता से खींचते हैं। उपन्यासों में उनकी भाषा का सरल तथा परिमार्जित रूप दिखाई पड़ता है।

प्रसाद जी के बिलकुल उलटी भाव-भूमि पर प्रेमचंद जी की शैली का विकास हुआ है। आरंभ में उर्दू के लेखक होने के कारण उनकी भाषा में अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग मिलता है तथा उनकी रचनाओं में देहाती समाज का चित्रण होने के कारण ग्रामीण शब्दों और मुहावरों का प्रयोग मिलता है। कुछ भी हो, प्रसाद जी और प्रेमचंद जी की भाषा और साहित्य के आदर्श में अंतर होते हुए भी उनकी रचनाओं द्वारा नगर और ग्राम का समन्वय हुआ। उनकी रचना-शैली द्वारा कहानी, उपन्यास, नाटक आदि में एक एक नयी परंपरा का स्वतंत्र रूप मिलता है।

इस काल के गद्य-साहित्य की यह एक विशेषता है कि इसमें गद्य-काव्य का प्रारंभ हुआ। गद्य-काव्य में भाषा की सरसता और भावनाओं का सौन्दर्य मिलता है। यह शैली हिन्दी के भावात्मक निबंधों में मिलती है। बंगला साहित्य के कारण हिन्दी में भावात्मक शैली का रूप स्पष्ट मिलता है। हिन्दी गद्य की भावात्मक शैली को लेकर राय कृष्णदास, वियोगीहरि, चतुरसेन शास्त्री, डा० रघुवीर सिंह आदि गद्य-लेखकों ने अपनी रचनाओं का निर्माण किया। इन रचनाओं के कारण गद्य के शुष्क रूप में एक प्रकार की सरसता आयी।

गद्य-काव्यकारों के रूप में भावात्मक शैली का परिचय देने वालों में राय कृष्णदास और वियोगीहरि मुख्य हैं। इन दोनों लेखकों की रचनाओं में गद्य का अध्यांतरिक (Subjective) रूप मिलता है। परोक्ष अवलंबन के वैभव और सौन्दर्य से प्रभावित होकर एक भक्त के हृदय में किस रूप में सरस तथा मधुर भावनाओं का निर्माण हो सकता है, इसका सुन्दर विश्लेषण इनकी भावात्मक रचनाओं में मिलता है। वियोगीहरि ने अपनी रचनाओं के निर्माण के बारे में 'अन्तर्नाद' की भूमिका में स्पष्ट लिखा है:—

---

१. डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा,—'हिन्दी गद्य शैली का विकास' पंचम संस्करण, पृ० १४२।

**"यह कहने का मैं तो अधिकारी नहीं हूँ कि मेरा यह 'अन्तर्नाद' किसी हृदय के सरस हृदय पर अपना यात्किंचित कोमल, सुखद और सजीव आघात कर सकेगा, पर इतना कहने की धृष्टता अवश्य करूँगा कि मेरी जर्जरित हृत्तंत्री के टूटे और उतरे हुए तारों के स्वर में यदा-कदा यह नाद ध्वनित हुआ करता है उससे मुझे निस्संदेह आह्लाद प्राप्त होता है। अतएव इसे 'स्वान्तः सुखाय' प्रयास ही समझिये।"[1]**

राय कृष्णदास की रचनाओं में भावनाओं और विचारों का सुन्दर गुम्फन मिलता है। उनके छोटे-छोटे वाक्यों में हृदय-स्पर्शी भाव-धारा बहती हुई दिखाई देती है। उनकी रचनाओं में आध्यात्म संबंधी भावनाओं का विश्लेषण मिलता है। मनुष्य के हृदय में परोक्ष सत्ता के प्रति जो भावात्मक अनुभूति होती है उसकी मार्मिक व्यंजना का दर्शन उनकी गद्य-शैली में मिलता है।

इनकी रचनाओं में भाव-व्यंजनात्मक शैली का बहुत स्वाभाविक तथा प्रौढ़ रूप मिलता है। उनकी भाषा का रूप चलता-फिरता है परन्तु उन्होंने उसका प्रयोग इतनी व्यावहारिक रीति से किया है कि सीधी-सीधी भाषा में भी उनकी भावात्मक शैली का रूप प्रकट हुआ है। भाषा में जो कुछ प्रौढ़त्व तथा पंडिताऊपन मिलता है वह उनपर संस्कृत-साहित्य की शैली का प्रभाव दिखाता है। समासांत पदावली का सरस तथा सुचारु रूप उनकी रचनाओं की विशेषता है। उनके समान मनुष्य की गूढ़ात्मक अनुभूति का करुणात्मक तथा भावात्मक निवेदन हिन्दी के अन्य गद्य-लेखकों में कम मिलता है। भावप्रकाश के सरल, स्वाभाविक तथा आकर्षक ढंग की शैली का रूप उनकी रचनाओं में इस प्रकार दिखाई देता है:—

**"चुम्बन—**

**दिन भर मैं उनके लिए अपने को सजाने और गर्वपूर्वक दर्पण में देखने में लगा रहा।**

**संध्या हुई और सूर्य के वियोग से प्रकृति निस्तब्ध हो गई। सारे दृश्य बदल गये। मैं भी थक कर सो गया।**

**वे कृपापूर्वक आये पर ममता के कारण मुझे जगाया नहीं। केवल मेरा चुम्बन किया और चल दिये।**

**उस कोमल चुम्बन से मेरी कठोर निद्रा भंग हुई। मैं आँखें मलकर चकित-सा देखने लगा। उनके चरणों की चाप सुनाई पड़ती थी। मैंने उनके पीछे दौड़ना**

---

१. वियोगीहरि—'अन्तर्नाद' भूमिका से उद्धृत।

**चाहा पर चुम्बन ही के आनंद में मैं इतना विह्वल और कृतकृत्य हो रहा था कि मेरे पैर न उठे।"[१]**

राय कृष्णदास के समान भावात्मक शैली का सुन्दर परिपाक वियोगीहरि की रचनाओं में दिखाई देता है। राय साहब की रचनाओं में परोक्ष अवलंबन के प्रति जो प्रेम भाव या प्यास मिलती है, उसका वैभवशाली और सरस चित्रण वियोगीहरि की रचनाओं में मिलता है। दोनों की रचनाओं का विषय एक होकर भी भाषा-शैली की दृष्टि से दोनों लेखकों में अंतर है।

वियोगीहरि की भाषा में संस्कृत शब्द अधिक मात्रा में होने के कारण संस्कृत की समासांत पदावली का दर्शन मिलता है। लेकिन कहीं-कहीं भाषा सानुप्रासिक दिखाई पड़ती है। वियोगीहरि की भाषा शैली का नमूना इस प्रकार मिलता है:—

**अपने हृदय-मंदिर पर मैंने एक लालसा-लता चढ़ाई थी। आँसुओं से सींच-सींच कर उसे बढ़ाया था। उसके फूल कहीं फेंक न देना, तुम्हारे ही चरणों पर आज चढ़ा देता। पर मन की मन ही में रही। जब उसके फूलने के दिन आए तब उसे तुम्हारी स्मृति-बालिका ने उखाड़ कर फेंक दिया। तुम्हीं बताओ इससे उसे क्या मिला होगा? मैं ही जानता हूँ कि उस दिन मुझे कितना दुःख हुआ था।[२]**

राय कृष्णदास और वियोगीहरि के समान भाषा का स्वाभाविक रूप तथा भावात्मक शैली का दर्शन चतुरसेन शास्त्री की रचनाओं में मिलता है। वैसे तो भावावेश की अलग-अलग शैलियों का दर्शन वियोगीहरि और राय कृष्णदास की रचनाओं में मिलता है, परन्तु चतुरसेन शास्त्री की रचनाओं में उनकी एक अलग शैली दिखाई पड़ती है। शास्त्रीजी की रचनाओं में संगीत की ध्वनियाँ और कथोपकथन की जो शैली मिलती है, उसका अभाव राय साहब और वियोगीहरि की रचनाओं में है।

शास्त्रीजी की रचनाओं में शैली का धारा-प्रवाह है और भावों में एकता मिलती है। हरएक भाव दूसरे भाव से संलग्न हो जाता है तथा पृथक-पृथक वाक्यों की रचना होती है। निम्नलिखित उद्धरण में शास्त्रीजी ने अपने छोटे-छोटे भावों द्वारा एक मनोवैज्ञानिक चित्र खींचने का प्रयत्न किया है:—

**"गीत खतम करके साकी ने देखा, सलीमा बेसुध पड़ी है। शराब की तेजी से उसके गाल एकदम सुर्ख हो गए हैं, और ताम्बूल-राग-रंजित होंठ रह-**

---

१. रायकृष्णदास—'साधना' (सं० डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा: 'गद्यकाव्य 'तरंगिणी' पृ० ३६ से उद्धृत)।

२. श्री वियोगीहरि—'साधना' (सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र: 'गद्य मंजरी' पृ० १६७ से उद्धृत)।

**रह कर फड़क रहे हैं। साँस की सुगंध से कमरा महक रहा है। जैसे मंद पवन से कोमल पत्ती काँपने लगती है, उसी प्रकार सलीमा का वक्षःस्थल धीरे-धीरे काँप रहा है। प्रस्वेद की बूँदें ललाट में, उज्ज्वल प्रकाश में, मोतियों की तरह चमक रही हैं।"**[1]

भावात्मक निबंधों की तरंग-शैली तथा धारा-शैली का दर्शन डा० रघुवीरसिंह के निबंधों में मिलता है। 'शेष-स्मृतियाँ' निबंध-संग्रह में उनके भावाकुल हृदय की वेदनामय कहानी मिलती है। जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा अतीत की स्मृतियों का सुन्दर चित्रण बड़े माधुर्य भाव में खींचने में उनकी लेखनी सफल हुई। उनके निबंधों में अतीत की स्मृतियों का गौरवपूर्ण तथा वैभव-संपन्न इतिहास मिलता है। अत्यन्त वेग के साथ अपने हृदय के भावों को प्रकट करने में उनकी शैली सिद्धहस्त है। उनकी शैली का नमूना इस प्रकार मिलता है:—

**"वे स्मृतियाँ, भग्नाशाओं के वे अवशेष·· कितन उन्मादक होते हैं? प्रेम की उस करुण कहानी को देखकर न जाने क्यों आँखों में आँसू भर आते हैं। और उन खण्डहरों में घूमते-घूमते दिल में तूफान उठता है, दो आहें निकल पड़ती हैं, उसासें भर जाती हैं, आँसू ढलक पड़ते हैं और···उफ! इन खण्ड-हरों में भी जादू भरा है, समय को भुलावा देने का प्रयत्न करते हैं।**[2]

डा० रघुबीरसिंह एक इतिहासज्ञ होते हुए भी उनकी शैली में नीरसता, तर्क-प्रधानता तथा इतिवृत्तात्मकता नहीं मिलती। प्राचीन खंडहरों, मूर्तियों आदि को देखकर उनकी भावधारा का प्रवाह फूट पड़ता है। इनमें एक प्रतिभासंपन्न कवि की भावुकता है। अतः शैली में भी मर्म-वेदना की भावुकता, शब्दलालित्य, मनोहारिकता, मार्मिकता आदि का दर्शन होता है। प्राचीन खँडहरों और ऐतिहासिक घटनाओं का भावुक विश्लेषण इनके निबंधों में अधिक मिलता है।

इस प्रकार इस काल-विभाग में भाषा की अनेक शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। उपन्यास, नाटक, कहानी, निबंध, आलोचना आदि की दृष्टि से अनेक महत्वपूर्ण तथा श्रेष्ठ कृतियों का निर्माण हुआ। गद्य-काव्य, एकांकी, समस्या-नाटक, ललित-निबंध आदि साहित्य प्रकारों का आविर्भाव इस काल में हुआ और साथ ही साहित्य की आत्मा में भी परिवर्तन होने लगा। इस दृष्टि से इलाचंद्र जोशी, जैनेंद्र आदि की मनोवैज्ञानिक कृतियाँ अधिक महत्व रखती हैं। भारत की राष्ट्रीय भावनाओं का चित्रण प्रसाद, 'प्रेमी' आदि नाटककारों में दिखाई देने लगा और रामकुमार वर्मा, सेठ गोविंददास आदि की नाट्य-कृतियाँ एक नये युग के आरंभ का संकेत करने लगीं।

---

१. सं० डा० श्रीकृष्णलाल, 'हिन्दी कहानियाँ' चतुर्थ संस्करण, १९४९, पृ० ४

२. डा० रघुवीरसिंह, 'शेष स्मृतियाँ' तीसरी बार—१९५१, पृ० ५१

भारत में राष्ट्रीयता का प्रचार बड़े जोर से होने के कारण राष्ट्रीय समस्याओं का चित्रण इस काल की कृतियों में दिखाई पड़ता है। भारत की सर्वांगीण उन्नति के लिये जितने प्रयत्न होते रहे, उनका प्रभाव किसी न किसी रूप में इस काल के साहित्य पर पड़ा है और अनेक नवीन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव साहित्य के क्षेत्र में दिखाई पड़ता है।

### विस्तार-काल (सन् १९३६ से सन् १९५० ई० तक)

सन् १९३६ ई० के बाद हिन्दी गद्य-साहित्य को एक नयी गति मिली और उसमें अनेक श्रेष्ठ रचनाओं का निर्माण होने लगा। सन् १९३६ में 'गोदान', 'विराटा की पद्मिनी', 'सुनीता', 'तीन वर्ष' आदि महान् उपन्यासों का प्रकाशन हुआ और इस प्रकार नाटक, कहानी, निबंध, आलोचना आदि साहित्यिक रूपों की अनेक अच्छी-अच्छी कृतियाँ सामने आने लगीं। हिन्दी गद्य-साहित्य में जो अद्भुत क्रान्ति हुई, उसका सारा श्रेय भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचंद आदि साहित्य-मनीषियों को देना चाहिये। इनके श्रम तथा साधना के कारण नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध आदि में अच्छी-अच्छी रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं और हिन्दी गद्य-साहित्य की नींव दृढ़ हुई।

बीसवीं शताब्दी के गद्य-लेखकों की रचनाओं में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद और प्रेमचंद की कृतियों को महत्व का स्थान मिला है। इन लेखकों की लेखनी में आलोचना, निबंध, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि को स्वतंत्र रूप मिला और गद्य-साहित्य के निर्माण में एक प्रगतिशील परंपरा का सूत्रपात हुआ।

प्रसाद और प्रेमचंद की रचनाओं के कारण भाषा और साहित्य दोनों की दृष्टियों से हिन्दी-गद्य-साहित्य का स्थान ऊँचा हुआ और उनके साहित्यिक आदर्श के कारण अनेक उदीयमान लेखक अपनी नयी-नयी रचनाएँ लेकर सामने आये। साहित्य का कोई भी प्रकार हो, उस पर प्रेमचंद या जयशंकर प्रसाद जी की रचनाओं का प्रभाव किसी न किसी रूप में दिखाई देता है और इस प्रकार का प्रभाव दिखाई देना इस समय के साहित्य की सजीवता का लक्षण है।

सन् १९३६ ई० के बाद गद्य-लेखकों के एक नये वर्ग का दर्शन होता है और उसमें वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्रकुमार, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, सूर्यकान्त त्रिपाठी, नन्ददुलारे वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, इलाचंद जोशी, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, उषादेवी मित्रा, 'अज्ञेय', लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविंददास, डा० रामकुमार वर्मा, डा० रामविलास शर्मा, डा० नगेन्द्र, बाबू गुलाब राय, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० श्रीकृष्णलाल, उपेंद्रनाथ 'अश्क', प्रभाकर माचवे और शिवनाथ आदि मुख्य हैं। इन साहित्य-मनीषियों ने अपनी विविध प्रकार की रचनाओं द्वारा हिन्दी गद्य-साहित्य को

भाषा के बारे में एक नये प्रकार का आन्दोलन चलाया। हिन्दी का क्षेत्र अत्यंत विशाल है और उसमें अनेक बोलियाँ हैं जिनमें से कई बोलियों का प्राचीन-साहित्य हिन्दी के विकास में सहायक हुआ है। इन बोलियों में मैथिली, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी, अवधी, ब्रजभाषा, बुंदेलखंडी मुख्य हैं और उनमें कुछ साहित्य-निर्माण हो रहा है। इसलिए इन भाषाओं को शिक्षा और परीक्षा का माध्यम बनाने की माँग हुई। लेकिन इस प्रकार की माँग के कारण हिन्दी की एकता नष्ट होने की संभावना है। भाषा के इस प्रश्न को लेकर क्षेत्रीय बोलियों के आधार पर अलग-अलग प्रान्तों की माँग हुई अर्थात् इस प्रकार के आन्दोलन के पीछे संकुचित क्षेत्रीय भावना कार्य करती रही। एक सम्मिलित परिवार के समान इन बोलियों के रूप में हिन्दी एक भाषा-समूह है और जब तक इनमें एकता रहेगी, तब तक हिन्दी में शक्ति रहेगी। इस प्रकार का आंदोलन हिन्दी की दृष्टि से ही नहीं, उन बोलियों के विकास की दृष्टि से भी उपकारक है।

हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य का सूत्रपात सन् १९३५ से हुआ। सन् १९३५ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' नामक संस्था की स्थापना हुई और मार्क्सवादी विचारधारा का प्रवाह हिन्दी साहित्य में बढ़ने लगा। भारत की राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार की विचार-धारा को प्रोत्साहित करने में सहायक हुई। रूस में औद्योगिक क्रान्ति हुई थी और आर्थिक दृष्टि से रूस शक्तिशाली बना था। भारत में कांग्रेस की राजनीति सत्य, अहिंसा और असहयोग का प्रचार कर रही थी और उसका नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथ में था। इस प्रकार की शुद्ध तथा तात्विक विचार-प्रणाली प्रचार करने की दृष्टि से ठीक थी, परन्तु उसके प्रयोग और प्रत्यक्ष व्यवहार में अनेक समस्याएँ खड़ी हो जातीं। ऐसी परिस्थिति में सशस्त्र क्रान्ति की घोषणा करने वाली विचारधारा का स्वागत भी हो रहा था।

मार्क्सवादी विचार-धारा से प्रभावित राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, डा० राम विलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान आदि लेखक अपनी रचनाओं में भारत की आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण करने लगे। इस दृष्टि से यशपाल का 'दादा कामरेड', उपन्यास महत्व का है। इस प्रकर की विचारधारा का प्राथमिक रूप प्रेमचंद की अन्तिम कृति 'मंगल-सूत्र' में भी मिलता है। इस रचना के देवकुमार पात्र द्वारा प्रेमचंद ने पुराने और नये विचारों का संघर्ष अपने पाठकों के सामने रखा। देवकुमार का पुराना सिद्धांत इस प्रकार था:—

> **'धर्म वह है जिससे समाज का हित हो। अधर्म वह है जिससे समाज का अहित हो। समाज अपनी मर्यादाओं पर टिका हुआ है। उन मर्यादाओं को तोड़ दो, समाज का अन्त हो जायगा।"[1]**

---

**१. प्रेमचंद—'मंगल सूत्र', पृ० ५०।**

देवकुमार के इस पुराने सिद्धान्त में प्रेमचंद की विचार-धारा का रूप मिलता है। परन्तु देवकुमार के जीवन में कुछ ऐसे अनुभव मिलते गये, कि उसका पुराना सिद्धान्त नष्ट हुआ और उसके मन में इस प्रकार का परिवर्तन मिलता है:—

**"अगर कानून कर्जदारों के साथ इतना न्याय भी नहीं करता तो कर्जदार भी कानून में जितनी खींचतान हो सके, करके महाजन से अपनी जायदाद वापस लेने की चेष्टा करने में किसी अधर्म का दोषी नहीं ठहर सकता। इस निष्कर्ष पर उन्होंने शास्त्र और नीति के हरएक पहलू से विचार किया और वह उनके मन में जम गया। अब किसी तरह हिल नहीं सकता।"[1]**

इस प्रकार प्रेमचन्द की आत्मा देवकुमार के मुख से विद्रोह करने की भावना लेकर बोलती है। 'गोदान' में जिस आदर्श की स्थापना का दर्शन मिलता है, उसका बिलकुल उलटा रूप इस रचना में मिलता है।

देवकुमार जैसे निस्पृह आदमी के मन में काल और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होना इस समय की माँग थी। प्रेमचन्द ने 'प्रगतिशील लेखक संघ' के लखनऊ अधिवेशन में जो भाषण दिया था, उसमें उन्होंने साहित्यकार के लक्ष्य के बारे में इस प्रकार कहा है:—

**"साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है, उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई भी नहीं, बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।"[2]**

प्रेमचंद के इन उद्‌गारों में एक सच्चे कलाकार की सच्चाई का आदर्श है, परन्तु 'मंगल-सूत्र' के अन्त में देवकुमार जैसे सच्चे साहित्यकार का जो मनोवैज्ञानिक चित्र खींचा गया है, उसमें प्रेमचंद के अन्तिम विचारों की झाँकी मिलती है। देवकुमार को जब भेंट के रूप में थैली दी जाती है, तब प्रेमचंद ने देवकुमार का वर्णन बड़ी कलात्मकता के साथ इस प्रकार किया:—

**"सहसा उन्हें एक आश्रय मिल गया और उनके विचारशील, पीले मुख पर हल्की-सी सुर्खी दौड़ गई। यह दान नहीं प्राविडेंट फंड है जो आज तक उनकी आमदनी से कटता जा रहा है। सरकारी नौकरी में लोग पेंशन पाते हैं, क्या वह दान है? उन्होंने जनता की सेवा की है, तन-मन से की है, इस धुन से की है, जो बड़े से बड़े वेतन से भी न आ सकती थी। पेंशन लेने में क्यों लाज आवे?**

---

**१. प्रेमचंद—'मंगल सूत्र', पृ० ६१।**

**२. " 'कुछ विचार', त० संस्करण, १९४५, पृ० १६।**

**राजा साहब ने जब थैली भेंट की तो देवकुमार के मुँह पर गर्व था, हर्ष था, विजय थी।"[1]**

प्रेमचंद ने एक साहित्यकार में भी धन-लिप्सा की भावना दिखाकर साहित्य के उद्देश्य के बारे में एक निराले दृष्टिकोण की स्थापना की। ऐसा लगता है कि इस कृति द्वारा प्रेमचंद उच्च वर्ग का बहुत बड़े पैमाने पर पर्दाफास करने पर तुले हैं। अब उनकी दृष्टि में दाम्पत्य-प्रेम, पिता-पुत्र का संबंध, साहित्य-सेवा, वकालत, धर्म और दर्शन किसी न किसी प्रकार समाज में क्रय-विक्रय के साधन हैं तथा सारे आदर्शवादों के पीछे केवल जघन्य धन-पिपासा मिलती है। इस प्रकार का व्यावहारिक दृष्टिकोण 'मंगल-सूत्र' में मिलता है।

प्रेमचंद की मृत्यु के बाद साहित्य का आदर्श जीवन की व्यावहारिकता को लेकर आगे बढ़ने लगा। अधिकतर लेखकों ने समाज का पुनर्संगठन करने की दृष्टि से भारत की राजनीतिक समस्याओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया। 'दादा कामरेड,' 'टेढ़े मेढ़े रास्ते', 'चढ़ती धूप' आदि उपन्यासों में भिन्न-भिन्न राजनीतिक विचार-धाराओं का संघर्ष दिखाया गया है। 'प्रेमी' और सेठ गोविंददास के ऐतिहासिक नाटक किसी न किसी रूप में राष्ट्रीयता का प्रचार कर रहे थे। जैनेन्द्र, इलाचंद्र जोशी, 'अज्ञेय' आदि लेखक अपने उपन्यासों में पात्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रणों द्वारा इस काल की राजनीतिक, सामाजिक आदि समस्याओं पर प्रकाश डाल रहे थे।

प्रेमचंद की मृत्यु के बाद दूसरा महायुद्ध और सन् १९४२ का राष्ट्रीय आन्दोलन अत्यंत महत्व की घटनाएँ हैं। इन दो घटनाओं के कारण साम्राज्य-विरोधी भावना का प्रचार सर्वत्र हुआ और राष्ट्रीयता का विशाल रूप सर्वत्र दिखाई देने लगा। सन् १९४२ के राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण भारत के राष्ट्रीय जीवन में एक विशेष प्रकार की जागृति का परिपोषण हुआ। इन सब बातों का प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर पड़ा, और गांधीवाद, मार्क्सवाद, फ्रायडवाद आदि वादों के उपस्थित होने के कारण साहित्य के आदर्श के बारे में नयी-नयी व्याख्याएँ होने लगीं। सन् १९४७ में भारत के स्वतंत्र होने के कारण राष्ट्रीय विचारधारा के प्रचार को रुकावट पड़ी और साहित्य का लक्ष्य भारत की सर्वांगीण उन्नति करने की दृष्टि से बनने लगा।

इस काल में हिन्दी गद्य में सब प्रकार के साहित्यिक रूपों का विकास दिखाई देता है। नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना, एकांकी, गद्य-काव्य, गद्य-गीत, जीवन-चरित, रेडियो-नाटक, ललित-निबंध आदि के स्पष्ट रूप दिखाई देने लगे। इन सब प्रकार की साहित्यिक रचनाओं में तत्कालीन परिस्थिति का चित्रण मिलता है।

---

१. प्रेमचंद 'मंगलसूत्र' पृ० ७१।

निबंध की दृष्टि से एक नयी शैली का सूत्रपात हुआ। अंग्रेजी शैली के 'पर्सनल एसे' की परंपरा हिन्दी निबंध-साहित्य में आरंभ हुई और प्रभाकर माचवे जैसे अहिन्दी भाषा-भाषी लेखक अपनी मातृभाषा के साहित्य का प्रभाव लेकर हिन्दी में निबंध लिखने लगे। निबंध के समान कहानी-साहित्य में नवीनता के लक्षण दिखाई देने लगे और कहानी के रचना-विधान में परिवर्तन होने लगा। कुछ ऐसा लगता है, कि 'पर्सनल एसे' (ललित-निबंध) और कहानी की शैली तथा रचना-विधान एक-सा होने लगा।

रंगमंच की दृष्टि से नाटकों का निर्माण आरंभ हुआ और अंग्रेजी एकांकी (One act Play) शैली के नाटक अधिक संख्या में लिखे जाने लगे। सामाजिक नाटकों में समाज की भिन्न-भिन्न समस्याओं का चित्रण होने लगा और समस्या नाटकों की नयी परंपरा चली। रेडियो के प्रचार के कारण एकांकी-नाटक रेडियो के लिये लिखे जाने लगे और नाटक-साहित्य में 'रेडियो-नाटक' नामक एक नये नाट्य-रचना की परंपरा शुरू हुई।

उपन्यास साहित्य की दृष्टि से अनेक प्रयोग हो रहे हैं। 'गोदान' के बाद 'अज्ञेय' का 'शेखर : एक जीवनी' एक अत्यंत महत्व की रचना है। भाषा की दृष्टि से इस उपन्यास में व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया गया है। 'शेखर : एक जीवनी" की भाषा के दो नमूने देखिये :—

**१—"नौकरी ऐसी बुरी तो नहीं है। मेरी तरह की सरकारी नौकरी न कहिए, पर प्रोफेसरी तो बड़ी अच्छी चीज है। आदर भी होता है, काम भी कम होता है, छुट्टियाँ भी अच्छी मिलती हैं। फिर विद्या का साथ रहता है, आदमी पढ़ता-लिखता रह सकता है और अच्छे विचारों का प्रचार भी कर सकता है।"[1]**

**२—"कभी, एक दिन, एक क्षण-भर के आदर्श माने जाने का सौभाग्य हर किसी को मिल जाता है, पर चिरंतन आदर्श कोई नहीं, न हो सकता है। इसलिए जो अपने प्रिय के प्रति 'चिरन्तन' सच्चा है, वह अवश्य किसी आदर्श से च्युत है, और जो आदर्श के प्रति निष्ठावान् है, वह अवश्य कभी-न-कभी प्रिय को झर जाने देगा.... साधारण मानव और कलाकार—विद्रोही में यही अन्तर है.... मैं नहीं चाहती कि तुम मानव कम होओ, शेखर, किन्तु अगर तुममें उसकी क्षमता है, तो उससे बड़े होने की अनुमति-स्वाधीनता मैं तुम्हें सहर्ष देती हूँ....।"[2]**

'अज्ञेय' के छोटे-छोटे वाक्यों में जो भाव-व्यंजना मिलती है, वह अत्यंत महत्व की बात है। इसमें लेखक जैसा सोचता रहा है, वैसा लिखता जाता है।

---

१. 'अज्ञेय'—'शेखर : एक जीवनी' द्वि० सं०, १९४७, पृ० ११८।

२. 'अज्ञेय'—'शेखर : एक जीवनी " " " " २५०।

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास में भाषा की साहित्यिक शैली का परिपोषण मिलता है। इसमें लेख की भावप्रणाली का सुगम रूप मिलता है। इसकी भाषा का रूप तथा विचारों का प्रदर्शन इस रूप में मिलता है:—

**"वत्स, प्रेम एक मिथ्या कल्पना है। स्त्री और पुरुष का संबंध केवल संसार में ही होता है—संसार से पृथक् दोनों ही भिन्न-भिन्न आत्माएँ हैं। संसार में भी स्त्री और पुरुष में आत्मा का ऐक्य सम्भव नहीं है। प्रेम तो केवल आत्मा की घनिष्ठता है। वह घनिष्ठता कोई बड़े महत्व की वस्तु नहीं होती, वह टूट भी सकती है। उस घनिष्ठता के टूटने पर अपने जीवन को दुखमय बना लेना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम अपना विवाह करो—विवाह न कर के तुम कर्तव्य से विमुख हो रहे हो।"१**

वर्मा जी की भाषा में शैली की धारा नदी के प्रवाह के समान शांत है। विचारों में एक प्रकार का संतुलन रखा गया है। हर एक वाक्य में निश्चित भावों को उपस्थित किया गया है। कहीं भी उन्होंने पाण्डित्यपूर्ण शैली का प्रयोग नहीं किया।

संस्कृत की पाण्डित्यपूर्ण शैली का सरस रूप डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की रचनाओं में मिलता है। आधुनिक गद्य-लेखकों में द्विवेदी जी का स्थान ऊँचा है और उनके समान सरस, भावपूर्ण, प्रभावात्मक और प्रशंसात्मक शैली में गद्य अभी तक बहुत कम लेखकों ने लिखा है। अन्वेषक, इतिहास लेखक, आलोचक, निबंधकार आदि के रूप में उन्होंने हिन्दी गद्य-साहित्य को समृद्ध किया। शुक्लजी ने अपनी रचनाओं द्वारा साहित्य का लोकमंगलदायक तथा कल्याणकारी पक्ष लोगों के सामने खड़ा किया। डा० द्विवेदी ने भी अपनी कृतियों द्वारा साहित्य में 'मानवतावाद' का रूप रखकर मनुष्य का जीवन साधारण धरातल के ऊपर उठाने का प्रयत्न किया है। उनमें एक स्वतंत्र चिंतन की साधना है और उसका आलोक उनके निबंधों, आलोचनात्मक लेखों, इतिहास-ग्रंथों, व्याख्यानों आदि में किसी न किसी रूप में दिखाई पड़ता है। उनकी भाषा शैली में एक विशेष प्रकार की भावात्मकता है। परन्तु उनके 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास में कहीं कहीं 'कादंबरी' की शैली का भी रूप दिखाई पड़ता है। इस उपन्यास के निम्नलिखित वाक्य में उनकी शैली का रूप इस प्रकार मिलता है:—

**"उन्हें क्या पता था कि एक दिन जब बाह्य जगत् को चन्द्रमा सुधा-सलिल से प्लावित करता रहेगा, चन्दन रस के अविरलस्रावी निर्झर से रसमय बना देगा, अमृत सागर की बाढ़ से भुवनान्तराल को भरना होगा, श्वेत-गंगा के सहस्र-सहस्र प्रवाहों को ढकता रहेगा और महावराह के दंष्ट्रामण्डल की शोभा बिखेरता रहेगा,**

---

१. भगवतीचरण वर्मा—'चित्रलेखा', छठवाँ संस्करण, सं० २००२, पृ० १७३।

**उस समय गंगा के प्रवाह पर गंगा के ही समान पवित्र, ज्योत्सना के ही समान स्वच्छ-रूपा, एक राजबाला अपने मन्दस्मित से अन्तर्जगत् को भी उसी प्रकार पवित्र, निर्मल और उत्फुल्ल बना देगी।'[1]**

इस काल के कवियों ने भी अपनी गद्य-रचनाओं द्वारा भाषा की शैली में एक नयी परंपरा का सूत्रपात किया। प्रसादजी ने अपने नाटकों और कहानियोंकी भाषा द्वारा जिस काव्यात्मक शैली का रूप उपस्थित किया, उसका परिष्कृत तथा सहज रूप पंत, निराला, महादेवी वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी आदि की गद्य-रचनाओं में मिलता है। पंतजी की भाषा का नमूना इस प्रकार मिलता है :—

**"भारतवर्ष जैसे विशाल, उर्वर और संपन्न देश की सामन्तकालीन सभ्यता और संस्कृति अपने उत्कर्ष के युग में संसार को जो कुछ दे सकती थी, उसका समस्त वैभव, बहुमूल्य उपादान, उसकी अपार गौरव-गरिमा, ऋद्धि-सिद्धि, दृष्टि-चकित कर देने वाले रूप-रंग—उस युग की विशद भावना, बुद्धि, कल्पना, प्रेम, ज्ञान, भक्ति, रहस्य, ईश्वरत्व—उसके समस्त भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक उपकरणों को जोड़कर, जैसे, उस युग की चरमोन्नति का प्रतीक स्वरूप, श्रीकृष्ण की प्रतिमा निर्माण की गई है। इससे परिपूर्ण रूप अथवा प्रतीक सामंत युग की संस्कृति का और हो भी नहीं सकता था। और कृषि संपन्न भारत के सिवा कोई दूसरा देश, शायद, उसे दे भी नहीं सकता था।"[2]**

पंत जी की भाषा में संस्कृत शब्दों का प्रयोग अधिक मात्रा में हुआ है। उनके कवि-हृदय की भावुकता का दर्शन उनके गद्य में कम मिलता है। परन्तु भाषा का यह रूप निरालाजी की गद्य-रचनाओं में नहीं दिखाई देता। निरालाजी की भाषा काव्यात्मकता तथा कलात्मकता की दृष्टि से प्रसाद और पंतजी से भिन्न है। निरालाजी की भाषा ग्रामीण जीवन लेकर साहित्य के क्षेत्र में आयी, इसलिये वातावरण के अनुसार उन्होंने ग्रामीण शब्दों का ज्यों-का-त्यों उपयोग किया। यह होते हुए भी उनकी भाषा में भाव-गंभीरता, कलात्मकता और काव्यात्मकता की कमी नहीं हुई।

एक ठोस तथा साहित्यिक शैली का दर्शन महादेवी जी के गद्य में मिलता है। महादेवी जी ने पंत की अपेक्षा गद्य अधिक मात्रा में लिखा है। अपने विचारों को प्रचुर मात्रा में उपस्थित करने की स्वाभाविक तथा सुगठित शैली उनके गद्य में मिलती है। बीच-बीच में उनके कवि हृदय की भावुकता का दर्शन मिलना स्वाभाविक है, परन्तु जब

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', '(विशाल भारत, सितं, १९४३, पृ० १८९ से उद्धृत)।

२. सुमित्रानंदन पंत 'आधुनिक कवि' (२), तृतीय सं० सं० २००३, पर्यालोचन, पृ० १६।

कहीं उनके हृदय की कोमलता का स्वरूप दिखाई पड़ता है तब वहाँ गांभीर्य के साथ एक लालित्यपूर्ण शैली का दर्शन होता है। महादेवी की भाषा-शैली का रूप इस प्रकार मिलता है :—

**"—परन्तु मेरे हृदय के कोने-कोने में सजग विश्वास जानता है कि जिस विद्युत् के भार से कठोर पृथ्वी फट जाती है उसी को बादल की सजलता अपने प्राणों का आलोक बनाये घूमती है। अग्नि को बुझाने के लिये हमें, उसके विरोधी उपादानों में ही शक्तिशाली जल की आवश्यकता होगी, अंगारों के पर्वत और लपटों के रेले की नहीं।**

**जीवन के इतिहास में पशुता से पशुता की, कठोरता से कठोरता की और बुद्धि से बुद्धि की कभी पराजय नहीं हुई, इस चिर परीक्षित सिद्धान्त की जैसी नई कसौटी हम चाहते थे, वैसी ही लेकर हमारा ध्वंस-युग आया है। इसके ध्वंसावशेष में निर्माण का कार्य मनुष्यता, करुणा और भावनामूलक विश्वास ही से हो सकेगा, यह मैं नहीं भूलना चाहती।"[1]**

हिन्दी काव्य के कवियों में महादेवी का गद्य-साहित्य हिन्दी गद्य के विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्व का है। उनके गद्य में उनके विचारशील व्यक्तित्व की छाया सर्वत्र दिखाई देती है। भावों और विचारों को वहन करने की उनकी साहित्यिक शैली हिन्दी के लेखकों में कम मिलती है। उनकी भाषा तत्सम-प्रधान है और उसमें शैली या विचारों की दुर्बलता नहीं मिलती। उनकी भाषा में सर्वत्र काव्यात्मकता, सूक्ष्मता और भावों का गांभीर्य मिलता है। भावों को प्रकट करने की उनकी शैली इस रूप में दिखाई पड़ती है कि मानों पहाड़ का कोई झरना अपनी स्वाभाविक गति का परिचय दे रहा है।

हिन्दी गद्य के प्रारंभिक-काल से बंगला गद्य का प्रभाव हिन्दी गद्य-शैली पर पड़ता आ रहा है और बंगला की कोमलकान्त पदावली की शैली पर हिन्दी में गद्य रचनाएँ होने लगीं। रवींद्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' की रोमानी और भावुकतापूर्ण प्रवृत्ति का प्रवेश हिन्दी गद्य में हुआ। छायावादी कवियों का गद्य मूलतः इस प्रवृत्ति से प्रेरित था और उनके व्यक्तिगत चिन्तन के कारण उनकी रचनाओं में गद्य की एक अलग शैली का निर्माण हुआ।

हिन्दी गद्यकाव्य की रचनाओं पर गीतांजलि का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है और हिन्दी में तेजनारायण 'काक', श्रीमती दिनेशनंदिनी डालमिया, भँवरलाल सिंघी आदि की गद्य-शैली पर हुआ है। धीरे-धीरे इन लेखकों में अपनी स्वतंत्र शैली का विकास होने लगा और हिन्दी में भावात्मक शैली का स्वतंत्र रूप दिखाई देने लगा। अतः हिन्दी

---

**१. महादेवी वर्मा—'आधुनिक कवि' (२) (अपने दृष्टिकोण से), पृ० ३३।**

में गद्यकाव्य की शैली पर स्वतंत्र रचनाएँ उपस्थित होने लगीं। इस दृष्टि से दिनेश-नंदिनी डालमिया की रचनाओं में अभिव्यंजना की मौलिकता और भाव-माधुर्य का दर्शन होता है। उनकी भाषा के भाव-माधुर्य का दर्शन इस प्रकार में मिलता है:—

**"तुम आशा से सुन्दर हो, इसीलिए अमर आह्लाद बनकर मुझमें आए हो। तुम कौमार्य से कोमल हो, इसीलिए मेरे अन्तर के आलोक में सर्वदा के लिए अस्त हो गए हो। तुम शरत् की ज्योत्स्ना के शैशव से अधिक मदभरे हो, इसीलिए साहित्य की सुधा बनकर मुझमें आए हो। तुम आशा से सुन्दर हो!**

**प्रतीक्षा की संध्या ढल गई, अब तुम न आना, आकर्षण की समता से मैं हार चुकी हूँ। मिलन में माधुर्य नहीं आएगा, क्योंकि हमारी आँखें संसार की उपेक्षा के ऊपर उठने को उद्यत नहीं!"**[1]

कुछ इस प्रकार की स्वतंत्र गद्य-शैली का विकास हिन्दी के अन्य गद्य काव्यकारों में भी मिलता है। भँवरलाल सिंघी ने गीतांजलि की शैली पर अपनी रचनाओं द्वारा अपने अन्तर्जगत के भावों को बहुत प्रभावात्मक ढंग से उपस्थित किया है। इनकी भाषा अत्यंत लालित्यपूर्ण है। उसकी सुषमा, रूप और सौन्दर्य किसी भी पाठक को विमोहित कर सकता है। भँवरलालजी की 'वेदना' में संग्रहीत गद्य-कविताओं को देखकर ऐसा लगता है कि लेखक अपने भावजगत् की वेदनाओं को पाठकों के सामने उपस्थित करता रहा है। 'वेदना' में से भँवरजी की गद्य कविता का नमूना इस प्रकार मिलता है:—

**"मैं क्या हूँ?**

**मैं तो उदधि-वक्ष की वह तरंग हूँ जो नाविक की पतवार रात-दिन काटती रहती है।**

**मेरा लक्ष्य क्या?**

**मैं तो उस पथ का राहगीर हूँ, जिसका न कोई आदि है, न अन्त। मुझे लंबा रास्ता तय करना है। तुम मेरी कठिन यात्रा पर क्यों दया करते हो? मेरा तो यही मधुर जीवन है।!**

**मैं क्या हूँ?**

**मैं तो चिर-प्रज्ज्वलित वियोगाग्नि का वह स्फुलिंग हूँ—जलना ही जिसका जीवन है।"**[2]

इस काल की यह एक विशेषता है कि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, डा० सत्येन्द्र, विनयमोहन शर्मा, डा० रामविलास शर्मा,

---

१. दिनेश नन्दिनी डालमिया—'वंशीरव', पृ० ८४-८५।

२. भँवरलाल सिंघी—'वेदना' प्रथम, सं० १९३७, पृ० २४।

बाबू गुलाबराय, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि समालोचकों ने हिन्दी साहित्य के विविध अंगों पर लिखकर उसका संपूर्ण रूप लोगों के सामने उपस्थित किया। इन लेखकों की रचनाओं के कारण हिन्दी की अनेक कृतियों का मूल्यांकन किया गया और भाषा को एक सुगठित तथा परिमार्जित रूप मिला। नन्ददुलारे वाजपेयी की आलोचनात्मक शैली का नमूना देखिये :—

**"काव्यानुभूति के साथ संगीत का संयोग भी इस युग में बना रहा। संगीत का इतना गहरा प्रभाव पड़ गया था कि इस युग की गद्य-भाषा भी ध्वन्यात्मक हो गई थी। प्रसाद के नाटक, निराला के उपन्यास और पंत की गद्यभूमिकाएँ ऐसी ही भाषा के उदाहरण हैं। प्रगीतात्मक काव्य का इतना प्रसार था कि साहित्य के आख्यानात्मक और नाटकीय अंग भी अपनी विशेषता छोड़कर कल्पना की भूमि में रमने लगे थे।"**[1]

विश्वविद्यालयों में हिन्दी को महत्व का स्थान मिलने के कारण साहित्य के विविध अंगों पर प्रकाश डालने वाली किताबों का निर्माण प्रचुर मात्रा में होने लगा। इसलिए आलोचना की भाषा-शैली में एक प्रकार की सुबोधता आने लगी और विद्यार्थी-वर्ग में इस प्रकार की रचनाएँ प्रिय होने लगीं। हिन्दी में इस प्रकार की सुबोध शैली का विकास बाबू गुलाबराय की आलोचनात्मक कृतियों में मिलता है। उनकी शैली का नमूना इस प्रकार मिलता है :—

**"हमारे यहाँ मनोवेगों के वाह्य अभिव्यंजन को पर्याप्त महत्व दिया गया है। रस-शास्त्र का उदय ही बाह्य अभिव्यंजकों के अध्ययन से हुआ है। रस-सिद्धान्त के मूल आचार्य हैं नाटच-शास्त्र के कर्ता भरत मुनि। उन्होंने अभिनय के संबंध में ही बाह्य व्यंजकों का अनुसंधान किया था किन्तु उसके सामने मनोवेगों का आन्तरिक पक्ष गौण नहीं हुआ, अनुभव कार्य रूप समझे गये, कारण रूप नहीं।"**[2]

यह काल-विभाग आलोचना साहित्य की दृष्टि से अत्यंत महत्व का है। इसलिये हिन्दी साहित्य का यह काल-विभाग 'आलोचना युग' नाम से संबोधित किया जा सकता है। विश्वविद्यालयों में हिन्दी को महत्व का स्थान मिलने के कारण हिन्दी साहित्य के अध्ययन के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ है। इस काल की यह भी एक विशेषता है कि हिन्दी में शोध-कार्य करने के लिये विद्यार्थी अत्यंत उत्सुक हैं और हरएक विश्वविद्यालय में अनेक विद्यार्थी हिन्दी के शोधकार्य में व्यस्त दिखाई देते हैं। पी-एच० डी०; डी०

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी—'आधुनिक साहित्य' (प्रथम संस्करण), सं० २००७, पृ० २८०।

२. गुलाबराय एम० ए० : 'सिद्धान्त और अध्ययन' द्वि० सं०, सं० २००६, पृ० १३७।

फिल०; डी० लिट्० आदि उपाधियों को प्राप्त करने के लिए जितनी थीसिसें लिखी गयीं, वे बाद में पुस्तक रूप में छपने लगीं और हिन्दी साहित्य के विस्तृत ज्ञान के लिये इन पुस्तकों का उपयोग होने लगा। एम० ए० के लिये भी थीसिसें लिखी जाने लगीं और बाद में वे भी पुस्तक के रूप में प्रकाशित होन लगीं। संशोधन-कार्य की यह प्रगति हिन्दी गद्य के विकास की दृष्टि से विशेष महत्व रखती है।

इस प्रकार हिन्दी गद्य के विविध साहित्यिक रूपों द्वारा हिन्दी गद्य का विकास होता आ रहा है। काल और परिस्थिति के अनुसार इसके विकास में सहयोग मिलता गया। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत होने के कारण हिन्दी गद्य के विकास के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ निर्माण होने लगीं। 'काशी नागरी-प्रचारिणी सभा', 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' (प्रयाग), राष्ट्र भाषा प्रचार समिति', 'वर्धा 'दक्षिण हिन्दी प्रचार सभा' आदि संस्थाओं के साहित्यिक कार्य के कारण अहिन्दी प्रान्तों में भी हिन्दी का प्रचार होने में सहायता हुई। अनेक अहिन्दी भाषा-भाषी लेखक भी हिन्दी में लिखनें लगे। इस तरह हिन्दी को एक सार्वभौम रूप मिल रहा है। अनेक संघर्षों से सामना करते-करते हिन्दी गद्य विकास-क्रम की सीढ़ी पर आ चुका है। सन् १९५० के हिन्दी गद्य की सुगम शैली का रूप इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है:—

> **"मानव हृदय की जय हो! उसकी दुर्वलताओं की जय हो, किन्तु, उसकी साधना भी अक्षय बनी रहे, वह भी अजर रहे, वह भी अमर रहे। दुर्वलता यदि सत्य है, तो उससे ऊपर उठना भी महासत्य है। अपने को सँभालो इला! इस प्रकार अधीर और विक्षुब्ध होने से काम न चलेगा। विकट से विकट परिस्थितियों का मुकाबला करने ही में मानवीय साहस की परीक्षा होती है। शान्त होकर अगला कार्यक्रम निर्धारित करो।"[१]**

---

**१. जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द'—'समर्पण', १९५०, पृ० १२७।**

# अध्याय २

# नाटक

हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास लगभग सौ साल का है। हिन्दी गद्य के उपन्यास, निबंध, आलोचना, कहानी आदि साहित्यिक रूपों में नाटक का उद्‌गम पहले हुआ। परन्तु प्रगति की दृष्टि से देखा जाय तो हिन्दी का नाटक-साहित्य बहुत ही पिछड़ा हुआ मालूम पड़ता है। भारत का प्राचीन नाटक-साहित्य अत्यंत प्रसिद्ध है और आधुनिक युग में बंगला, मराठी, गुजराती आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के नाटक-साहित्य की प्रगति काफी हो रही है।

हिन्दी नाटक-साहित्य के विकास के पीछे संस्कृत नाटक-साहित्य की परंपरा, अंग्रेजी नाटक-साहित्य का प्रभाव और भारत की आधुनिक भाषाओं के नाटक-साहित्य की प्रगति एक महान् प्रेरणा के रूप में कार्य कर रही हैं। फिर भी हिन्दी के नाटक-साहित्य में पर्याप्त उन्नति के लक्षण दिखाई नहीं पड़ते। इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि हिन्दी-नाटक-साहित्य के विकास में कुछ विरोधी शक्तियां काम कर रही हैं। गत पंद्रह-बीस वर्ष के हिन्दी नाटक-साहित्य की प्रगति को देखकर इतना ही कहा जा सकता कि वह अब विकास की राह पर है। हिन्दी नाटक-साहित्य के इतिहास के निम्नलिखित काल-विभाग मान कर उसके विकास-क्रम की अवस्था पर प्रकाश डाला जा सकता है:—

**काल-विभाग**

| | | |
|---|---|---|
| १. आदि-काल: | ईसा की सत्रहवीं शताब्दी से | सन् १८५३ ई० तक |
| २. आरंभिक-काल: | सन् १८५३ ई० से | सन् १८७३ ई० तक |
| ३. निर्माण-काल: | सन् १८७३ ई० से | सन् १८९७ ई० तक |
| ४. शैशव-काल: | सन् १८९७ ई० से | सन् १९१५ ई० तक |
| ५. विकास-काल: | सन् १९१५ ई० से | सन् १९३४ ई० तक |
| ६. विस्तार-काल: | सन् १९३४ ई० से | सन् १९५० ई० तक |

### आदि-काल (ईसा की सत्रहवीं शताब्दी से सन् १८५३ ई० तक)

भारत के प्राचीन नाटक-साहित्य पर विचार किया जाय तो संस्कृत का नाटक-साहित्य अत्यंत समृद्ध है और उसमें नाट्य-कला की विशाल परंपरा मिलती है। संस्कृत

में इतने उत्कृष्ट नाटक मिलते हैं कि विश्व-साहित्य में उन्हें महत्वपूर्ण स्थान मिला है। संस्कृत ग्रंथों में नाट्य-कला का जितना विश्लेषण हुआ है उतनी शास्त्रीय चर्चा शायद ही विश्व की किसी भाषा में हुई होगी।

भारत में नाटकों का आरंभ ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी के आसपास माना जाता है। संस्कृत-नाटकों के बारे में अभी तक जो कुछ शोध कार्य हुआ है उसके अनुसार अश्वघोष को संस्कृत का प्रथम नाटककार माना जाता है और उसके बाद भास तथा कालिदास के नाटकों का समय आता है।[1] और ईसा की चौथी शताब्दी से संस्कृत नाटकों का इतिहास तो निश्चित रूप में मिलता है तथा कालिदास तथा भास के बाद हर्ष, भवभूति, राजशेखर आदि नाटककारों की महान् कला-कृतियां उपलब्ध होती हैं।

संस्कृत का नाटक-साहित्य इतना बेजोड़ तथा समृद्ध है कि वह विश्व की किसी भी प्राचीन भाषा के साहित्य से टक्कर ले सकता है। कालिदास का 'शाकुन्तल' तथा भवभूति का 'उत्तर राम चरित' विश्व के नाटक-साहित्य की महान् रचनाएँ हैं। लेकिन संस्कृत साहित्य की यह वैभवशाली परंपरा अधिक काल तक नहीं चल सकी। उसके विकास की गति ईसा की दसवीं शताब्दी तक ही मिलती है। ग्यारहवीं शताब्दी के बाद संस्कृत का कोई विशेष महत्वपूर्ण नाटक दिखाई नहीं पड़ता और तेरहवीं शताब्दी के बाद जो नाटक मिलते हैं वे अधितकर अपभ्रंश भाषा में हैं। अपभ्रंश भाषा के नाटक-साहित्य की परंपरा देशी भाषाओं के नाटक-साहित्य में मिलती है, और यहीं से भारत की आधुनिक भाषाओं के नाटक-साहित्य का उद्गम माना जा सकता है।

हिन्दी नाटक के उद्गम के बारे में विचार करते समय नाटक के मूल रूप के संबंध में निश्चित निर्णय देना बहुत कठिन है। संवाद और संगीत तत्वों को लेकर वेदों में भी नाटकीय रचनाओं का अन्वेषण किया जा सकता है। समस्या तो यह है कि नाटक के बारे में एक निश्चित धारणा बनाकर एवं उसके मुख्य तत्वों को लेकर नाटक के मूल रूप को ढूंढ़ना चाहिए। किसी भी रचना का मूल रूप अधिक से अधिक अतीत काल में दिखाने की प्रवृत्ति शोध-कर्ताओं में स्वाभाविक रूप से होती है। हिन्दी

---

1. **"We may fairly safely date Kalidasa about A.D. 400, this gives us a period of not later than A.D. 350 for Bhasa...... The most that can be said is that it held without improbability that Bhas is nearer to Kalidas's period than to Acvaghosa's.—A.B Keith : The Sanskrit Drama (1954). Page 93—94.**

नाटक के मूल रूप के बारे में भी कुछ इसी प्रकार का शोध-कार्य हुआ है। डा० दशरथ ओझा जी ने हिन्दी नाटक के मूल रूप का अस्तित्व १३वीं शताब्दी में दिखाने का प्रयत्न किया है।

हिन्दी नाटक का आरंभ उन्नीसवीं शताब्दी से माना जाता है और रीवां-नरेश महाराज विश्वसिंहजू (सन् १७८७-१८५४) ई० द्वारा लिखित 'आनंद रघुनंदन (रचनाकाल सन् १८३० ई० के आसपास) नाटक हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक नाटक है। परन्तु डा० दशरथ ओझा ने कवि अब्दुल रहमान लिखित 'संदेश रासक' के आधार पर हिन्दी नाटकों का आरंभ तेरहवीं शताब्दी में माना है और अपना निर्णय इस प्रकार प्रगट किया है:—

> **"हमारी सम्मति में यह रासक पूर्णतया विकसित नाटकों के प्रारम्भिक काल का वह रूप है जिसमें श्रव्यकाव्य अभिनय कला की सहायता से दृश्य-काव्य में परिणत हो रहे हैं। बहुरूपियों से प्रदर्शन होने का उल्लेख इस बात का प्रमाण है।"**[1]

डा० ओझा ने अपभ्रंश भाषा के विद्वान् हरिवल्लभ भायाणी के अनुसार 'संदेश रासक' के एक श्लोक के अस्पष्ट अर्थ को ठीक समझ कर विविध छन्दों के साथ उसके कथानक में भी नाटकत्व पाया है। उन्होंने जिस श्लोक के द्वारा 'संदेश रासक' पर नाटक का आरोप किया है वह श्लोक रासकों की उपयोगिता की ओर इस प्रकार संकेत करता है:—

> **'कह व ठाइ चउवेईहिं वेउ पयासियइ**
> **कह बहुरूपि णिबद्धउ रासउ भासियइ ॥४३॥**[2]

इस श्लोक की व्याख्या में 'रासउ भासियइ' का अर्थ 'रासको भाष्यते' मिलता है। परन्तु श्री हरिवल्लभ भायाणी ने इसी का अर्थ निम्नलिखित किया है:—

'The Rasak is staged by actors'—अर्थात् 'रासक का अभिनय पात्रों द्वारा होता है।' डा० ओझा ने 'भासियइ' या 'भाष्यते' शब्द की अस्पष्टता पर ध्यान न देकर रासक परंपरा और जन नाटक के आधार पर हिन्दी नाटकों का मूल-स्रोत तेरहवीं शताब्दी में सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। लेकिन उनके इस निर्णय में रासलीलाओं के मूल की ओर संकेत मात्र मिलता है जिनका प्रचलन स्वांग, सांगीत आदि द्वारा लोक-नाटकों में दिखाई देता है।

जब हम हिन्दी नाटक के प्रारंभिक रूप के बारे में विचार करते हैं तब हमें

---

**१. डा० दशरथ ओझा—'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' प्र० सं०, पृ० ९७**

**२. सं० जिनविजय मुनी, श्री वल्लभभायाणी : 'सन्देश रासक', (सं० २००७) द्वि० सं०, पृ० १९**

नाटक की कल्पना आजकल के रंगमंच पर खेलने योग्य नाटक के रूप में नहीं करनी चाहिए। नाटक में गद्य और पद्य का मिश्रण रहता है और हिन्दी गद्य का प्रारंभ उन्नीसवीं शताब्दी में मिलता है। अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के पहले हिन्दी नाटक की कल्पना करना विचित्र सा लगता है। उन्नीसवीं शताब्दी के पहले अधिकतर साहित्यिक कृतियां पद्य में मिलती हैं और उनमें कुछ कृतियां ऐसी भी हैं जिनमें नाटक के कुछ तत्व मिल सकते हैं या रंगमंच पर पात्रों द्वारा उन कृतियों का दिग्दर्शन किया जा सकता है। हमें उन्हें नाट्य-काव्य (Dramatic poetry) के रूप में लेना चाहिए, न कि शुद्ध नाटकों के रूप में। यदि केवल कुछ नाटकीय तत्वों के मिलने से ही किसी कृति को हम नाटक की संज्ञा देते रहेंगे तो वेदों और उपनिषदों के कथात्मक संवादों को भी नाटकों के रूप में देखना पड़ेगा क्योंकि उनमें भी हमें नाटक की कथावस्तु और कथोपकथन के बीज मिलते हैं। परन्तु हम उन्हें नाटक के रूप में नहीं देख सकते। इसी दृष्टि से डा० ओझा के निर्णय का मूल्यांकन करना चाहिए। परन्तु रासपरंपरा और जन-नाटक की परंपरा की ओर उन्होंने जो संकेत किया है वह अत्यंत महत्वपूर्ण है।

'संदेश रासक' की यह एक विशेषता हो सकती है कि उसका अभिनय बहुरूपियों द्वारा किया जा सकता है लेकिन यह 'रासक' रंगमंच पर खेलने की दृष्टि से लिखा ही नहीं गया। हो सकता है कि इसकी कथावस्तु का दिग्दर्शन बहुरूपियों द्वारा रंगमंच पर किया जा सके। परन्तु इसमें दृश्यकाव्य की अपेक्षा श्रव्यकाव्य की अधिक विशेषताएँ मिलती हैं। हम 'रासक' का अभिनय बहुरूपियों द्वारा करा सकते हैं, परन्तु फिर इसी आधार पर उस पर नाटक का आरोप नहीं कर सकते, या उसमें नाटक के प्रारंभिक रूप का अन्वेषण नहीं कर सकते। जहां तक इसके अभिनय का प्रश्न आता है वहां तक हम इसे रासक-लीला या रासलीला कह सकते हैं, लेकिन नाटक के अर्थ में हम उसे रासक-नाटक या रास-नाटक नहीं कह सकते। संस्कृत नाटकों के बाद इन रासलीलाओं या रासक-लीलाओं की परंपरा राजस्थानी साहित्य में मिलती है। इन लीला-नाटकों को हम रास-नाट्य परंपरा में स्थान देने पर भी उनको साहित्यिक नाटकों की परंपरा में सम्मिलित नहीं कर सकते।

हिन्दी नाटक के आदि-काल में इन रासक-लीलाओं का अत्यंत महत्व का स्थान है। जैन ग्रंथों के विशाल भंडार में जो रास-ग्रंथ मिलते हैं उनके आधारों पर इन लीलाओं की रचना हुई होगी और उनका पात्रों द्वारा रंगमंच पर अभिनय कराने की प्रथा रही होगी। सामूहिक मनोरंजन के लिए इस प्रकार के लीला-नाटकों का निर्माण होना स्वाभाविक है और उसमें जन-नाट्य परंपरा का स्पष्ट रूप दिखाई पड़ता है। इसलिए उसमें स्वांग सांगीत आदि को भी महत्व मिला है।

इन रंगमंचीय लीला-रचनाओं को लिपिबद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। ये लीलाएं कंठस्थ की जाती थीं और गुरु से शिष्य को परम्परागत रूप में

प्राप्त होती रही हैं। कई रासक-लीलाओं या रासलीलाओं का निर्माण अधिकतर अपभ्रंश की कृतियों के कथानक को लेकर हुआ है। कुछ कथानक ऐसे भी मिल सकते हैं कि जिनका आधार पौराणिक कथाओं में पाया जा सकता है और इनमें से हरएक कथानक में अभिनय की दृष्टि से परिवर्तन किया गया है। राजस्थानी में रासो की एक विशाल परम्परा मिलती है और उनके अभिनय शताब्दियों तक होते रहे हैं क्योंकि सामूहिक मनोरंजन के लिए जनता के पास ये ही साधन थे।

राजस्थानी रासलीलाओं की परम्परा का विकसित रूप उत्तर भारत में भक्तिकालीन काव्य की कृष्णलीला में प्राप्त होता है। वैष्णव धर्म के आन्दोलन के कारण ही कृष्णलीला और रामलीला का जन्म हुआ और सामूहिक मनोरंजन के लिए जन-रंगमंच की स्थापना हुई। इसलिए भक्तिकालीन काव्यरचनाओं के विकास काल को हिन्दी रंगमंच का उषा-काल मानना चाहिये। रासलीला और रामलीला की यह परम्परा सोलहवीं शताब्दी तक उत्तर भारत की भावुक जनता का मनोरंजन करती रही। जनता में भक्तिभाव जाग्रत करने के लिए भगवान् की लीलाओं का नाटकीय प्रदर्शन अत्यन्त सफल तथा आकर्षक ढंग से किया जाता था।

रासलीला और रामलीला को धार्मिक लोकमंच का स्थान देने का कार्य श्रीवल्लभाचार्य और गोस्वामी तुलसीदास के द्वारा हुआ। इन दो संत कवियों ने अपनी रचना द्वारा कृष्णभक्ति और रामभक्ति का आदर्श लोगों के सामने रखा और उनके मनोरंजन के लिए लीलाओं की सामग्री दी।

भक्ति-काल में वैष्णव-जागृति द्वारा भगवान् के जिस रूप की कल्पना की गई थी उसका जीता जागता प्रदर्शन इन लीलाओं में होने लगा। इस प्रकार के रंगमंच का संबंध साधारण जनता के मनोरंजन से होने के कारण देशी भाषाओं में भी इन लीलाओं की रचना होने लगी और उनका प्रदर्शन भी ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली आदि भाषाओं के माध्यम से मन्दिरों या राजदरबारों में होने लगा। मन्दिरों और धार्मिक स्थानों में प्रचलित रासलीला और रामलीला का रंगमंच आज भी उत्तर भारत में धार्मिक जनता में भक्तिभाव जागृत करने का कार्य कर रहा है।

रासलीला और रामलीला को प्रेरणा देने का कार्य सूरदास तथा तुलसीदास की रचनाओं ने किया। तुलसीदास के प्रबंध-काव्य में अनेक मार्मिक कथानक मिलते हैं और इन कथानकों द्वारा कथावस्तु, पात्रयोजना, संवाद, नृत्य आदि का आयोजन रंगमंच की दृष्टि से किया जा सकता है। सूरदास के पदों को देखकर ऐसा लगता है कि ये विविध पद विशेष पात्रों द्वारा गाने के लिए ही रचे गए हैं। इन पदों को व्यवस्थित रूप से जोड़ने वाली कथा की आवश्यकता है। इस तरह भगवान् की शृंगारिक परम्परा का जो चित्र भक्तिकालीन कृष्णकाव्य में चित्रित किया गया था उसका सजीव चित्र कृष्णलीलाओं में मिलता है। लेकिन कृष्ण की रासलीला का यह रंगमंच

ब्रजमंडल तक ही सीमित रह सका। समय की गति के अनुसार उसका रंगमंच से नाता टूटता गया और आज रासलीला रंगमंच की ऐतिहासिक परम्परा का आधार के रूप में उपयुक्त हुई है। हो सकता है कि रामलीला के समान उसमें जीवन की विविधता के दर्शन न होने से जनता के मनोरंजन के अलावा उसमें और कोई सामग्री जनता के लिये नहीं रही होगी लेकिन मनोरंजन की श्रृंगारिक-धारा की परंपरा रासलीलाओं में मिलती है।

रासलीलाओं में राधा और कृष्ण की प्रेम लीलाओं का दर्शन होता है और इनमें संगीत के साथ नृत्य को भी स्थान दिया जाता था, सूर तथा अष्टछाप के कवियों की रचनाओं के आधार पर इनका प्रदर्शन होता था। रासलीला में संगीत का मधुर आलाप मिलता है परन्तु रामलीला के समान संवादों की भरमार नहीं मिलती। इसीलिए इसमें एक कामचलाऊ तथा घरेलू रंगमंच की परंपरा मिलती हैं परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के रीति-कवियों के प्रभाव के कारण इसमें संगीत की मात्रा कम हुई और उसका प्रचार कम होता गया।

रामलीला के आद्याचार्य गोस्वामी तुलसीदास जी हैं। क्योंकि उनका 'रामचरित-मानस' एक उद्देश्य-प्रधान तथा नीतिप्रधान महाकाव्य है। इसलिए जनता में उसका दीर्घकालीन सन्मान तथा प्रचलन होना बिलकुल स्वाभाविक है। तुलसीदास ने अपनी रचनाओं द्वारा 'रामचरित' का जो आदर्श लोगों के सामने रखा था रंगमंच पर पात्रों द्वारा उसका प्रदर्शन उत्तर भारत की जनता के मनोरंजन का साधन बन गया था। 'रामचरित-मानस' के कथानक से संबंधित अनेक संवादों के आधार पर छोटे-छोटे कथानक चुने जाते हैं और विषय के अनुसार उनका प्रदर्शन मंदिर, मैदान, जलाशय, नहर आदि स्थानों में रामलीला के रूप में किया जाता है। रामलीला के इस लोकमंच का अभी तक सुरक्षित रहने के कारण जनता की 'रामचरित मानस' के प्रति श्रद्धा की भावना बनी है। 'रामचरित मानस' के प्रति जब तक जनता में भक्तिभावना रहेगी तब तक रामलीलाओं का प्रदर्शन होता रहेगा और जनता द्वारा उनका स्वागत होता रहेगा। लोकमंच के रूप में रामलीलाओं को इतना महत्व का स्थान मिला है कि उत्तर भारत की अपढ़ जनता को इन लीलाओं में उनके मनोरंजन के सब साधन मिलते रहे हैं। अतएव हम देखते हैं इस प्रकार कि धार्मिक लीलाओं के रूप में रामलीला क अभिनय होता था परन्तु इसमें रंगमंच की दृष्टि से संवादों और कथानक में कार्य, स्थान और समय में मेल नहीं दिखाई देता, इसलिए इसमें नाटकत्व कम मिलता है।

वैष्णव-रंगमंच की यह परंपरा मैथिली के नाटकों में भी मिलती है। इस विषय पर किए गए अनुसंधान के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि मैथिली का

नाटक-साहित्य सन् १६०० तक अपनी उन्नत अवस्था तक पहुँचा हुआ था।[1] मैथिली नाटक-साहित्य का जब ठीक अनुसंधान होगा तब उसमें वैष्णव रंगमंच की एक विशाल परंपरा का विकसित रूप स्पष्ट दिखाई पड़ेगा। इस रंगमंच का संबंध बंगाल के यात्रा साहित्य से भी स्थापित किया जा सकता है।

लीला-रंगमंच की परंपरा का विस्तार करने वालों में नन्द दास जी, ध्रुवदास जी और वृन्दावनदास जी मुख्य हैं। वृन्दावनदास जी के बाद अधिक संख्या में लीलाओं की रचना करने वालों में ब्रजवासीदास जी का नाम प्रसिद्ध है। उन्होंने संस्कृत के 'प्रबोध-चंद्रोदय' का अनुवाद गद्य और पद्य में करके अपनी नाटचरुचि का परिचय दिया है।

इन लीला रचनाओं का ठीक अध्ययन करने से इस बात का पता लग सकता है कि इनमें जो श्रृंगारिक परंपरा मिलती है, उसका सूक्ष्म प्रभाव भारतेन्दु की 'चन्द्रावली' तथा वियोगीहरि की 'छद्मयोगिनी लीला' में मिल सकता है। इन लीला-रचनाओं में राधा और कृष्ण की श्रृंगारिक तथा सरस लीलाओं का आध्यात्मिक चित्रण मिलता है। कृष्ण साहित्य के विशेष प्रेमियों के लिए अध्ययन की दृष्टि से यह अमूल्य सामग्री है।

इन लीलाओं की परंपरा आगे बढ़ती रहीं है लेकिन उसका उद्‌गम संस्कृत-साहित्य में देखना निरर्थक है। ये रचनाएँ संस्कृत नाटच-परंपरा से बिलकुल ही भिन्न हैं। जनरुचि तथा रंगमंच की सुविधाओं के अनुसार इन लीलाओं का प्रदर्शन धार्मिक तथा अपढ़ जनता के सामने होता रहा और इन लीलाओं के अभिनय की एक परंपरा मिलती गई। इन लीला-रचनाओं में संस्कृत-नाटकों की प्रस्तावना, उद्देश्य आदि का संकेत मिल सकता है लेकिन अधिकतर बातों की संयोजना रंगमंच पर संगीत और गेय पदों की सुविधाओं के अनुसार हुई है। जैसे संपूर्ण लीला के सब पात्र आरंभ से आखीर तक रंगमंच पर ही रहते हैं और संपूर्ण अभिनय नृत्य और गीत के आधार पर ही प्रदर्शित किया जाता है। राधा और कृष्ण की श्रृंगारिक लीला-रचनाओं का प्रदर्शन करने वाली ये लीला-रचनाएँ आज तक अपढ़ तथा धार्मिक जनता के मनोरंजन तथा भक्ति के साधन रही हैं।

रासलीला के समान 'सांगीत' या 'नौटंकी' के घरेलू तथा कामचलाऊ रंगमंच का प्रचार पंजाब, दिल्ली, पश्चिम, उत्तर प्रदेश आदि क्षेत्रों में था। इसमें गोपीचंद, पूरन जैसे विख्यात तथा वीर पुरुषों की कथाओं का अभिनय नाटक-रूप में मिलता है। वास्तव में रासलीला के समान नौटंकी खुला रंगमंच (Open Air Theatre) है

१. डॉ० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास' के आधार पर पृ० ५३

जिसका अभिनय बीच मैदान में तख्त पर किया जाता है। नगाड़ा नौटंकी की जान है और नगाड़े वाला तख्त के ऊपर या नीचे बैठता है और पात्र तख्त पर आते हैं तथा अपने बोल बोलकर चले जाते हैं। इसमें प्रकृत-दृश्य प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं रहती और दृश्यांतर की सूचना सूत्रधार द्वारा दर्शकों को दी जाती है।

इस प्रकार रास-लीलाओं के रूप में नाटक-साहित्य का आभास देने वाली रचनाएँ अधिक संख्या में सोलहवीं शताब्दी तक ही मिलती हैं। हिन्दी के पूर्ण नाटकों का आभास देनेवाले नाटकों का आरंभ सोलहवीं शताब्दी से होता है। परन्तु इस प्रकार के नाटकों की संख्या बहुत कम है। प्राणचंद चौहानकृत 'रामायण महानाटक' (१६१०), हृदय-रामकृत 'हनुमन्नाटक' (१६२३), बनारसीदासकृत 'समयसार नाटक' (१६३६), महाराज यशवंतसिंह द्वारा अनूदित 'प्रबोध-चंद्रोदय' (१६४७), कविवर नैवाज द्वारा अनूदित 'शकुन्तला नाटक' (१६७०), कृष्णजीवन लछीरामकृत 'करुणाकरण नाटक' (१७१५) आदि नाट्य-रचनाएँ अठारहवीं शताब्दी तक मिलती हैं। इनके बाद माध-विनोद नाटक', 'जानकी रामचरित नाटक', 'रामलीला बिहार नाटक', 'रामायण नाटक', 'प्रद्युम्न विजय नाटक', 'आनंद रघुनंदन नाटक' आदि नाटकों का निर्माण उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक हुआ।

इन सब नाटकों में 'रामचरित' और 'कृष्ण-चरित' संबंधी नाटकों की संख्या अधिक है। वैष्णवधर्म के नवजागरण काल में जनता 'राम' और 'कृष्ण' के चरित की ओर आकर्षित हुई और इस समय के नाटककारों ने अपनी रचनाओं की कथावस्तु के लिए रामायण और भागवत से सामग्री लेना उचित समझा। इन नाटककारों ने अपनी रचनाओं में भगवान की भक्ति को महत्व का स्थान दिया। इन नाटकों की रचना छन्दों में मिलती है परन्तु संस्कृत की नाट्य-परंपरा के अनुसार नाटक का विभाजन अंकों में किया गया है। इन नाटककारों को 'संगीत' और 'नृत्य' द्वारा जनता का मनोरंजन करना था, इसलिए गद्य को प्राधान्य न देकर इन्होंने अपने नाटकों की रचना छन्दों के द्वारा ही की।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह द्वारा लिखित 'आनंद रघुनंदन' नाटक मौलिकता की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। अभी तक 'रामकथा' संबंधी प्रसंगों को लेकर नाटक लिखे गए परन्तु रचना-विधान या चरित्र-चित्रण की कोई निश्चित परंपरा उनमें नहीं मिलती। परन्तु 'आनंदरघुनंदन' में संस्कृत नाटक की परंपरा को आगे बढ़ाने का कार्य नाटककार ने किया।

हिन्दी के साहित्य-मनीषियों द्वारा 'आनंद रघुनंदन' को हिन्दी का प्रथम नाटक माना गया है। इस नाटक की विशेषताओं पर अनेक दृष्टियों से संकेत किए जा सकते हैं। इस नाटक के निर्माण में नाटककार की व्यक्तिगत रुचि ही एक प्रेरणा के रूप में काम करती हुई दिखाई पड़ती है। विश्वनाथ कवि थे और 'रामायण' के प्रति उनमें विशेष

रुचि थी। रामायण की कथा के द्वारा उनके मन पर जो प्रभाव पड़ा था उसका दिग्दर्शन उन्होंने इस नाटक में कराया। इस नाटक की विशेषता यह है कि उसमें संस्कृत की नाट्य-शैली का पालन करके आदिकालीन रामभक्ति की परंपरा को आगे बढ़ाया गया। हिन्दी के नाटक-साहित्य के उद्भव की दृष्टि से यह एक युगांतकारी रचना मानी जा सकती है।

## आरंभिक-काल (सन् १८५३ से सन् १८७३ ई० तक)

हिन्दी नाटक-साहित्य की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम पचास वर्ष बिलकुल ही शून्य हैं। उस शताब्दी के आरंभ से भारत में अंग्रेजी सभ्यता तथा शिक्षा के कारण एक नया युगारंभ हो रहा था जिसके फलस्वरूप अंग्रेजी राज्य में स्थिरता आने के कारण लोगों के विचार, रहन-सहन और शिक्षा पद्धति में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगे। कलकत्ता शिक्षा और शासन का अंग्रेजों के लिए एक महान् केन्द्र बन गया और वहाँ से अंग्रेजी शिक्षा, सभ्यता, आदि का प्रभाव उत्तर प्रदेश में आने लगा। कंपनी सरकार के अफसरों तथा कर्मचारियों के मनोरंजनार्थ एक रंगमंच की स्थापना हुई और बाद में एक अच्छे मंच के रूप में १७७६ में ही 'केलकटा थिएटर' की स्थापना की गयी। यह रंगमंच बिलकुल पाश्चात्य ढंग का था जिसमें दर्शकों के रूप में भारतीयों को प्रवेश नहीं मिलता था। परन्तु अंग्रेजी रंगमंच की प्रेरणा से बंगला के रंगमंच के निर्माण के लिए योग्य वातावरण तैयार होने लगा।

मुसलमानों के राज्यकाल में रंगमंच के लिए किसी भी प्रकार की सुविधा नहीं दी गयी थी। एक दृष्टि से मुसलमान शासकों ने रंगमंच पर नाटकीय अभिनय को बंद ही कर दिया था। इसलिए धार्मिक और पौराणिक कथावस्तु को लेकर बंगाल में यात्राओं का निर्माण होने लगा।[1] अंग्रेजी पद्धति के रंगमंच के संपर्क में आने से बंगला रंगमंच को एक नयी दिशा मिली जिससे उस पद्धति के रंगमंच पर भारतीय अभिनय-प्रदर्शन का आरंभ सन् १७९५ से होने लगा। सन् १७९५ में हेरेसिम लेबेडेव नामक एक रूसी पर्यटक ने सर्वप्रथम बंगला नाटक खेले जाने के लिए एक रंगमंच की स्थापना की और 'छद्मवेशी' (Disguise) नामक आँग्ल नाटक का बंगला में अनुवाद कर के उसका भारतीय पद्धति से अभिनय करवाया। इसके सभी पात्र-पात्रियां बंगाली स्त्री-पुरुष थे और रंगमंच पर भी बिलकुल बंगाली वातावरण की सजावट थी।

लेबेडेव का रंगमंच काफी दिनों तक चला। इस रंगमंच के कारण बंगाली

---

**1. "When a dramatic performance was forbidden under Mahomedan rule, Jatras dealing with religious and mythological themes came into existence." H. N. Dasgupta : Indian Stage, Vol. I., Page 112.**

शिक्षित लोगों का ध्यान अभिनय की ओर आकर्षित हुआ और "चौरंग थियेटर", 'हिन्दू थियेटर' आदि रंगमंचों की स्थापना हुई। परन्तु यह रंगमंच बंगला का नहीं था, इन रंगमंचों के कारण बंगला रंगमंच की स्थापना और विकास में सहायता मिली और सन् १८३३ में 'विद्या सुन्दर' का अभिनय हुआ। यही बंगला का रंगमंच पर खेला हुआ सर्वप्रथम नाटक है। 'विद्या सुन्दर' के अभिनय के बाद संस्कृत नाटकों के कथानकों के आधार पर बंगला में नाटकों का निर्माण होन लगा। सन् १८३९ में 'प्रबोध चन्द्रोचय' तथा उसके उपरांत 'रत्नावली' नाटिका का बंगला में अनुवाद हुआ। ताराशरण शिकारदार रचित 'भद्रार्जुन' (१८५२) नाटक बंगला का पहला नाटक माना जाता है और यहां से बंगला नाटक की अविछिन्न धारा बहने लगी है। बंगला नाटक की यह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि हिन्दी के आधुनिक नाटकों के लिए एक प्रेरणा के रूप में कार्य करती है।

हिन्दी नाटकों की विकसित परंपरा पर विचार करते समय उसके प्रथम नाटक के बारे में प्रश्न उपस्थित होता है। प्रथम नाटक के रूप में जब किसी विशेष रचना की ओर संकेत नहीं किया जा सकता तब नाटक के क्रमिक विकास पर विचार करने में कठिनाई आ जाती है। उन्नीसवीं शताब्दी तक जो रंगमंचीय रचनाएँ मिलती हैं वे रासलीला और रामलीला की परंपरा से प्रभावित हैं और उनमें जो कुछ साहित्यिक रूप मिलता है वह काव्य के रूप में ही है। इसलिए ये सब रचनाएँ नाटचकाव्य (Dramatic poetry) के अन्तर्गत आएँगी। इन रचनाओं में अधिकतर ग्रामीण जनता के मनोरंजन का ही ख्याल किया जाता था और इनका भगवत्भक्ति के से संबंध होने के कारण भावुक लोगों का भी मनोरंजन होता था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल तक जो कुछ रचनाएँ मिलती हैं वे अधिकतर धार्मिक साहित्य से प्रभाविक रही हैं और शुद्ध साहित्यिक या रंगमंचीय नाटकों की संख्या कम मिलती है।

जब हम हिन्दी के प्रथम नाटक के बारे में सोचने लगते हैं तब हमारे सामने रीवाँ-नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'आनंद रघुनंदन नाटक' (१८३० ई० के आसपास), सैयद आगा हसन 'अमानत' कृत 'इन्दर सभा' (१८५३), भारतेन्दु के पिता महाकवि गिरिधरदास (श्री गोपालचन्द्र) कृत 'नहुष नाटक' (१८५९ ई०), राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा संस्कृत से अनूदित शकुन्तला नाटक (१८६१), शीतला प्रसाद त्रिपाठी कृत 'जानकी मंगल' नाटक (१८६२ ई०) के आसपास, भारतेन्दु द्वारा अनूदित 'विद्या सुन्दर नाटक' (१८६८ ई०) आदि नाटच-कृतियां सामने आती हैं।

संस्कृत की नाटच-परंपरा का दर्शन स्व० विश्वनाथ सिंहजू के आनंद रघुनंदन' नाटक में मिलता है। कथावस्तु की दृष्टि से देखा जाय तो उसमें 'मखरक्षा से राम के सिंहासन पर विराजित होने तक' तक की घटनाओं के अन्तर्गत बाल्मीकि कृत 'रामायण' का कथानक मिलता है। यह नाटक सात अंकों में लिखा गया है और उसका कथा

क्रम 'रामायण' के अनुसार ही रखने का प्रयत्न किया है। नाटक की कथावस्तु से संबंधित महत्व की घटनाओं को गुंफित करते समय नाटककार ने कालसंधि और वस्तु-संधि का पूरा निर्वाह करने का प्रयत्न किया है। नाटक के विकास में दृश्यों की रचनाएँ इस ढंग से की गई हैं कि जहां कथांश पूरे होते हैं वहां दृश्यों में भी परिवर्तन होता है, इसीलिए कथा में सजीवता है।

नाटक की कथावस्तु में नवीनता का समावेश करने के लिए पात्रों के नामकरण में यत्रतत्र परिवर्तन भी कर दिया गया है। इसलिए कथानक के पौराणिक होते हुए भी पाठक को एक प्रकार की नवीनता का अनुभव होता है। पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करके नाटक में स्वाभाविकता रखने का प्रयत्न किया है। नाटक का आरंभ जिस मनोरंजक ढंग से होता है, उसका अन्त भी वैसा ही आनंददायक है। इसकी भाषा व्रज है और सर्वत्र पात्रानुकूल भाषा-आदर्श रखने के लिए प्रत्येक पात्र की भाषा उसके देश और काल के अनुसार व्यवहृत हुई है।

इस प्रकार सब दृष्टि से देखा जाय तो यह नाटक संस्कृत नाटच-परंपरा को आगे ले जाने वाला महत्वपूर्ण नाटक है। काव्यप्रधान होने के कारण इसकी गणना उच्च कोटि के साहित्यिक नाटकों में नहीं की जा सकती। इसमें साधारण जीवन की समस्या की उपेक्षा होने के कारण धार्मिक तथा पौराणिक विचारधारा का वातावरण सर्वत्र मिलता है। रंगमंच की दृष्टि से यद्यपि यह नाटक जनता में प्रचलित नहीं है, फिर भी इसका अभिनय तीन-चार घंटों में रंगमंच पर किया जा सकता है। चिर-परिचित कथानक होने पर भी इसमें सर्वत्र मौलिकता और नवीनता के दर्शन होते हैं। अतः एक मौलिक नाटच-रचना के रूप में इस पर विचार किया जा सकता है।

हिन्दी नाटकों के प्रारंभिक-काल में लोक रुचि, नाटक की शिल्प-विधि तथा रंगमंच की सुविधाओं को ध्यान में रखकर हिन्दी उर्दू भाषा में लिखा हुआ अमानतकृत 'इंदर सभा' (१८५३) नाटक अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसकी रचना गीतिनाटच (ओपरा) पद्धति पर हुई है और रंगमंच की दृष्टि से यह एक अत्यंत सफल रचना है। रंगमंच की सफलता की दृष्टि से अभी तक इतना सफल नाटक नहीं लिखा गया था। इसलिए जनता ने इसका बहुत स्वागत किया।

नाटक के आधुनिक अर्थ की दृष्टि से यदि 'इन्दर सभा' की आलोचना की जाय तो उसमें आधुनिक नाटक के अनेक तत्व मिल सकते हैं। इसकी भाषा उर्दू मिश्रित हिन्दी होने के कारण हिन्दी भाषी जनता के लिए अत्यंत सरल तथा सुबोध है। 'अमानत' ने यह नाटक अपने आश्रयदाता वाजिद अली शाह के कहने पर लिखा था और कहा जाता है कि लखनऊ के केसरबाग में बड़े ठाठ से सजे हुए रंगमंच पर उसका अभिनय हुआ था। इस अभिनय में स्वयं वाजिद अली शाह ने राजा इंदर का अभिनय किया था और उनके दरबार की नर्तकियों ने समृद्ध सजावट तथा अलंकरण की चक-

झकाहट के साथ अप्सराओं का काम किया। इसी बात से इस नाटक की लोकप्रियता की कल्पना की जा सकती है। बाद में यह नाटक इतना लोकप्रिय हुआ कि जनता द्वारा 'इन्दर सभा' की शैली पर लिखे हुए नाटकों की माँग हुई और इसके ढंग पर अनेक नाटक लिखे गए।

रंगमंच की दृष्टि से इस नाटक के इतना लोकप्रिय होने पर भी हिन्दी के आलोचकों ने इसकी विशेषता पर कम ध्यान दिया है। इसमें प्रेम के हलके रूप का जो चित्रण हुआ वह इसकी कमजोरी हो सकती है, लेकिन इसका निर्माण कुछ ऐसी परिस्थितियों में हुआ है कि उस समय की अपढ़ जनता में मनोरंजन के लिए इस प्रकार के नाटक की आवश्यकता थी। इसके लौकिक प्रेम के आदर्श के प्रति नाटककार ने जो संकेत किया है वह जन-रुचि की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। लखनऊ के वाजिदअली शाह कालीन अपढ़ तथा विलासी जनता की दृष्टि से ही यह नाटक लिखा गया था। इसलिए इसमें शृंगारिक तथा विलासी वातावरण का हलकापन दिखाई देना बिलकुल स्वाभाविक है।

इस नाटक का कथानक सब्जपरी और गुल्फाम इन दो प्रेमियों की प्रणय-कथा को अंकित करता है। इस प्रणय-कथा में प्रेम का जो चित्रण मिलता है वह लोकरुचि की दृष्टि से यथार्थ रूप में है। इसमें परियों का स्वप्नलोक दिखाई देता है लेकिन इस स्वप्नलोक की यह आदर्श प्रेम-कहानी जनता के भावुक हृदय को हिलानेवाली है। इस प्रकार के संयोगात्मक गीति-नाट्य का स्वागत अपढ़ तथा साधारण जनता द्वारा होना स्वाभाविक है। लोक-रुचि और लोकरंजन की दृष्टि से लिखा हुआ यह नाटक केवल रंगमंच की दृष्टि से ही नहीं उसकी मौलिकता से भी आधुनिक हिन्दी नाटक-साहित्य में प्रथम मौलिक नाटक होने का अधिकारी है। इस नाटक की परंपरा को सुव्यवस्थित ढंग से विकसित होने के लिए बाद में योग्य वातावरण नहीं मिला। सन् १८५६ ई० में लखनऊ की नवाबी के नष्ट हो जाने के कारण केसरबाग की चहल-पहल समाप्त हो गयी और 'इन्दर सभा' का खेल नाटक की व्यावसायिक कंपनियों द्वारा होने लगा। अर्थात् इस प्रकार के नाटक लिखने का प्रोत्साहन किसी से मिलना मुश्किल हो गया।

यद्यपि बंगला में रंगमंच का आरंभ सन् १७९५ में हुआ था लेकिन रंगमंच और मौलिकता की दृष्टि से ताराशरण शिकार का 'भद्रार्जुन' (१८५२) नाटक प्रथम मौलिक नाटक माना गया। इस समय के आसपास ही 'इन्दर सभा' का आविर्भाव हुआ था और नाटक के प्रति जनता में एक प्रकार की रुचि पैदा हो गयी थी। जिस प्रकार 'भद्रार्जुन' नाटक के पश्चात् उपयुक्त परिस्थितियों के कारण बंगला में अवि-च्छिन्न रूप से नाटकों का निर्माण होने लगा कुछ इसी प्रकार की अनुकूल परिस्थितियों

का सहयोग यदि हिन्दी नाटकों के निर्माण में मिलता, तो बंगला नाटक के साथ-साथ हिन्दी नाटक भी अपनी विकासशील धारा में अग्रसर होता।

'इन्दर सभा' के बाद भारतेन्दु के पिता महाकवि श्री गिरिधरदास (श्री गोपालचंद्र) कृत 'नहुष नाटक' का नाम आता है। भारतेन्दु के अनुसार यह हिन्दी का पहला नाटक है। यह नाटक सन् १८५९ ई० के लगभग लिखा गया था लेकिन इसकी हस्तलिखित प्रति गुम हो जाने के कारण इसका प्रकाशन संपूर्ण नाटक के रूप में १९५५ तक नहीं हो सका। इस नाटक की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है कि इस पर बंगला, संस्कृत तथा अंग्रेजी नाटच-परंपरा का प्रभाव दिखाई नहीं देता। किसी पौराणिक कथा का आधार लेकर इस प्रकार की स्वतंत्र नाटच-रचना अभी तक नहीं हुई थी। इस नाटक के निर्माण काल में रचयिता के सामने हिन्दी का कोई मौलिक तथा साहित्यिक नाटक नहीं था तथा रचयिता के अंग्रेजी नाटच-परंपरा से अपरिचित रहने के कारण यह नाटक नाटच-कला की दृष्टि से सुंदर ढंग से नहीं लिखा गया है। यह कुछ अपना स्वतंत्र रूप ही दिखाता है।

'नहुष नाटक' ब्रजभाषा का नाटक है और इसमें गद्य का जो कुछ थोड़ा अंश है उसमें खड़ी बोली मिश्रित ब्रजभाषा का रूप दिखाई पड़ता है। इस नाटक की यह एक नवीनता है कि हरएक पात्र के प्रवेश के साथ उसके स्वरूप-वर्णन के बारे में भी एक पद की योजना हुई है। इस नाटक का प्रधान रस शृंगार तथा वीर है। राजा नहुष इस नाटक के नायक हैं। वे धीरोद्धत तथा धीरललित दोनों नायकों के गुणों से संपन्न हैं। आरंभ, मध्य तथा अन्त की दृष्टि से यह नाटक संस्कृत नाटक की परंपरा की ओर तथा नाटक के प्रायः सब लक्षणों की ओर संकेत करता है। नाट्य-रचना के एक मौलिक प्रयत्न की दृष्टि से भी वह अत्यंत महत्व का है।

इधर हिन्दी में जब 'नहुष' नाटक लिखा जा रहा था तब उधर बंगला में नाटचकार रामनारायण तर्करत्न, माइकेल मधुसूदन दत्त और दीनबन्धु मित्र अपनी नाटकीय रचनाएँ निर्माण कर रहे थे। लेकिन इनकी नाटच-कला पर अंग्रेजी नाटच-पद्धति का प्रभाव पड़ा था। रामनारायण तर्करत्न का 'कुलीनकुलसर्वस्व' (१८५४ ई०) माइकेल मधुसूदन दत्त का 'शर्मिष्ठा' (१८५८ ई०) और दीनबंधु मित्र का 'नीलदर्पण' (१८६० ई०) आदि बंगला नाटच-साहित्य की प्रारंभिक कृतियाँ भारत के नवसमाज में एक विशेष आन्दोलन की नव चेतना प्रदान कर रही थीं। लेकिन इस प्रकार की सामूहिक चेतना के प्रति संकेत करने वाली बात 'नहुष' में नहीं मिलती। यह नाटक ब्रजभाषा में लिखा गया था और इस समय खड़ी बोली का प्रारंभिक युग चल रहा था। हो सकता है, यदि यह नाटक खड़ी बोली में लिखा गया होता तो वह अपनी मौलिक परंपरा को आगे बढ़ा सकता।

'नहुष' नाटक के बाद इस काल-विभाग में और भी तीन नाटकों का निर्माण

हुआ। राजा लक्ष्मण सिंह द्वारा अनूदित 'शकुन्तला' (१८६१) नाटक प्रकाशित हुआ। भाषा की दृष्टि से यह अनुवाद एक साहित्यिक प्रयोग है। इसके बाद हिन्दी भाषा में जो सबसे पहला नाटक खेला गया वह 'जानकी मंगल' (१८६२) था। यह नाटक पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी ने रामायण की कथा के आधार पर लिखा था। तीसरा नाटक भारतेन्दु द्वारा लिखित 'विद्यासुन्दर' (१८६८) है।

बंगला नाटक की प्रेरणा के रूप में भारतेन्दु द्वारा 'विद्यासुन्दर' नाटक का निर्माण हुआ। बंगला में 'विद्या सुन्दर' की कथा प्रसिद्ध है। वहां के महाराज यतींद्र ठाकुर ने इसे लिखाया था और उसकी छाया लेकर भारतेन्दु ने हिन्दी में इसका भावानुवाद किया। भारतेन्दु की दृष्टि से विशुद्ध हिन्दी भाषा के नाटकों के इतिहास में यह चौथा नाटक है। यद्यपि उनकी यह मौलिक कृति नहीं है फिर भी इसके द्वारा हिन्दी में बंगला नाटक-साहित्य की परंपरा की धारा बहने लगी। छायानुवाद होने पर भी इसमें बंगला नाटक-शैली का पूरा-पूरा निर्वाह हुआ है।

इस प्रकार 'प्रबोध-चंद्रोदय', 'आनंद रघुनंदन', 'इन्दर सभा', 'नहुष', 'शकुन्तला', "जानकी मंगल' और 'विद्या सुन्दर' नाटकों पर विचार करने के उपरान्त प्रारंभिक काल में हिन्दी नाटकों की संख्या बहुत कम मिलती है। हिन्दी के प्रथम नाटक के बारे में कोई निश्चित निर्णय देना कठिन है। लेकिन 'इन्दर सभा' या 'नहुष' नाटक को हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक होने का सौभाग्य मिल सकता है। रंगमंच तथा भाषा के आधार पर यदि इन दो नाटकों में भी चुनाव हो तो 'नहुष' नाटक ब्रजभाषा में होने के कारण तथा 'इन्दर सभा' में 'नहुष' की अपेक्षा अधिक रंगमंचीय गुण होने के कारण हिन्दी के प्रथम नाटक का स्थान 'इन्दर सभा' को दिया जा सकता है। 'इंदर सभा' में भी कुछ कमजोरियाँ मिल सकती हैं, परन्तु किसी भी साहित्य-प्रकार की प्रथम कृति सर्वदृष्टि से मौलिक रूप में नहीं प्राप्त होती।

'इन्दर सभा' नाटक के बाद 'नहुष' (१८५९), (अनूदितं) 'शकुन्तला' (१८६१) 'जानकी मंगल' (१८६२) और 'विद्या सुन्दर' (१८६८) ये तीन नाटक लिखे गए। परन्तु इस समय बंगला में अनेक नाटकों का निर्माण हो रहा था। ताराचरण शिकारदास के 'भद्रार्जुन' (१८५२) नाटक के बाद बंगला नाटक-साहित्य में एक नए युग का आरंभ हुआ। अनेक अनूदित तथा मौलिक नाटकों की रचना होने लगी। हरचन्द्र घोष, योगेन्द्रचन्द्र, कालीप्रसन्न सिंह, नन्दकुमार राय, राम नारायण तर्करत्न, माइकेल मधुसूदन दत्त, दीनबंधु मनोमोहन बसु आदि नाटककारों ने अपनी रचनाओं द्वारा बंगला नाटक-साहित्य को संपन्न किया। परन्तु इस प्रकार की विकसित परंपरा का दर्शन हिन्दी नाटक साहित्य में नहीं मिलता। हिन्दी का अपना कोई अच्छा रंगमंच नहीं था। इसीलिए नाटकों के निर्माण के लिए किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं मिल सका।

भारतेन्दु द्वारा 'विद्यासुन्दर' की रचना हिन्दी-नाटक साहित्य के आविर्भाव

में विकास की एक नयी दिशा का संकेत करती है। भारतेन्दु तत्कालीन बंगला नाटकों से बहुत प्रभावित थे और उन्होंने बंगला से प्रेरणा लेकर हिन्दी में नाटक लिखना आरंभ किया।

हिन्दी नाटक-साहित्य के आरंभिक-काल में 'कविवचन-सुधा' और 'हरिश्चंद्र मैगेजीन' का प्रकाशन अत्यंत महत्व रखता है। इन पत्रिकाओं में हिन्दी के अनूदित तथा मौलिक नाटक प्रकाशित होने लगे। बाबू अक्षय कुमार मित्र प्रणीत 'नितम्बिनी' नाटक का अनुवाद 'कविवचन-सुधा' (माघ, कृष्णपक्ष ३०, संवत् १९२७, नं० १०, जिल्द २) पत्रिका में धारावाहिक रूप में क्रमशः प्रकाशित होने लगा। इस नाटक का अनुवाद बाबू गदाधर सिंह ने किया था। इस प्रकार 'हरिश्चन्द्र मैगेजीन' में भी नाटक छपने लगे और यही परंपरा भारतेन्दु-कालीन पत्र-पत्रिकाओं में दिखाई देती है। हिन्दी के अनेक प्रारंभिक नाटक इन पत्रिकाओं द्वारा हिन्दी जनता के सामने आए और नाटक-साहित्य के प्रति जनता का ध्यान आकर्षित होने लगा।

हिन्दी नाटक-साहित्य के प्रारंभिक काल में नाटकों की संख्या बहुत कम मिलती है। लेकिन इन नाटकों में विकास-क्रम की जो दिशा मिलती है वह भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत हुई। इस काल-विभाग में नाट्य-काव्य Dramatic poetry) अनूदित नाटक, साहित्यिक नाटक, रंगमंचीय नाटक, मौलिक नाटक आदि नाटकों की श्रेणियां निर्मित हुई तथा हिन्दी नाटक-साहित्य के अगले युग के लिए ये विशिष्ठ श्रेणियां उसकी प्रगति की दिशाएँ निश्चित करने में सहायक हुई।

इस काल-विभाग में नाटककारों के सामने नाटक का कोई ठोस आदर्श न होने के कारण हरएक नाटककार अपनी अलग-अलग विशेषताएँ रखकर भी अपने में पूर्ण दिखाई नहीं देता। 'कविवचन-सुधा' में इस काल के नाटक-साहित्य का सिंहावलोकन इस प्रकार मिलता है:—

> **"इस काल में एक दो बने जिनमें एक हास्यार्णव था यद्यपि यह शुद्ध नाटक की चाल से नहीं तथापि कुछ नाटक की चाल छूकर बना है पर बहुत असम्भव शब्द भरा है इसी से कवि ने उसमें अपना नाम नहीं रक्खा पर अनुमान होता है कि रघुनाथ कवि का है। नाटक सबके पहिले जो हिन्दी भाषा में पुरानी ठीक नाटक की रीति से बना हुआ वह नहुष नाटक श्री गिरिधरदास कवि का है और इसके पीछे आजकल तो अनेक नाटक बने और अब तो भाषा के अनेक व्याकरण और प्रबन्ध की पुस्तक बन गई। साम्प्रत काल के कवियों में श्री गिरीधरदास महान् कवि हुए क्योंकि व्याकरण और कोष नाटक हिन्दी में पहले इन्होंने बनाए और इस काल में पजनेस ठाकुर रघुनाथ इत्यादि अनेक कवि कुछ पहले हुए पर किसी ने नई बात नहीं की वह लीक पीटते चले गए।"[1]**

---

१. 'हिन्दी कविता'—'कविवचन सुधा'—१० जनवरी, सन् १९७२, पृ० ७९

इस उद्धरण से इस काल के नाटक साहित्य की दरिद्रता की कल्पना आ सकती है। हिन्दी नाटक के प्रारंभिक युग में नाटकों की कमी दिखाई पड़ती है, परन्तु भारतेन्दु-कालीन नाटकीय परंपरा का जन्म इसी कालविभाग में हुआ है। सुना जाता है भारतेन्दु का पहला मौलिक नाटक 'प्रवास' सन् १८६८ में लिखा गया था, परन्तु वह अप्राप्य है।

निर्माण-काल (सन् १८७३ ई० से सन् १८९७ ई० तक)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आविर्भाव से हिन्दी नाटक-साहित्य के निर्माण में एक नई दिशा मिली। भारतेन्दु ने बंगला के 'विद्यासुन्दर' नाटक का छायानुवाद करके हिन्दी में नाटक लिखना आरंभ किया। हिन्दी नाटक-साहित्य के इस आरंभिक काल में नाटकों का प्रचार जनता में लगभग नहीं था। 'इन्दर सभा' जैसे नाटक जनता में प्रचलित थे, परन्तु इस प्रकार के नाटकों की संख्या बहुत कम थी। हिन्दी नाटक-साहित्य के आदि-काल से ही नाटक के निर्माण के लिए प्रोत्साहन प्रदान करने वाली परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं हुई थीं। इसीलिए नाटकों की संख्या बहुत कम मिलती है। भारतेन्दु के उदय के कारण तत्कालीन साहित्यिक वातावरण में एक नई चहल-पहल शुरू हुई और पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण साहित्य के प्रचार के साधन सर्व-सुलभ हुए।

सन् १८५७ के बाद भारत के राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में एक प्रकार की नवीनता दिखाई पड़ने लगी। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण भारतीय जीवन एक नयी संस्कृति का अनुकरण कर रहा था। परतंत्र भारत में कुछ नई बातें ऐसी भी हो रही थीं जिनकी ओर उस समय के विद्वानों का ध्यान जाना स्वाभाविक था। तत्कालीन समस्याओं पर वे अपने विचार निबंधों या भाषणों द्वारा लोगों के सामने रखते थे। परन्तु मनोरंजन के द्वारा लोगों के सामने अपने विचार रखने का मुख्य साधन नाटक या उपन्यास ही थे। इस बात का उल्लेख तत्कालीन पत्रिकाओं में मिल सकता है। 'हरिश्चंद्र चंद्रिका और मोहनचंद्रिका' पत्रिका में तत्कालीन नाटक या उपन्यास के बारे में 'नाटक वा उपन्यास' शीर्षक निबंध में इसका ठीक संकेत इस प्रकार मिलता है:—

**नाटक वा उपन्यास**

> **वस्तुतः नाटक वा उपन्यासों का आशय यही रहता है कि लोगों को जो उपदेश वा शिक्षा दी जाती है, जिसके तरफ किसी का ध्यान नहीं जमता, वह इस मिष से और रंगीन बातों से जमाना।"[१]**

---

१. विद्यार्थीसम्मिलित—'हरिश्चंद्र चंद्रिका और मोहन चंद्रिका' कला ८, किरण ४, संवत् १९३८, पृ० ८७

इस उद्धरण से ठीक पता लगता है कि सन् १८८१ के आसपास जितने नाटक या उपन्यास लिखे गए हैं उनका निर्माण तत्कालीन समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया गया। उस काल में जन समाज के विचारों को प्रभावात्मक ढंग से प्रचारित करने के साधनों में उपन्यास ही थे। इसलिए उस काल के लेखकों में नाटककारों की संख्या अधिक मिलती है। जब भारतेन्दु ने नाटक लिखना आरंभ किया तब उनके सामने नाट्य-रचनाओं की निम्नलिखित परंपराएँ थीं:—

१. रासलीला, रामलीला, स्वाँग, सांगीत आदि का जनता में प्रचार।

२. संस्कृत की नाट्य-परंपरा के नाटक।

३. पारसी कंपनियों द्वारा प्रचारित रंगमंचीय नाटक।

४. बंगला की नाट्य-रचनाओं की परंपरा।

अपढ़ जनता में रामलीला, स्वाँग आदि का प्रचार था और उनके द्वारा लोगों का मनोरंजन हो रहा था। संस्कृत की परंपरा के नाटक अधिकतर शिक्षित लोगों में प्रचारित थे परन्तु उनकी संख्या बहुत ही कम थी। राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा 'शकुन्तला' नाटक का अनुवाद हुआ और उसके कारण संस्कृत-शैली की नाट्य-परंपरा का दर्शन सहज रूप में होने लगा। भारतेन्दु संस्कृत की इन नाट्य परंपरा की ओर आकर्षित हुए और उन्होंने संस्कृत के कई नाटकों का अनुवाद किया। उस समय हिन्दी का रंगमंच पारसी कंपनियों के हाथ में था। इन कंपनियों के थिएटरों में नाटकों के प्रयोग होते थे और जनता का मनोरंजन किया जाता था, परन्तु इन कंपनियों के सामने धनार्जन का शुद्ध व्यावसायिक दृष्टिकोण था। इसलिए कंपनियों के मालिकों ने शेक्सपीयर के रंगमंच के आधार पर अपने थिएटरों की स्थापना करके बहुत धन कमाया। पारसी कंपनियों की इस कुप्रवृत्तियों के कारण उनके नाटकों के प्रयोग देश में सांस्कृतिक कुरुचि बढ़ाने में सहायक हुए। इन कंपनियों के द्वारा 'इन्दर सभा' जैसे हलके प्रेम का प्रचार करने वाले नाटकों का अभिनय किया जाता था और जनता की मांग के अनुसार उनमें नृत्य और संगीत को महत्वपूर्ण स्थान मिलता था। इसलिए केवल मनोरंजन के अतिरिक्त उनमें जनता की रुचि को परिमार्जित करने की बातें नहीं पाई जातीं और विद्वान् तथा सुशिक्षित लोग थिएटरों की व्यावसायिक वृत्ति से घृणा करते थे। परन्तु जनता में पारसी थिएटरों के नाटकों का प्रचार था। भारतेन्दु जी ने जनता की इस भद्दी रुचि को पसंद नहीं किया और लोगों की नाट्य-रुचि को परिष्कृत करने की दृष्टि से नाटक लिखे एवं अपने समय के नाटक-साहित्य के निर्माण का मार्ग-प्रदर्शन भी किया।

भारतेन्दु ने १७ नाटक लिखे और उनमें १० नाटक मौलिक माने जाते हैं। भारतेन्दु के सामने संस्कृत और बंगला की नाट्य-परंपरा थी। बंगला के नाटक अंग्रेजी

नाट्य-परंपरा से प्रभावित थे। इसलिए अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव बंगला के नाटकों द्वारा हिन्दी में आया। भारतेन्दु ने बंगला के 'विद्या सुन्दर' नाटक का भावानुवाद करके अपने नाटक-साहित्य का श्रीगणेश किया। उन्होंने अपने जीवन-काल में नाटकों के रूप में जो कुछ देन हिन्दी संसार को दी वह हिन्दी नाटकों के इतिहास में एक युग की प्रेरणा लेकर हिन्दी नाट्य-पद्धति की विकसित परंपरा को आगे बढ़ा रही है। वैसे देखा जाय तो भारतेन्दु की साहित्य-सेवा हिन्दी कविता, उपन्यास, आलोचना, निबंध आदि साहित्यिक रूपों में थी और वह अपना महत्व रखती है। परन्तु उन्होंने अपने राष्ट्रीय तथा सामाजिक विचारों का प्रचार मौलिक, अनूदित तथा रूपांतरित नाटकों द्वारा किया है। उन्होंने अपने नाटकों के लिए जिस सामग्री का उपयोग किया उसका मूल उनके जीवन तथा उनके चारों ओर बिखरी हुई सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि समस्याओं में मिलता है।

भारतेन्दु के पूर्व नाटकों की संख्या कम थी और वे अधिकतर अपढ़ जनता के मनोरंजनार्थ लिखे गए थे। उनमें समाज के यथार्थ चित्रण को बिलकुल स्थान नहीं मिला था और उनमें प्रेम के हलके रूप का ही चित्रण मिलता था। नाटक की इस हलकी तथा असाहित्यिक परंपरा को नष्ट करने के लिए भारतेन्दु ने अपने नाटकों में राष्ट्रीयता, सामाजिक सुधार, कुशासन की निंदा, अन्याय-विरोध, प्रेम-आदर्श आदि उदात्त भावनाओं की पृष्ठभूमि बनाकर ऐतिहासिक, काल्पनिक, पौराणिक और प्रत्यक्ष जीवन से संबंधित कथानकों तथा पात्रों द्वारा हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय तथा सामाजिक चेतना का आलोक फैलाया। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में चरित्र निर्माण के द्वारा जनता में देशभक्ति तथा सामाजिक भावना का जो प्रचार किया वह अत्यंत महत्व का है। उन्होंने अपने नाटकों में भारत के प्रति अपने हृदय की व्याकुलता प्रकट की।

भारतेन्दु के हर एक नाटक में किसी न किसी रूप में एक महान् उद्देश्य का दर्शन मिलता है और इस प्रकार की सहेतुक रचनाओं के निर्माण में उनकी विलक्षण प्रतिभा काम करती रही है। उन्होंने अपने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३) नाटक में सामाजिक पाखंडों की खूब खबर ली है। इस प्रकार 'सत्य हरिश्चंद्र' (१८७५) नाटक की रचना एक विशेष भावभूमि पर हुई है। यह एक उद्देश्यप्रधान रचना है और भारतेन्दु के मित्र बाबू बालेश्वर प्रसाद बी० ए० की प्रेरणा से यह नाटक लिखा गया जिसका उल्लेख उन्होंने 'आमुख' में इस प्रकार किया है:—

> "मेरे मित्र बाबू बालेश्वर प्रसाद बी० ए० ने मुझसे कहा कि आप कोई ऐसा नाटक लिखें जो लड़कों को पढ़ने पढ़ाने योग्य हो क्योंकि शृंगाररस के आपने जो नाटक लिखे हैं वे बड़े लोगों के पढ़ने के हैं लड़कों को उनसे कोई लाभ नहीं। उन्हीं की इच्छानुसार मैंने यह सत्य हरिश्चन्द्र नामक रूपक लिखा।"[1]

---

१. भारतेन्दु हरिश्चंद्र 'सत्य हरिश्चंद्र', संस्क० १८३३, पृ० १ (उपक्रमिका)

इससे स्पष्ट होता है कि यह नाटक शिक्षाप्रद है और उसके द्वारा भारतेन्दु ने धैर्य और सत्य-प्रेम का महत्व दिखाकर तत्कालीन ऋण से दुखी लोगों की दुर्दशा की ओर भी ध्यान आर्कषित किया है। उनके समय जनता में 'इन्दर सभा' जैसे नाटकों में लौकिक प्रेम का जो हलका चित्रण मिलता था उसका विरोध करने की दृष्टि से उन्होंने 'चन्द्रावली' (१८७६) नाटिका की रचना की और प्रेम का असली रूप लोगों के सामने खड़ा करके आध्यात्मिक प्रेम-पूर्णता की ओर जनता का ध्यान आर्कषित किया। भारतेन्दु अपने नाटकों द्वारा राष्ट्रीय भावना का प्रचार करना चाहते थे। उन्होंने 'भारत जननी' (१८७७) में भारत की तत्कालीन दुर्दशा का सोते हुए भारतीयों को सब प्रकार के सुधारों की आवश्यकताओं का संदेश दिया। भारतेन्दु ने 'भारत दुर्दशा' (१८८०) और 'अंधेर नगरी' (१८८०) में भारत की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि समस्याओं की दुर्दशा का चित्र खींचकर भारत का सर्वांगीण सुधार करने की दृष्टि से देशप्रेमी भारतीयों का मन आर्कषित किया। उन्होंने 'भारत दुर्दशा' में अंग्रेजी राज्य-व्यवस्था की बहुत कटु आलोचना की है। इसी प्रकार उन्होंने 'नीलदेवी' में देशप्रेम की आदर्श भावना का चित्र खींच कर साथ ही भारतीय नारी की मूल समस्या वीरता और सतीत्व के प्रति अपना दृष्टिकोण प्रगट किया।

भारतेन्दु के नाटकों के कारण जनता में राष्ट्रीय और सामाजिक विचारों का प्रचार होने लगा और नाटक-साहित्य के प्रति लोगों में श्रद्धा की भावना स्थापित हुई। हिन्दी नाटक-साहित्य के आरंभिक-काल में भारतेन्दु ने अपने नाटकों द्वारा एक नए युग का निर्माण किया। उनके नाटक हिन्दी साहित्य के लिए एक विशेष देन हैं। परन्तु भारतेन्दु के नाटकों की केवल संख्या देखकर उनका मूल्यांकन नहीं करना चाहिए। भार-तेन्दु के आविर्भाव तक जनता 'नाटक-साहित्य' से अपरिचित सी थी। लोगों के सामने 'इन्दर सभा' के समान नाटक खेले जाते थे परन्तु इस प्रकार के नाटकों को वे मनोरंजन का साधन समझते थे। नाटक के असली अर्थ में जनता ने इस प्रकार के नाटकों का स्वागत नहीं किया। भारतेन्दु के आविर्भाव तक लोग नाटक की ओर एक हीन साहित्य-प्रकार के रूप में देखते थे और नाटक का नाम सुनते ही घृणा की भावना प्रकट करते थे। लोगों में संगीत के प्रति रुचि कम थी और 'इन्दर सभा' जैसे नाटकों के भद्दे तथा अश्लील गीतों के कारण लोगों में संगीत के प्रति अरुचि बढ़ने लगी। समाज में नाटकों में अभिनय करने वालों को सम्मान की भावना से नहीं देखा जाता था। लोगों के मन में नाटक से संबंधित किसी भी बात के बारे में बुरी भावना बन गयी थी। परन्तु भारतेन्दु ने अपने नाटकों द्वारा नए-नए विचार सामने रखे और उनको नाटक-साहित्य से परिचय करवाया। सामान्य लोग भी नाटकों का महत्व समझने लगे और जनता में नाटक का प्रचार होने लगा। इस प्रकार लोगों के मन में हिन्दी नाटकों के प्रति श्रद्धा की भावना का उद्रेक करके लोक-रुचि का परिष्कार किया और

साथ ही अपने विचारों द्वारा तत्कालीन भारतीय समस्याओं का मार्ग-प्रदर्शन भी किया।

नाटक के रचना-विधान की दृष्टि से भारतेन्दु के नाटकों में प्राचीन तथा नवीन नाट्य-परंपरा का समन्वय मिलता है। भारतेन्दु के नाटकों की रचना-शैली के बारे में आचार्य शुक्ल ने अपना निर्णय इस प्रकार किया है:—

> **"नाटकों की रचना-शैली में उन्होंने मध्यम मार्ग का अवलंबन किया। न तो बंगला के नाटकों की तरह प्राचीन भारतीय शैली को एक बारगी छोड़ वे अंगरेजी नाटकों की नकल पर चले और न प्राचीन नाट्य-शास्त्र की जटिलता में अपने को फँसाया।"**[1]

भारतेन्दु अंग्रेजी और संस्कृत के नाटक-साहित्य से परिचित थे। उनके समय में बंगला में नाटकों का निर्माण हो रहा था। अतः उन्होंने नाटक साहित्य की किसी एक शैली को न अपनाकर अपनी रचना शैली में संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटकों की परंपराओं का समन्वय करके एक नाट्य-शैली का सूत्रपात किया। उन्होंने अपने नाटक संबंधी निर्णय 'नाटक अथवा दृश्यकाव्य' शीर्षक पुस्तक में व्यक्त किए हैं। उन्होंने देशकाल के अनुसार संस्कृत नाट्य-शास्त्र की मान्यताओं में परिवर्तन करके बंगला और अंग्रेजी नाट्य-परंपरा की कई बातें आत्मसात की हैं। उन्होंने 'विद्यासुन्दर' का छायानुवाद करके बंगला के नाटकों के प्रति अपनी श्रद्धा दिखाई। उनकी अनूदित रचना 'दुर्लभबंधु' उनका अंग्रेजी साहित्य से परिचय बतलाती है। 'मुद्राराक्षस', 'रत्नावली' आदि संस्कृत से अनूदित रचनाएँ उनका संस्कृत नाटक-साहित्य से प्रेम दिखलाती हैं। इन सब नाटकों की शैलियों का समन्वय उनके मौलिक नाटकों में मलता है। उनके नाटकों में निम्नलिखित बातें मिलती हैं:—

१. नाटकों में समर्पण की नयी शैली का सूत्रपात।
२. मंगलाचरण, नान्दी पाठ, प्रस्तावना आदि का प्रयोग।
३. कथावस्तु में प्रकरी, पंचसंधि, अर्थप्रकृति आदि को महत्व का स्थान नही दिया जाना।
४. दृश्य बदलने की दृष्टि से अंक में गर्भांकों का प्रयोग।
५. चरित्र-चित्रण और रसनिरूपण का समन्वय।
६. नाटक की कथावस्तु में जटिलता का अभाव।
७. मध्यवर्गीय तथा सर्वसाधारण पात्रों के चरित्रचित्रण पर ही ध्यान।
८. प्रसंगानुरूप तथा पात्रानुकूल कथोपकथन का प्रयोग।

---

**१. पं० रामचंद्र शुक्ल—'हिन्दी-साहित्य का इतिहास, छठां संस्करण, सं० २००७, पृ० ४६१**

९. तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक समस्याओं का विश्लेषण।

१०. गीतों की सुन्दर योजना द्वारा पात्रों की आन्तरिक भावनाओं की अभिव्यंजना का उपस्थित किया जाना।

इस प्रकार भारतेन्दु के नाटकों में नवीनता की अनेक बातें मिल सकती हैं। भारतेन्दु के सामने हिन्दी के नाटकों का कोई आदर्श नहीं था। उन्होंने संस्कृत, बंगला, अंग्रेजी आदि भाषाओं के नाटक-साहित्य की परंपरा को आगे रखकर अपने नाटकों का निर्माण किया। उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए नए-नए विषयों को चुनकर, तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार उनका विस्तार करके, उनमें जीवन के आदर्श को महत्व का स्थान दिया। वे अपने पात्रों को सजीव रूप में देखना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने कथोपकथन तथा गीतों की योजना यथार्थ रूप में की। उनके गीत हिन्दी नाटक-साहित्य के लिए अमूल्य देन है। उनकी 'चन्द्रावली' नाटिका में संस्कृत की बाह्य परंपरा का दर्शन मिलता है, 'भारत जननी' में आपेरा के तत्व मिलते हैं और 'विद्यासुन्दर' में बंगला की नाटच पद्धति का परिचय मिलता है। इस प्रकार भारतेन्दु ने अपने नाटकों में बाहरी प्रभाव को स्थान देकर 'नाटचविधान' में नई प्रवृत्तियों का समावेश करके अपने नाटकों का आदर्श लोगों के सामने रखा।

भारतेन्दु ने अपने नाटकों द्वारा एक युग का निर्माण किया। केवल साहित्यिक दृष्टिकोण ही सामने रखकर उन्होंने अपने नाटकों का निर्माण नहीं किया। उन्होंने जिस सामूहिक प्रेरणा से प्रभावित होकर अपने नाटक लिखे हैं उनमें तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि समस्याओं का विश्लेषण मिलता है। उनके नाटक रंगमंच की दृष्टि से भी महत्व के हैं। अंग्रेजों ने उनके नाटकों की भूरि-भूरि प्रशंसा करके उनकी तुलना शेक्सपीयर के साथ की है। बलिया के लोगों ने भारतेन्दु का सन्मान किया। इसका समाचार 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' पत्रिका में इस प्रकार छप गया :—

> **"बाबू साहब का नाम सुनकर इस जिले के मजिस्ट्रेट आदिक अनेक साहबान और मेम लोग भी थिएटर में उपस्थित थे और 'सत्य हरिश्चंद्र', 'नीलदेवी' का अभिनव देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रगत की। वरंच राबर्टस साहब मैजिस्ट्रेट ने कहा कि इनके नाटक कवि शिरोमणि शेक्सपियर से भी उत्तम हैं। बलिया की सज्जन मंडली ने बाबू हरिश्चंद्र जी का योग्य आदर सम्मान किया।"**[1]

भारतेन्दु ने अपने नाटकों द्वारा एक नए युग का निर्माण किया और उनकी नाटच-परंपरा को साथ देने का कार्य लाला श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी, काशीनाथ खत्री, केशवराव भट्ट, देवकीनंदन खत्री, मोहन लाल विष्णुलाल पंडचा, अंबिकादत्त व्यास, खड्गबहादुर मल्ल, गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल

---

१. **'हरिश्चंद्र चंद्रिका' (पुरवणी), दिसम्बर, १८८४ ई०, पृ० २**

गोस्वामी, अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि लेखकों ने अपने पौराणिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, धार्मिक आदि नाटकों द्वारा किया। हिन्दी नाटकों का प्रचार करने का कार्य इस काल की 'हरिश्चन्द्र मैगेजीन', 'आनंद कादंबिनी', 'सारसुधानिधि', 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' आदि पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हुआ। भारतेन्दुकालीन अधिकतर मौलिक तथा अनूदित नाटकों का प्रकाशन इन पत्रिकाओं में हुआ। इन पत्रिकाओं में 'समालोचना' के रूप में जो चर्चा होती थी उसके कारण लोगों का ध्यान नाटकों के प्रति आकर्षित होने लगा।

भारतेन्दु के समान लाला श्री निवासदास ने अपने नाटकों द्वारा हिन्दी नाटक की विकसित परंपरा को आगे बढ़ाया। उन्होंने चार नाटक लिखे हैं और उनमें 'तप्तासंवरण' (१८७३) तथा 'रणधीर प्रेम मोहिनी' (१८७८) अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। भारतेन्दु के अनुसार 'तप्तासंवरण' हिन्दी का चौथा नाटक और मौलिकता की दृष्टि से 'नहुष' के बाद इसका नाम लिया जाता है। इस नाटक पर 'शकुन्तला' नाटक का प्रभाव दिखाई पड़ता है। 'रणधीर प्रेममोहिनी' पर शेक्सपीयर के रोमियों जुलिएट की छाप दिखाई पड़ती है। परन्तु इस नाटक की यह विशेषता है कि वह सुखान्त नहीं है। शैली की दृष्टि से कृत्रिम होकर भी रंगमंच की दृष्टि से यह एक सफल नाटक है। नाटककार ने इस नाटक की मौलिकता के बारे में नाटक की भूमिका में स्पष्ट लिखा है:—

> **"जैसे अब तक कोई पुस्तक और पुस्तकों की थोड़ी बहुत सहायता लिए बिना नहीं रची गई इसी तरह नाटक में भी तुलसीकृत रामायण, रामकलेवा, भूगोल हस्तामलक, शकुन्तला नाटक, हरिश्चंद्र नाटक, विद्यासुंदर नाटक, बिहारी सतसई, स्त्रीबोध, विषवृक्ष, हरिश्चंद्र मैगेजीन और मनोरंजक रत्न, वगैरे अनेक पुस्तकों की छंद वा आशय से कहीं कहीं सहायता ली गई है और ग्रंथकर्ता उन सब का सच्चे मन से उपकार मानता है।"[1]**

इससे पता लगता है कि उस काल की साहित्यिक कृतियाँ तत्कालीन प्राप्य रचनाओं से प्रभावित रही हैं।

भारतेन्दु तथा लाला श्रीनिवासदास ने अपने नाटकों द्वारा जिस नाट्य-पद्धति का सूत्रपात किया था उसकी विकसित परंपरा भारतेन्दु कालीन पौराणिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, राष्ट्रीय आदि नाटकों में मिलती है। इस काल के प्रहसन तथा अनूदित नाटक भी विशेष महत्व के हैं।

हिन्दी में पौराणिक नाटकों की परंपरा बहुत पुरानी है। इन नाटकों में 'रामायण' तथा 'महाभारत' संबंधी कथानकों को प्रधानता दी गई और विशेष चरित्रों के

---

**१. सं० डा० श्रीकृष्णलाल, 'श्री निवास ग्रंथावली' (रणधीर प्रेम मोहनी, निवेदन पृ० १३)**

आधार पर उनकी रचना भी की गयी। हिन्दी नाटक के प्रारंभिक काल से 'रामचरित' तथा 'कृष्णचरित' संबंधी अनेक नाटक लिखे जा चुके हैं। 'आनंद रघुनंदन' तथा 'चंद्रावली' में पौराणिक नाटकों की जो परंपरा मिलती है उसका विकास इस काल के धार्मिक नाटकों में भी मिलता है। पौराणिक व्यक्तियों को लेकर भी अनेक नाटक लिखे गए। इस दृष्टि से बालकृष्ण भट्ट का 'दमयंती स्वयंवर' महत्व का नाटक है। इस काल के अधिकतर नाटकों में धार्मिक भावना को प्राधान्य दिया गया है।

भारत की तत्कालीन पराधीनता तथा लोगों की अज्ञानता के कारण बाल-विवाह, विधवा-विवाह आदि सामाजिक कुरीतियों का प्रचलन हुआ। और उनका विरोध करने के लिए राधाकृष्णदास, देवकीनंदन त्रिपाठी, काशीनाथ खत्री आदि नाटककारों ने अपनी कृतियों का निर्माण किया। इस समय नारी-समस्या को प्राधान्य मिला और स्त्री की असहायावस्था, वैवाहिक कुप्रथा आदि का चित्रण इस काल के सामाजिक नाटकों में मिलता है। इस काल के नाटककारों ने 'विधवा-विवाह' (१८८२), 'विवाहिता विलाप' (१८८३), 'विवाह विडंबन' (१८८४), 'अबला विवाह' (१८८४), 'बाल्य विवाह' (१८८४), 'वृद्धावस्था-विवाह' (१८८८) आदि नाटकों द्वारा तत्कालीन विवाह की समस्याओं पर प्रकाश डाला है। राधाकृष्णदास जी की 'दुखिनी बाला' रचना में एक विधवा की दुखभरी कहानी मिलती है।

भारतेन्दु ने 'नीलदेवी' (१८८७) नाटक लिखकर जिस ऐतिहासिक नाट्य-परंपरा का सूत्रपात किया था उसका विकसित रूप राधाकृष्णदास कृत 'महारानी पद्मावती' (१८८२), श्रीनिवासदासकृत 'संयोगिता स्वयंवर' (१८८५), राधाचरण गोस्वामीकृत 'अमरसिंह राठौर' (१८९४), राधाकृष्णदासकृत 'महाराणा प्रताप' (१८९७) आदि ऐतिहासिक नाट्य-रचनाओं में मिलता है। भारतेन्दु युग के ऐतिहासिक नाटकों में 'अमरसिंह राठौर' और 'महाराणा प्रताप' महत्वपूर्ण कृतियां हैं।

राधाचरण गोस्वामी ने अपनी राष्ट्रीय भावना का प्रचार 'अमरसिंह राठौर' द्वारा करने का प्रयत्न किया है। गोस्वामी जी ने नाटक प्रारंभ में ही इस प्रकार के राष्ट्रीय गान की योजना की है:—

**"जय भारत जय भारत जय भारत कहु रे।**
**भारत की भक्ति करो भारत में रहु रे॥१॥"**

तत्कालीन राष्ट्रीय भावना का सुन्दर चित्रण इस नाटक में मिलता है और देश-सुधार के साथ ही देशोन्नति हो सकती है यह बात इस नाटक में स्पष्ट की है। इस दृष्टि से यह नाटक महत्वपूर्ण है। 'अमरसिंह' के मुख से वीरता तथा आत्म-त्याग की जो प्रतिज्ञा प्रकट की गई है वह तत्कालीन राष्ट्रीय भावना को चुनौती दे सकती है। 'अमरसिंह' के मन में इस प्रकार का द्वन्द्व मिलता है:—

**"अमरसिंह—अपनी युवावस्था को देखूं वा देश की दुरावस्था को देखूं। यह देह महलों में शयन करने के लिए नहीं है, यह देह रणशय्या पर खड्ग के साथ शयन करने को है।"[1]**

इस प्रकार की राष्ट्रीयता तथा वीरता का द्वंद्वदर्शन भारतेन्दुकालीन ऐतिहासिक नाटकों में मिलता है।

भारतेन्दु युग के प्रभावशाली नाटकों में राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रताप' (१८९७) एक महत्वपूर्ण नाटक है। उन्होंने अपने 'महाराणी पद्मावती' (१८८२) नाटक में चित्तौड़ की रानी पद्मावती का चित्रण एक तेजस्वी रानी के रूप में किया है। इसी प्रकार उन्होंने 'महाराणा प्रताप' में महाराणा प्रताप सिंह के चरित्र द्वारा राजस्थानी वीरता की शान दिखाने का प्रयत्न किया है। राधाकृष्णदास ने यह नाटक इतिहास के आधार पर लिखा है और इस नाटक की भूमिका में अपने नाटकों की रचना का उद्देश्य पाठकों के सामने इस प्रकार रखा है:—

**मेरी बड़ी इच्छा है कि मैं भारतवर्ष के गौरवस्वरूप प्रसिद्ध व्यक्तियों के चरित्र, किसी को नाटक, किसी को उपन्यास और किसी को इतिहास स्वरूप में यथावकाश अपने पाठकों की भेंट करूँ।**

इस प्रकार ऐतिहासिक नाटक की यह श्रेष्ठ कृति भारत की गौरवशाली परंपरा का चित्र खींचकर भारत के इतिहास के एक महत्वपूर्ण वीरनायक को पाठकों के सामने रखती है।

हिन्दी नाटक-साहित्य के विकास में सन् १८८५ भी महत्वपूर्ण है। इसी वर्ष भारतेन्तु की मृत्यु और 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना हुई। भारतेन्दु के वाद ही उनके समकालीन नाटककारों ने अपने नाटकों द्वारा भारत की राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं को चेतावनी देने का कार्य किया। इस युग के प्रमुख नाटककार बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास, केशवराम भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, राधा कृष्णदास आदि ने अपने राष्ट्रीय विचारों का प्रचार किसी न किसी रूप में किया। इन नाटककारों ने युग की मांग की अनुसार अपने नाटकों द्वारा स्वदेश, स्वधर्म और स्वातंत्र्य की व्याख्या करके भारत की स्वाधीनता प्राप्ति के लिए एक जोरदार आन्दोलन का प्रचार किया। भारतेन्दु ने 'भारत दुर्दशा' (१८८०) नाटक लिखकर हिन्दी नाटकों में राष्ट्रीयता का सूत्रपात किया। हिन्दी के राष्ट्रीय नाटक-साहित्य की यह परंपरा शिवराम भट्टकृत 'सज्जाद सम्बुल' (१८७७), खड्ग बहादुर मल्लकृत 'भारत-आरत' (१८८५), अंबिकादत्त व्यासकृत 'भारत सौभाग्य' (१८८७), बदरीनारायण चौधरीकृत

---

**१. राधाचरण गोस्वामी : 'अमरसिंह राठौर' पृ० ९**

'भारत सौभाग्य' (१८८८), जगतनारायणकृत 'भारत दुर्दिन' (१८९५) आदि नाटकों में स्पष्ट दिखाई देती है। भारतेन्दु के 'भारत दुर्दशा' नाटक के पहले केशवराम भट्ट के 'सज्जाद सम्बुल' नाटक में राष्ट्रीयता की अस्पष्ट धारा मिलती है। यह नाटक बंगला नाटक के आधार पर लिखा गया था और उसमें जो यथार्थवादी परंपरा मिलती है उसके द्वारा नाटककार ने किसी न किसी रूप में अंग्रेजी राज्य पर तीखा व्यंग्य किया है। भारतेन्दु कालीन राष्ट्रीय विचारों की धारा भविष्य के नाटकों में विकसित रूप में मिलती है।

इस काल में प्रेम-प्रधान नाटकों की एक महत्वपूर्ण धारा मिलती है। भारतेन्दु के 'विद्यासुन्दर' और 'चन्द्रावली' में प्रेम के विभिन्न रूपों का दर्शन मिलता है। लाला श्रीनिवासकृत 'रणधीर प्रेममोहिनी' और 'तप्तासंवरण' में प्रेम-प्रधान नाटकों की परंपरा मिलती है। 'रणधीर प्रेममोहिनी' एक दुखान्त रचना है। खड्ग बहादुर मल्ल कृत 'रति-कुसुम' (१८८५), किशोरी लाल गोस्वामी कृत 'मयंक मंजरी' (१८९१), शालिग्रामकृत 'लावण्यवती-सुदर्शन' (१८९२) आदि नाटकों में प्रेम-प्रधान नाट्य-परंपरा की धारा मिलती है। इनमें से अधिकतर नाटकों में कविताओं की भरमार मिलती है। इसलिए सर्वत्र काव्यात्मक वातावरण का दर्शन होता है।

नाटक-साहित्य की दृष्टि से इस काल के प्रहसनों का निर्माण एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है। इस काल के उद्देश्य-प्रधान और उपदेश-प्रधान नाटकों के कारण नाट्य-कला में जो गांभीर्य आया था उसमें जिन्दादिली तथा मनोरंजन का समावेश करने का कार्य इस काल के प्रहसनों ने किया। प्रहसन एक हास्यप्रधान रचना है जिसका अभिनय रंगमंच पर किया जा सकता है। उनमें किसी एक विषय पर तीव्र आलोचना रहती है और उसमें परिहास तथा व्यंग्य का भी प्राधान्य रहता है। प्रहसनों में व्यंग्यात्मक शैली को प्रधानता दी जाती है, इसलिए उसकी संवेदना मानव-हृदय पर मार्मिक प्रभाव डालती है। इसलिए इस काल के नाटककारों ने तत्कालीन धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि बुराइयों तथा पाखंडों पर तीव्र-प्रहार करने की दृष्टि से प्रहसन लिखे।

प्रहसन लिखने के लिए जिस प्रकार के वातावरण की आवश्यकता थी उसका प्रादुर्भाव भारतेन्दु के उदय के साथ हुआ। भारतेन्दु काल की अधिकतर रचनाएँ देश की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि समस्याओं पर प्रकाश डालने की दृष्टि से लिखी गईं। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद, नवीनचंद्र राय, श्रद्धाराम फुल्लोरी आति हिन्दी प्रेमियों ने तत्कालीन परिस्थितियों में सुधार की आवश्यकता का प्रचार किया। इन सुधारकों ने जो कार्य अपने व्याख्यानों, लेखों, पुस्तकों द्वारा किया उसी कार्य को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से इन प्रहसनों का उपयोग हुआ। प्रहसन में हास्य तथा व्यंग्य का महत्वपूर्ण स्थान होने के कारण, उसके द्वारा सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि कुरीतियों पर आघात कर के समाज के विकृत अंगों का प्रदर्शन

किया जा सकता है। इस प्रकार प्रहसन अपने काल की परिस्थितियों की समस्याओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

हिन्दी में प्रहसनों का सूत्रपात भारतेन्दु द्वारा हुआ। उन्होंने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३), तथा 'अंधेर नगरी' (१८८१) द्वारा तत्कालीन सामाजिक धार्मिक और राजनीतिक समस्याओं पर कटु व्यंग्य किया। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में पुरोहित की धार्मिक वृत्ति पर कसकर व्यंग्य कर के तत्कालीन धार्मिक पाखंडों पर बड़ा आघात किया। उसी प्रकार 'अंधेर नगरी' में अंग्रेजी राज्य-व्यवस्था का व्यंग्यात्मक चित्रण मिलता है।

प्रहसनों के निर्माण में देवकीनंदन त्रिपाठी, पं० बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी, गोपाल राम गहमरी आदि भारतेन्दु-कालीन गद्य-लेखकों ने अपने प्रहसनों द्वारा सहयोग दिया। इन प्रहसनों के विषय तत्कालीन भारतीय समस्याओं से संबंधित हैं। इन प्रहसनों में मनुष्य की वेश्यागामी वृत्ति, धार्मिक पाखंड, आदि पर नाटककारों के स्वतंत्र विचार मिलते हैं। इन विचारों में परिहास और व्यंग्य को प्राधान्य मिलने के कारण उनके घाव बड़े गहरे लगते हैं।

देवकीनंदन त्रिपाठी ने अपने 'जयनारसिंह' (१८७६), 'रक्षाबंधन' (१८७८), 'स्त्री चरित्र' (१८७९),' कलयुगी जनेऊ' (१८८६) आदि प्रहसनों द्वारा समाज में फैली हुई कुरीतियों और बुराइयों पर तीव्र आघात किया है। पं० बालकृष्ण भट्ट ने अपने 'शिक्षादान या जैसा काम वैसा परिणाम' (१८७७) द्वारा वेश्यागामी पुरुषों पर बड़ा व्यंग्य किया और साथ ही साध्वी स्त्री का आदर्श दिखाकर आदर्श पत्नी की मनोवृत्ति का विश्लेषण किया। प्रतापनारायण मिश्र का 'कलि कौतुक-रूप' (१८८६) सामाजिक पतन का एक चित्र खड़ा करता है। यह एक यथार्थवादी रचना है और चरित्रचित्रण की दृष्टि से यह अत्यंत महत्व की रचना है। इस काल के प्रहसनों में राधाचरण गोस्वामी के 'तन, मन, धन गोसाँई जी के अर्पण' (१८९०), 'बूढ़े मुंह मुहासे' (१८८७) प्रहसन अत्यंत महत्व के हैं। भारतेन्दु काल के प्रहसनों में इनका स्थान महत्वपूर्ण है। इनमें धार्मिक तथा सामाजिक पाखंडों पर तीखा व्यंग्य किया और साथ ही हिन्दू मुसलमान किसानों की एकता तथा जमींदारी प्रथा के विरोध में प्रचार मिलता है। इनके प्रहसनों को देखकर भारतेन्दु कालीन धार्मिक प्रथाओं और सामाजिक कुरीतियों का यथार्थ चित्रण खड़ा हो जाता है। इनके प्रहसनों में उच्च कोटि का व्यंग्य और रचना-विधान की न्यूनता का दर्शन होता है। बालकृष्ण भट्ट का 'जैसा काम वैसा परिणाम', प्रतापनारायण मिश्र का 'कलि-कौतुक रूपक' एवं किशोरीलाल गोस्वामी का 'चौपट चपेट' विषय की एकता की दृष्टि से साम्य रखते हैं। 'कलिकौतुक रूपक' में नाटककार ने अपनी कृति के निर्माण का लक्ष्य "हां हां सांच को आंच क्या!", "क्या यह कौतुक न देखोगे" आदि वाक्यों द्वारा स्पष्ट किया है। यह नाटक भारत की तत्कालीन सामाजिक

परिस्थिति पर प्रकाश डालकर एक पतिव्रता नारी की दुखद दशा का चित्र उपस्थित करता है। तत्कालीन नारी-समस्या की ओर जनता का ध्यान आर्कषित करने का कार्य इस नाटक ने किया। इसी प्रकार हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ का 'ठगी 'की चपेट' (१८८४), गोपाल राम गहमरी का 'दादा और मैं' (१८९३) आदि प्रहसन इस काल की समस्याओं पर प्रकाश डालने में सहायक हुए हैं।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र और इस काल के नाटककारों ने अपने प्रहसनों की जो रचना की वह प्राचीन रीति के अनुसार नहीं हुई। संस्कृत के नाटयशास्त्र के अनुसार हास्य की सृष्टि का निर्माण करने की दृष्टि से प्रहसनों का उपयोग माना है, इसलिए उनका आकार भी छोटा रहता था। परन्तु इस काल के प्रहसनों में प्रहसनों की प्राचीन परंपरा का पालन नहीं किया गया। प्राचीन परंपरा के अनुसार प्रहसनों में धार्मिक तथा सामाजिक व्यंग्य, देश सुधार आदि विषय वर्जित हैं। परन्तु इस काल के प्रहसनों में तत्कालीन यथार्थ परिस्थितियों पर खूब कस कर के व्यंग्य किया है। वहु-विवाह, बाल-विवाह, वेश्यागमन, नशेबाजी, धार्मिक आडंबर, जुआ आदि के बारे में लिखे हुए ये प्रहसन तत्कालीन समाज में सुधार की भावना फैलाने में सहायक हुए। हो सकता है कि अंग्रेजी शिक्षा प्रचार के कारण नाटककारों में सामाजिक सुधार की भावना उत्पन्न हुई होगी और उन्होंने उसका व्यापक रूप प्रहसनों के रूप में जनता के सामने रखा। रचना-विधान की दृष्टि से इस काल के प्रहसन विषय के अनुसार अंकों या दृश्यों में विभाजित हैं। इस काल में नाटक-साहित्य में जो भाव-गांभीर्य आया था उसमें रोचकता तथा मनोरंजन लाने का कार्य इन प्रहसनों द्वारा हुआ।

भारतेन्दु ने अपने नाटकों द्वारा हिन्दी रंगमंच का सुधार करने का प्रयत्न किया। उनके 'सत्य हरिश्चंद्र', 'भारत जननी, 'अंधेर नगरी' आदि नाटकों का अभिनय होता रहा परन्तु भारतेन्दु काल में हिन्दी का रंगमंच पनप नहीं सका। पारसी थिएटरों के हाथ में रंगमंच जाने से लोकरुचि में परिवर्तन होने के लिए बहुत समय की आवश्यकता थी। नाटकों में अभिनय करने वालों को समाज में अश्रद्धा से देखा जाता था और उस समय ऐसी कोई नाट्य संस्था नहीं निकली कि जिसका नेतृत्व साहित्यकारों के हाथ में था। आर्य समाज के प्रभाव के कारण हिन्दी रंगमंच की ओर जनता आर्कषित नहीं हो सकी। हिन्दी नाटककार आर्थिक दृष्टि से दुर्बल थे। इसलिए उनके नाटकों के अभिनय के लिए योग्य व्यक्ति नहीं मिल सके। इस प्रकार हिन्दी रंगमंच दुर्बल ही होता गया और भारतेन्दु की मृत्यु के बाद हिन्दी रंगमंच की परंपरा को आगे बढ़ाने के लिए कोई कार्यकर्ता आगे नहीं आया।

इस प्रकार भारतेन्दुयुगीन नाटकों पर विचार करने से इस बात का पता लगता है कि इस काल की ऐसी कोई समस्या नहीं बच सकी कि जिस पर इन नाटककारों ने एक भी नाटक नहीं लिखा। इस युग के नाटककारों की यह एक विशेषता है कि अपनी

दर्शन द्विवेदी-काल में दिखाई नहीं पड़ता। प्रयाग से 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन आरंभ होने के कारण हिन्दी साहित्य में एक नए युग के लक्षण दिखाई देने लगे और पाठकों के सामने सब प्रकार की सामग्री उपस्थित करने वाली अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन होने लगा। 'सरस्वती', 'सुदर्शन', 'इन्दु' आदि पत्रिकाओं के द्वारा कहानी, निबंध आदि हिन्दी साहित्य के विविध रूप पाठकों को पढ़ने के लिए मिलने लगे और हिन्दी का ज्ञानक्षेत्र सर्वसुलभ हुआ। सन् १९०३ में महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के संपादक हुए और उन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य को परिष्कृत तथा परिमार्जित रूप देने का निश्चय किया।

भारतेन्दु की साधना के कारण जनता में नाटक-साहित्य अत्यंत प्रिय हुआ था परन्तु द्विवेदी काल में नाटक की यह लोक-प्रियता कम दिखाई पड़ती है और जब कहीं उसके बारे में बातें सुनाई जाती थीं तब उसमें निराशा का स्वर प्रधान रहता था। पत्र-पत्रिकाओं में जब कहीं नाटक के प्रति दो-चार बातें लिखी जाती थीं तब उनमें भी नाटक की विकसित परंपरा की ओर किसी भी प्रकार का संकेत नहीं मिलता। सन् १९०२ में 'समालोचक' पत्रिका में नाटक के बारे में इस प्रकार की आलोचना मिलती है:—

> **"आजकल सामाजिक सुधार के लिए दो चार नाटक लिखे जाते हैं, परन्तु उनमें 'नाटक' नामक पुस्तक के नियम प्रतिपालित नहीं हैं, अतएव उन्हें हम नाटक नहीं कह सकते।"**[1]

इससे ठीक अनुमान किया जा सकता है बीसवीं शताब्दी के आरंभ में नाटकों के विकास में शिथिलता आई थी और जनता में उनका प्रचार कम था।

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रादुर्भाव के कारण साहित्य के विविध रूपों में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगे और पाठकों का ध्यान कविता, कहानी, जीवन चरित, आलोचना आदि की ओर आकर्षित हो रहा था। द्विवेदीजी ने अपनी सारी शक्ति भाषा के सुधार की ओर केन्द्रित करने के कारण नाटकों के विकास की दृष्टि से वे कुछ न कर पाए। 'सरस्वती' के संपादक होने के कारण उनका संबंध कवि, कहानीकार, निबंधलेखक, आलोचक आदि साहित्य-सेवियों से होता था और वे साहित्य-निर्माण के लिए प्रोत्साहन देते थे। आचार्य द्विवेदी ने नाटक के विकास की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया और इसके अनेक कारण हो सकते हैं। नाटक का संबंध रंगमंच से होने के कारण जब तक रंगमंच की दृष्टि से कुछ सुधार नहीं हो सकता था तब नाटक के क्षेत्र में भी सुधार असंभव था। आचार्य द्विवेदी भाषा-सुधार की ओर आकृष्ट थे। इसलिए पठन-साहित्य में ही साहित्य के विकसित रूप को देखना चाहते रहे होंगे। परन्तु इस

---

१. 'समालोचक'—वर्ष १, भाग २, सितं० १९०२, पृ० ७३

काल में अन्य अनेक परिस्थितियां उत्पन्न हो गई थीं जिनके कारण नाटक के निर्माण के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं बन सका।

'सुदर्शन', 'सरस्वती', 'इन्दु' आदि पत्रिकाओं के द्वारा पाठकों को रोचक सामग्री पढ़ने के लिए मिलती थी। इस समय उपन्यास-साहित्य का प्रचार खूब था और अनूदित उपन्यासों की ओर भी पाठक आकर्षित हुए थे। 'उपन्यास' (१९०१), 'हिन्दी नाविल' (१९०१), 'उपन्यास लहरी' (१९०२), 'उपन्यास सागर' (१९०३), उपन्यास कुसुमांजलि' (१९०४), 'उपन्यास बहार' (१९०७), 'उपन्यास प्रचार' (१९१२) आदि पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण उपन्यास तथा तत्संबंधी साहित्य पाठकों का मनोरंजन करते थे। बंगला, अंग्रेजी, संस्कृत आदि भाषाओं से अच्छे-अच्छे नाटकों का अनुवाद हो रहा था। इसलिए हिन्दी के नाटकों के निर्माण के लिए प्रोत्साहन कम मिलता था। इस काल के अधिकांश साहित्यकार कविता, कहानी, निबंध, आलोचना आदि की ओर आकर्षित हुए थे, क्योंकि नाटक लिखने के लिए अधिक श्रम करना पड़ता था। इसलिए वे उत्तम नाटक नहीं लिख पाए। अभी तक हिन्दी का रंगमंच व्यावसायिक कंपनियों के हाथ में था और वे अपने लेखकों द्वारा नाटक लिखवाकर उनका अभिनय अपने थिएटरों में कराती थीं। ऐसी परिस्थिति में नाटककार की मौलिक प्रतिभा को प्रोत्साहन मिलने के लिए एक भी ऐसी घटना नहीं हो सकी जिसके कारण नाटक के विकास की परंपरा आगे बढ़ सके। भारतेन्दु के समान एक भी प्रतिभाशाली नाटककार इस काल में दिखाई नहीं पड़ता। यह इस काल के नाटक-साहित्य की दृष्टि से बहुत बड़ी कमी है।

इस काल में नाटक-साहित्य की दो स्वतंत्र धाराएँ मिलती हैं—एक रंगमंचीय नाटक की और दूसरी साहित्यिक नाटक की। परन्तु इस काल में प्रधानतया रंगमंचीय नाटकों का निर्माण हुआ। रंगमंच के लिए जो नाटक लिखे गए उनमें भी दो स्वतंत्र धाराएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं। भारतेन्दु-काल में हिन्दी का रंगमंच पारसी कंपनियों के हाथ में था और उनका उद्देश्य शुद्ध व्यावसायिक होने के कारण उनके द्वारा अच्छे-अच्छे नाटकों का अभिनय नहीं किया गया। इस काल में इन व्यावसायिक कंपनियों ने अपने उद्देश्य के अनुसार जनता की रुचि का आदर्श सामने रखकर अपने लेखकों द्वारा अनेक नाटक लिखवाए और अपने थिएटरों में उनका अभिनय करवाया। इन लेखकों में आगा हश्र काश्मीरी, नारायण प्रसाद 'बेताब' आदि के नाम आते हैं। आगा हश्र काश्मीरी ने लगभग १६ नाटक लिखे जिनमें शेक्सपीयर के नाटकों के आधार पर लिखे हुए चार पांच नाटक मिलते हैं। उन्होंने अपने नाटक रंगमंच के लिए लिखे, उनमें अधिकतर नाटक पौराणिक कथाओं के आधार पर ही लिखे हैं। 'बेताब' ने अपना पहला नाटक 'गोरख धन्धा' (१९१२) शेक्सपीयर के The Comedy of Errors

के आधार पर उर्दू में लिखा। इस प्रकार इन नाटककारों के द्वारा रंगमंच के लिए नाटक लिखने की परंपरा का सूत्रपात किया गया।

पारसी कंपनियों के थिएटरों में जिन नाटकों का अभिनय किया जाता था उनमें से अधिकतर नाटक भद्दे तथा दूषित मनोवृत्ति का प्रचार करने वाले थे। इन नाटक-कंपनियों के वेतनभोगी लेखक अपनी-अपनी कंपनी की सुविधाओं का ध्यान रखकर नाटक लिखते थे। इन कंपनियों के रंगमंच पर उर्दू का प्रभाव होने के कारण नाटकों की भाषा प्रायः हिन्दुस्तानी रहती थी। जनता की रुचि को परिष्कृत कर के अच्छे-अच्छे नाटकों द्वारा लोगों का मनोरंजन करने का कार्य इन व्यवसायी थिएटरों द्वारा नहीं हो सका। इन नाटकों में जनता के मनोरंजनार्थ उर्दू काव्य के वातावरण द्वारा बाजारू प्रेम का प्रदर्शन दिखाया जाता था। इन नाटकों के कथानकों में जीवन के किसी महान् उद्देश्य की व्याख्या नहीं रहती थी। उनमें वेश्याओं का नाच तथा अश्लील गानों की भरमार और लोकाचार की उपेक्षा मिलती थी। इस प्रकार के नाटक तत्कालीन हिन्दू समाज में असांस्कृतिक वातावरण तैयार करने में सहायक होने लगे और समाज में दूषित प्रवृत्तियों को फैलाने का कारण बने। अतः ऐसी परिस्थिति में पारसी रंगमंच की सर्वत्र कटु आलोचना होने लगी और उसके विरोध में कानपुर, प्रयाग, काशी, कलकत्ता आदि बड़े-बड़े नगरों में अव्यावसायिक नाटक-मंडलियों की स्थापना हुई।

पहली बार प्रयाग में अव्यावसायिक 'नाटक-मंडली' की स्थापना हुई। 'रामलीला' के अवसर इसके द्वारा नाटक खेले जाते थे। इसलिए इसका नाम 'रामलीला नाटक-मंडली' रखा गया। परन्तु इस नाटक-मंडली का अपना स्वतंत्र उद्देश्य था और इस उद्देश्य के अनुसार इसके द्वारा जो नाटक खेले जाते थे उनमें अंग्रेजी राजनीति पर आलोचना की जाती थी। इस प्रकार लगभग दस साल तक इसके द्वारा नाटकों का अभिनय होता रहा और सन् १९०७ के आसपास तक यह परंपरा चलती रही। सन् १९०८ में इसका पुनर्जीवन 'हिन्दी-नाट्य-समिति' नाम से पं० माधव शुक्ल द्वारा हुआ। इसके द्वारा राधाकृष्णदास कृत 'महाराणा प्रताप' और पं० माधव शुक्ल कृत 'महाभारत (पूर्वार्ध)' का अभिनय किया गया। इन दोनों नाटकों में हिन्दी के साहित्यकारों ने अभिनय किया। हिन्दी रंगमंच के विकास की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण घटना है।

इस प्रकार का प्रयत्न काशी में हुआ। काशी में 'श्री भारतेन्दु नाटक-मंडली' (१९०८) और 'नागरी-नाट्य-कला प्रवर्तन मंडली' (१९०९) की स्थापना हुई। इन मंडलियों के द्वारा ऐतिहासिक, पौराणिक आदि नाटकों का अभिनय होने लगा।

इन अव्यवसायिक नाटक-मंडलियों की स्थापना के कारण पारसी थिएटर से अभ्यस्त जनता की रुचि में धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगा और उनकी रुचि परिष्कृत होने लगी। वास्तव में इन अव्यावसायिक नाटक-मंडलियों के रंगमंच पर भारतेन्दुयुगीन नाट्य-परंपरा का प्रभाव बराबर दिखाई देता है। जनता में पारसी थिएटर की बाह्य-

सजावट के प्रति आकर्षण था। इन अव्यावसायिक नाटक-मंडलियों को जनता की रुचि पर ध्यान देकर पारसी रंगमंच की बाह्य-सजावट, नृत्य, संगीत आदि का अनुकरण अंशिक रूप में करना पड़ा। नाटक-मंडलियों के पास इतना धन नहीं था कि अभिनय में नई-नई बातों का समावेश करके जनता की रुचि का परिष्कार अधिक मात्रा में किया जाए। इसलिए किसी भी नाटक का अभिनय करने के लिए जो खर्च करना पड़ता था उसे जनता से प्राप्त करना उनका उद्देश्य बन जाता था, अतः पारसी रंगमंच का मुकाबला करने में इन अव्यावसायिक नाटक-मंडलियों के अभिनय के प्रयोग सफल नहीं हो सके। परन्तु बाद में इनकी रंगमंचीय परंपरा में परिवर्तन होकर उसका स्वरूप शैक्षणिक तथा सामाजिक संस्थाओं के विशेष अवसर पर खेले जाने वाले नाटकों में दिखाई देने लगा। धीरे-धीरे इसमें शुद्ध सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक रुचि की परिष्कृत नाट्य-परंपरा दिखाई पड़ने लगी।

इस काल विभाग की यह एक विशेषता है कि इसमें अधिकतर नाटक रंगमंच के लिए लिखे गए। इसलिए इस काल में साहित्यिक तथा रंगमंचीय नाटकों की अलग-अलग परंपराएँ स्पष्ट रूप में दिखाई नहीं पड़तीं। जैसे-जैसे तत्कालीन भारतीय राजनीतिक परिवर्तन होते गए वैसे-वैसे इस काल के ऐतिहासिक, पौराणिक, और सामाजिक नाटकों में किसी न किसी रूप में राजनीतिक समस्याओं का चित्रण होने लगा और नाटकीय परंपरा की गति तत्कालीन समाज की आवश्यकताओं के साथ आगे बढ़ने लगी। हिन्दी रंगमंच पर बाहरी प्रभाव पड़ने के कारण नाटक की कथा-वस्तु और रचना-विधान में अनेक परिवर्तन दिखाई देने लगे। श्री बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरू-वन-दहन' (१९१२) नाटक इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यह संस्कृत के 'वेणी-संहार' के आधार पर लिखा गया। बद्रीनाथ भट्ट ने अपने इस नाटक की प्रस्तावना में स्पष्ट लिखा है:—

> **"इसको यदि वेणी संहार का रूपांतर कहें तो भी अनुचित नहीं होगा। इसे पढ़ने पर पाठकों को मालूम हो जायगा कि उपर्युक्त संस्कृत नाटक की सहायता से लिखे जाने पर भी इसका नाम बदलना सर्वथा उचित ही हुआ है, क्योंकि उसमें और इसमें अंतर है—कितने ही नए व्यक्ति, कितनी ही नयी बातें इसमें सम्मिलित कर दी गई हैं और वेणी संहार के कितने ही पात्र और कितनी ही बातचीत इसमें नहीं रक्खी गई है, उसमें छः अंक हैं, इसमें सात हैं, उसमें द्रौपदी के केशों का भीम द्वारा बाँधा जाना ही नाटक का कथा-केन्द्र माना गया है, इसमें यह बात नहीं है।"**

इस प्रकार यह नाटक एक उद्देश्य-प्रधान रचना है। नाटककार ने रंगमंच की सुविधाओं की ओर ध्यान देकर नाटक में अनेक परिवर्तन किए हैं। अंग्रेजी नाट्य-पद्धति का प्रभाव इस नाटक में स्पष्ट दिखाई पड़ता है और इस बात का भी निर्देश नाटककार ने अपने नाटक की भूमिका में इस प्रकार किया है:—

**"उसकी और इसकी शैली में बड़ा भेद है। यह अंगरेजी ढंग पर ऐक्ट (अंकों) तथा सीन (दृश्यों) में विभक्त किया गया है जिससे खेलने में भी सुगमता पड़े। अंगरेजी नाट्य-रचना-पद्धति संस्कृत नाट्य-रचना पद्धति से कहीं उन्नत तथा समयोपयुक्त है। इसलिए उसका ही अनुसरण करना उचित समझा गया।"**

अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि पौराणिक नाटक भी बाहरी प्रभाव से नहीं बच पाए और उनका निर्माण अंग्रेजी नाटच-पद्धति के अनुसार होने लगा। हिन्दी नाटकों के विकास में यह एक महत्व की सीढ़ी है।

इस काल-विभाग में नाटकों की संख्या बहुत नहीं मिलती परन्तु इसमें पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, प्रेम-प्रधान आदि सब प्रकार के नाटक लिखे गए। इस काल में 'राम-धारा' और 'कृष्ण-धारा' के अन्तर्गत बहुत कम नाटक मिलते हैं और पौराणिक आख्यानों को लेकर लिखे गए नाटकों की संख्या अधिक दिखाई देती है। इन नाटकों में जयशंकर प्रसाद का 'करुणालय' (१९१२) और बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवन-दहन' (१९१२) उल्लेखनीय कृतियां हैं। उसी प्रकार ऐतिहासिक नाटकों में बद्रीनाथ भट्ट कृत 'तुलसीदास' (१९१५), कृष्णप्रकाश सिंह कृत 'पन्ना' (१९१५), हरिदास माणिक कृत 'संयोगिता हरण या पृथ्वीराज' आदि महत्व की रचनाएँ हैं। सामाजिक या समस्या-प्रधान नाटकों में तत्कालीन सामाजिक तथा राष्ट्रीय भावना का चित्रण मिलता है। विषय की मौलिकता की दृष्टि से इस धारा के नाटकों में मिश्रबंधुओं का 'नेत्रोन्मीलन' (१९१५) एक महत्व की नाटच-कृति है। सामाजिक व्यंग्य की दृष्टि से बद्रीनाथ भट्ट का 'चुंगी की उम्मीदवारी' (१९१२) प्रहसन एक महत्वपूर्ण रचना है। इस काल की प्रेम-प्रधान धारा के नाटक विशेष महत्व नहीं रखते और उनकी संख्या भी बहुत कम है। संस्कृत, बंगला, अंग्रेजी से अनेक नाटक हिन्दी में अनूदित हुए। इस प्रकार इस काल के नाटक-साहित्य का विवरण उपस्थित किया जा सकता है।

इस काल में नाटकों की संख्या बहुत कम मिलती है परन्तु हिन्दी नाटच-परंपरा की अनेक नव्यतर प्रवृत्तियों का आरंभ मिलता है। रंगमंच की दृष्टि से अनेक सुधार हुए और पारसी रंगमंच के नाटकों के गीत हिन्दी में लिखे जाने लगे। रंगमंच पर हास्य को भी प्राधान्य मिलने लगा और लोकरुचि को परिष्कृत करने की दृष्टि से अनेक नाटक लिखे गए। नाटच-विधान में बाहरी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है और सर्वत्र अंग्रेजी नाटच-पद्धति का अनुकरण होता रहा है। अव्यावसायिक रंगमंच के निर्माण के कारण समाज में नाटच-संस्थाओं को महत्व का स्थान मिलने लगा और तत्कालीन सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं का चित्रण उनमें होने लगा। बद्रीनाथ भट्ट के नाटकों में नवीनता के लक्षण स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं और इस काल-विभाग में उनका स्थान महत्वपूर्ण है।

## विकास-काल (सन् १९१५ से सन् १९३४ ई० तक)

व्यावसायिक तथा अव्यावसायिक नाट्य-मंडलियों के कारण अनेक नाटककारों ने अपनी नाट्य-रचनाओं द्वारा हिन्दी नाटक-साहित्य को समृद्ध किया। पारसी कंपनियों के रंगमंच के लिए जो नाटक लिखे गए उनमें अधिकतर पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों की संख्या मिलती है। इन नाटक कंपनियों के वेतन-भोगी लेखक थे और वे कंपनी की सुविधाओं का ध्यान रख कर ही अपने नाटक लिखते थे। इनके रंगमंच पर उर्दू का प्रभाव होने के कारण नाटकों की भाषा प्रायः हिन्दुस्तानी रही। परन्तु जनता की रुचि को देखकर इन नाटकों की कथावस्तु का चुनाव होता था। राधेश्याम 'बेताब', 'हसरत' आदि नाटककारों ने नाटकों का निर्माण करके जनता का मनोरंजन किया। पं० राधेश्याम कथावाचक ने 'वीर अभिमन्यु' (१९१९), 'रुक्मणी मंगल' (१९२७), 'श्रवणकुमार' (१९२८), 'द्रौपदी स्वयंवर' (१९२९) आदि पौराणिक नाटक रंगमंच की दृष्टि से लिखे। उसी प्रकार नारायण प्रसाद 'बेताब' ने भी 'रामायण', 'पत्नीप्रताप', 'कृष्ण-सुदामा' आदि नाटक लिखे। बेताब के समान आगा हस्र काश्मीरी, हरिकृष्ण 'जौहर', तुलसीदत्त 'शैदा' आदि नाटककारों ने पौराणिक नाटक लिखे। इन नाटककारों ने रंगमंच की दृष्टि से नाटक लिखे और इन नाटकों द्वारा जन शिक्षा देने का कार्य उनके द्वारा हुआ। इनके नाटकों के कारण व्यावसायिक रंगमंच का सुधार होने लगा और जनरुचि के अनुसार नाटकों में चरित्रचित्रण, भाषा-शैली, हास्य आदि पर भी ध्यान दिया गया। इन नाटकों पर तत्कालीन परिस्थिति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इसलिए नाटकों में बीच-बीच में शिक्षाप्रधान बातें भी मिलती हैं।

व्यावसायिक रंगमंच के प्रचार के कारण पौराणिक नाटकों की एक स्वतंत्र परंपरा निर्माण हुई और साथ ही इससे प्रभावित अनेक साहित्यिक तथा पौराणिक नाटकों का निर्माण होने लगा। इन पौराणिक नाटकों का निर्माण रंगमंच की सुविधाओं का ध्यान रखकर किया गया था फिर भी इनमें साहित्यिक गुण भी मिलते हैं। इस दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त कृत 'चन्द्रहास' (१९१६), पं० माधव शुक्ल कृत 'महाभारत' (१९१६), हरिदास माणिक कृत 'पाण्डव-प्रताप या युधिष्ठिर' (१९१७), पं० माखन-लाल चतुर्वेदी कृत 'कृष्णार्जुन-युद्ध' (१९१८), हरिदास माणिक कृत 'श्रवणकुमार' (१९२०), जमनादास मेहरा कृत 'विश्वामित्र' (१९२१), बद्रीनाथ भट्ट कृत 'बेन चरित्र' (१९२१), सुदर्शन कृत 'अंजना' (१९२२), पाण्डेय बेचन शर्मा कृत 'महात्मा ईसा' (१९२२), हरिप्रसाद वियोगीहरि कृत 'छद्मयोगिनी' (१९२३), पं० गोविंद-वल्लभ कृत 'वरमाला' (१९२५) आदि नाटक उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में संस्कृत की नाट्य-परंपरा का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ता है।

रंगमंच की दृष्टि से पं० माधव शुक्ल का 'महाभारत' (पूर्वार्द्ध) नाटक विशेष महत्व का है। यह पौराणिक होने पर भी लेखक ने उसकी मौलिकता का ख्याल किया

है। इसकी रचना करते समय नाटक के निश्चित रूप का चित्र उनके सामने तैयार होगा, इसलिए वे इसके रचना-विभाग में नवीन रचना पद्धति का उपयोग कर सके। शुक्लजी ने इस बात का स्पष्टीकरण नाटक की भूमिका में इस प्रकार किया है:—

> **महाभारत के पात्रों का आदर्श जैसा मेरे हृदय में है जो वास्तविक मालूम हुए वैसा ही मैंने इसमें दिखलाने का प्रयत्न किया है।—नाटक में गाने कम रक्खे हैं, जो वे हैं वे प्रायः नेपथ्य से या कुछ पात्रों के मुख से भी हैं,——नाटक को मनोरंजक बनाने के लिए हास्यरस का समावेश किया गया है,......।**

इससे स्पष्ट लगता है कि शुक्लजी की मौलिक प्रतिभा ने नाटक की कथावस्तु पौराणिक होते हुए भी एक नई शैली की परंपरा देने का कार्य किया है। इस नाटक में तीन अंक हैं और रंगमंच की सुविधाओं के अनुसार गर्भाङ्कों की संख्या तीन से पांच तक रखी गई है।

पं० माखनलाल चतुर्वेदी ने पौराणिक कथा के आधार पर अपने 'कृष्णार्जुनयुद्ध' (१९१८) नाटक की रचना कर तत्कालीन भारत की राजनीतिक परिस्थिति पर प्रकाश डाला। इसमें राजनीतिक चालबाजी की अनेक बातें मिलती हैं। नाटककारों ने यम की चालबाजी का उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है:—

> **"यम—देवराज, मैं, सब महत्वाकांक्षी मदांधों को आपस में लड़वाता हूँ, आपसी डाह से युद्ध की अग्नि सुलग उठती है, और उनका नाश हो जाता है— जैसा कि अभी महाभारत में हुआ।"१**

यह नाटक रंगमंच की सुविधाओं को सामने रख कर लिखा गया है और साहित्यिक दृष्टि से भी वह अत्यंत उच्च कोटि का माना जा सकता है। इसमें चार अंकों की योजना करके रंगमंच की सुविधाओं के अनुसार उनका विभाजन किया है। इनमें संवादों की योजना उत्कृष्ट हैं। यदि 'सुभद्रा' के चरित्रचित्रण में शिथिलता दिखाई देती है फिर भी चरित्रचित्रण की दृष्टि से अभी तक इतना सफल नाटक नहीं लिखा गया है।

भारत की सांस्कृतिक परंपरा पर प्रकाश डालने की दृष्टि से बेचन शर्मा 'उग्र' का 'महात्मा ईसा' नाटक (१९१८) विशेष महत्व का माना जा सकता है। महात्मा ईसा एक ऐतिहासिक सिद्ध पुरुष हैं और उनमें अहिंसा, विश्वप्रेम, शांति, अतिमानवता, जनकल्याण आदि दिव्य भावनाएँ मिलती हैं। नाटककार ने ईसा भारत आए थे और उन्होंने यहां शिक्षा प्राप्त की थी तथा उन पर बौद्धमत का पूर्ण-प्रभाव है; इसी एक मत के आधार पर सारे नाटक की रचना की है। नाटक के प्रथम अंक में ही नाटक-

---

१. माखनलाल चतुर्वेदी—'कृष्णार्जुन युद्ध', पृ० ३८

कार ने 'काशी' तथा भारत के बारे में 'ईसा' तथा 'संतोषचंद्र' के मुख से जो मत प्रतिपादित कराया है उसमें नाटक की रचना का उद्देश्य स्पष्ट दिखाई देता है :—

"ईसा—(अनसुनी करके) क्या पृथ्वी के अन्य किसी भाग में ऐसे मनुष्य मिल सकते हैं ? कदापि नहीं ! यहाँ का एक-एक प्राणी देवता है—एक-एक स्थान स्वर्ग है।"[१]

"संतोष—ईश यह आर्य भूमि सज्जनता, उदारता और मित्रता की जननी है। यहाँ के लोग अतिथियों को देवताओं से भी श्रेष्ठतर मानते हैं। अभी तुम्हारे पश्चिम देश की दूषित वायु का संचार इधर उधर नहीं हुआ।"[२]

नाटककार ने मंगलाचरण में 'राष्ट्रीय गान' रखकर अपनी राष्ट्रीय-भावना को प्रकट किया है। नाटककार ने अपने वक्तव्य में भी स्पष्ट लिखा है—'मेरे हृदय में एक आग सुलग रही थी, उसे ही मैंने इस नाटक के रूप में फूंक दिया है।' अर्थात् अब हिन्दी नाटकों में राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक वातावरण उत्पन्न करके पात्रों का चित्रण करने की परंपरा शुरू हुई और इसका स्पष्ट आधार इस नाटक में मिलता है। 'उग्र' जी ने यह नाटक तीन अंकों में लिखकर अपनी शैली की नवीनता का भी परिचय दिया है।

सुदर्शन का पौराणिक नाटक 'अंजना' (१९२२) इस काल की एक अत्यंत उच्च कोटि की कृति है। इसमें नाटककार ने पतिपरायणा 'अंजना' और 'पवन' के पवित्र प्रेम की कहानी अनेक संघर्षों में गुंफित की है। यह एक चरित्रप्रधान नाटक है और इसमें ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं जहां पाठक और दर्शक का मन करुणा और दया से भर जाता है। रंगमंच की दृष्टि से भी यह नाटक सफल है।

रंगमंच की दृष्टि से एक अत्यंत सफल तथा घृणा और प्यार का सुन्दर विश्लेषण करने वाला गोविंद वल्लभ पंत का पौराणिक नाटक 'वरमाला' (१९२५) इस काल की एक विशेष रचना है जिसमें कथा का ढांचा पौराणिक रखकर प्रेम की समस्या को एक मनोवैज्ञानिक ढंग से देखा गया है। इस नाटक की नायिका पहले जिसे नहीं चाहती, अन्त में उसी के गले में वरमाला डालती है और अपनी इच्छा से नायक को प्यार करती है। नाटककार ने नाटक की नायिका वैशालिनी के मुख से नाटक की समस्या को पाठकों के सामने इस प्रकार रखा है :—

"वैशालिनी—जब उन्होंने प्यार किया, तो मैंने उनका अनादर किया, जब मैंने उन्हें प्यार किया, तो वह अवहेलना कर चले गए। हाय, हम दोनों ने, यदि एक दूसरे से घृणा करनी थी, तो क्यों एक साथ नहीं की ? यदि प्यार ही करना था, तो क्यों न एक ही समय किया ?"[3]

१. बेचन शर्मा 'उग्र' 'महात्मा ईसा,' पृ० ४
२. बेचन शर्मा 'उग्र'—'महात्मा ईसा,' पृ० ६
३. गोविन्द वल्लभ पंत—'वरमाला', पृ० ४०

इसमें पुरुष और नारी के प्रेम के अहं (ego) का संघर्ष है और धीरे-धीरे नाटककार ने यह संघर्ष अन्त में मंगलमय बना दिया है। नाटक का रचना-विधान इतने कौशल से रचा गया है कि नाटककार के रंगमंच संबंधी ज्ञान का पता लगता है। इस नाटक के चरित्र-चित्रण में उतार-चढ़ाव मिलता है। यह इस नाटक की बहुत बड़ी विशेषता है। सारे नाटक में काव्यात्मक वातावरण रखने का प्रयत्न नाटककार ने किया है। नाटक के आरंभ में ही वैशालिनी का स्वगत-सा भाषण दर्शक में भावुकता निर्माण कर सकता है। वैशालिनी एक फूल को संबोधित कर कहती है:—

**"वह एक छोटा-सा बीज था। मेरे मन को वह चंचल नहीं कर सका, मैं उसके छिपे सौन्दर्य को न देख सकी। मैंने उसे बड़ी असावधानी से भूमि पर बिखरा दिया। पक्षी के भय से उसने अपने को भूमि के भीतर छिपा लिया। आकाश का श्याम मेघ न जाने किसके संकेत से पानी बरसा गया—इस बीज को पृथ्वी के हृदय से निकाल कर, उसे एक सुन्दर तरुवर का रूप देकर, चला गया।"[१]**

इस प्रकार वह अपनी कहानी सांकेतिक भाषा में कहती है। कथावस्तु में वातावरण पौराणिक होने पर भी नाटक में नवजीवन की चेतना मिलती है। अंकों की संख्या तीन है और सर्वत्र रंगमंच का ध्यान रखकर ही संवादों की योजना की है।

इस प्रकार इस काल के पौराणिक नाटकों पर विचार किया जा सकता है। इनमें अधिकतर नाटक रंगमंच की दृष्टि से लिखे गए हैं। अतः नाटककारों ने अपने नाटकों द्वारा भारत की सांस्कृतिक परंपरा का विश्लेषण करके तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि समस्याओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। परन्तु भारत की ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक परंपरा का चित्र खड़ा करने का कार्य अपने ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटकों द्वारा किया।

हिन्दी के नाट्य-साहित्य में जयशंकर प्रसाद के नाटकों को अत्यंत महत्व का स्थान मिला है। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतेन्दु द्वारा जिस नाट्य-परंपरा का प्रचलन हुआ था उसका ठीक विकास जयशंकर प्रसाद के नाटकों में मिलता है। भारतेन्दु-काल में ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि नाटकों की जो परंपरा चली थी उसका विकास प्रसाद के सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक नाटकों में मिलता है।

प्रसाद जी ने सन् १९१० के आसपास लिखना आरंभ किया। कविता, कहानी, उपन्यास आदि अपनी प्रारंभिक रचनाओं के साथ उन्होंने 'सज्जन' (१९१०-११), 'कल्याणी-परिणय' (१९१२), 'प्रायश्चित' (१९१४), 'राजश्री' (१९१५) आदि प्रारंभिक नाटकीय कृतियाँ लिखीं। लेकिन काव्यत्व को छोड़कर इन कृतियों में कोई विशेष बात नहीं है।

---

१. गोविन्द वल्लभ पंत—'वरमाला', पृ० २

प्रसाद जी हृदय से कवि थे, तो भी उनकी दृष्टि भारत की ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक परंपरा पर अधिक आकृष्ट थी। इसलिए उन्होंने भारतीय प्राचीन इतिहास का अध्ययन किया है। परन्तु प्रसाद जी अपने नाटकों में इतिहासकार बनना नहीं चाहते थे। वे एक ललित-साहित्यकार के रूप में भारत की ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक परंपरा को अपनी कला-कृतियों के द्वारा लोगों के सामने उपस्थित करना चाहते थे। भारतीय इतिहास में संशोधन के साथ ही उनकी प्रतिभा साहित्य-निर्माण में भी कार्यरत रही। प्रसाद के नाटकों को समझने के लिए पाठकों को प्राचीन भारत के इतिहास की जानकारी आवश्यक है। प्रसाद का भारतीय इतिहास और संस्कृति से कितना प्रेम था इसका परिचय उनके 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्' शीर्षक[1] लेख से पता लगता है।

इससे स्पष्ट है कि प्रसाद जी भारतीय इतिहास की इधर-उधर बिखरी हुई सामग्री को ठीक प्रकार से संशोधित करके अपने नाटकों द्वारा भारतीय इतिहास को ही नहीं, भारतीय साहित्य को भी अपनी एक विशेष देन देना चाहते थे।

प्रसाद जी की नाटच-कला का विकास उनके 'अजातशत्रु' (१९२२), 'स्कन्द-गुप्त' (१९२८), 'चंद्रगुप्त' (१९३१) और ध्रुवस्वामिनी' (१९३३) नाटकों में मिलता है। उनके नाटकों में सर्वत्र उनका इतिहास प्रेम दिखाई पड़ता है। प्रसाद जी ने अपने नाटकों का निर्माण जिस नाटच-पद्धति से किया है उसका विश्लेषण उनके 'नाटकों में रस का प्रयोग', 'नाटकों का आरंभ', 'रंगमंच' आदि उनके निबंधों को पढ़ कर करना चाहिए। प्रसाद जी ने अपने नाटक रंगमंच के लिए नहीं लिखे हैं। वे नाटक की स्वतंत्र सत्ता के कलाकार थे। इसलिए तत्कालीन रंगमंच की सुविधाओं को सामने रखकर उन्होंने अपने नाटक नहीं लिखे। उनका निश्चित मत था, नाटक रंगमंच के लिए नहीं लिखना चाहिए, नाटक के लिए रंगमंच हो, जो व्यावहारिक है। इसलिए उनकी नाटच-शैली का आदर्श रंगमंच की नयी परंपरा के आधार पर ही किया जा सकता है।

प्रयोग के रूप में लिखी हुई उनकी 'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय', 'प्रायश्चित', 'राजश्री' और 'विशाख' आदि कृतियों के बाद 'अजातशत्रु' (१९२२) नाटक लिखा गया। इसी नाटक में प्रसाद जी अपनी नाटचकला की शैली पर स्थिर हुए और बाद में उन्होंने 'स्कन्दगुप्त', 'चंद्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' का निर्माण किया। प्रसाद जी ने नाटक के नामकरण से ही अजातशत्रु के चरित्र पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया है। मनुष्य अपने चारों ओर बिखरी हुई परिस्थितियों के प्रभाव के कारण किस प्रकार अपने कर्तव्य पथ का अनुसरण करता है इसका प्रत्यक्ष उदाहरण अजातशत्रु के

---

१. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—भाग १०, संवत् १९८६

व्यक्तित्व में मिलता है। चरित्र-चित्रण की यह प्रणाली प्रसाद जी की अपनी नयी पद्धति ह। चरित्रचित्रण के साथ नाटकों के पात्रों में जो अन्तर्द्वन्द्व दिखाई देता है वह अत्यंत महत्व का है क्योंकि उसके आधार पर ही प्रसाद जी ने विविध घटनाओं को शृंखला-बद्ध करने में बड़ी सहायता पायी और उसमें उन्हें सफलता भी मिली।

इस नाटक की कथावस्तु तीन अंकों में विभाजित है। हरएक अंक में नौ या दस दृश्य हैं। इन दृश्यों की संख्या अट्ठाईस है। रंगमंच की दृष्टि से पात्रों की संख्या भी अधिक है और कथावस्तु का विस्तार सहज ढंग से नहीं हो सका है। परन्तु कथानक को बड़े आकर्षक तथा कौतूहलवर्धक घटनाओं के साथ उपस्थित किया है। पात्रों में भावात्मकता अधिक होने के कारण चरित्रचित्रण में शिथिलता उत्पन्न हुई है। हरएक पात्र एक दार्शनिक के समान जीवन की व्याख्या करता हुआ दिखाई पड़ता है। 'कारायण' पात्र द्वारा पुरुष और स्त्री की जो व्याख्या की है वह साहित्यिक ही नहीं उसमें प्रसाद जी के स्वतंत्र चिन्तन का परिचय मिलता है। 'कारायण,' 'शक्तिमती' से कहता है :—

> **'कठोरता का उदाहरण है पुरुष, कोमलता का विश्लेषण है—स्त्री-जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है—जो अन्तर्जगत् का उच्चतम विकास है जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं। इसीलिए प्रकृति में उसे इतना सुन्दर और मन-मोहन आवरण दिया है—रमणी का रूप।"**[१]

'कारायण' जैसे पात्र के मुख से इतनी बड़ी दार्शनिक व्याख्या दर्शकों के सामने उपस्थित करना रंगमंच की दृष्टि से ही नहीं साधारण पाठक की दृष्टि से भी कुछ अस्वाभाविक लगता है। परन्तु प्रसाद जी के इस नाटक में उनकी नाटय-कला का प्रथम प्रयत्न मिलता है।

प्रसाद जी की नाटय-कला का निखरा हुआ रूप उनके 'स्कन्दगुप्त' नाटक में मिलता है। इसमें पात्रों के चरित्रों का विश्लेषण राजनीतिक घटनाओं के द्वारा व्यक्ति-गत विशेषताओं के आधार पर किया है। किसी व्यक्तिगत गुण या घटना के कारण पारिवारिक या राजनीतिक जीवन में कैसे परिवर्तन होते रहते हैं, इसका सुन्दर चित्रण इसमें मिलता है। इसमें नारी पात्रों की योजना इस ढंग से हुई है कि नाटक की घटनाओं का संचालन उनके हाथ में है। पुरुष के लिए नारी एक महान् शक्ति है इसका प्रमाण नाटक के हरएक नारी पात्र के द्वारा मिलता है। देवसेना और विजया स्कन्दगुप्त के जीवन की एक आधार-शिला के रूप में कार्य करती हैं। उन दोनों के प्रेम का आदर्श जीवन की विविधता का प्रदर्शन करता है। प्रसाद जी ने इस नाटक में नारी-पात्रों द्वारा जो कुछ बातें प्रस्तुत की हैं उनमें जीवन के प्रति एक शक्ति है। नाटक की कमला जैसी नारी स्कन्दगुप्त जैसे एक महान् सम्राट् को अपनी उक्ति द्वारा

१. जयशंकर प्रसाद—अजातशत्रु, ११वाँ संस्करण, पृ० १५०

शक्तिमान् बनाती है। जब स्कन्दगुप्त उसे कहता है—"आह! मैं वही स्कन्द हूँ—अकेला, निस्सहाय!" तब उसमें नारी शक्ति का प्रादुर्भाव होता है और वह स्कन्दगुप्त से कहती है:—

**"कौन कहता है तुम अकेले हो? समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जागृत करो। यदि भविष्य से डरते हो कि तुम्हारा पतन ही समीप है, तो तुम उस अनिवार्य स्रोत से लड़ जाओ। तुम्हारे प्रचंड और विश्वासपूर्ण पदाघात से विंध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा, जो उस विघ्न-स्रोत को लौटा देगा। राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते? समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझकर करता है, वही ईश्वर का अवतार है।"१**

इस प्रकार नाटक-साहित्य के द्वारा पाठक के लिए एक नयी शक्ति निर्माण कर उसके द्वारा प्रसाद जी भारतीय जीवन में राजनैतिक दृष्टि से ही नहीं सांस्कृतिक दृष्टि से भी पुनरुत्थान करना चाहते थे। उनके नाटक ऐतिहासिक लगते हैं परन्तु हरएक बात के पीछे आधुनिक भारत की महत्वाकांक्षा को प्रस्फुटित करने की नीति उनमें स्पष्ट दिखाई देती है। इस नाटक के धातुसेन पात्र के मुख से भारत की महत्ता का चित्र इस प्रकार पाठकों के सामने खड़ा किया है:—

**"धातुसेन—भारत समग्र विश्व का है, और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेमपाश में आबद्ध है। अनादि-काल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति यह विकीर्ण कर रहा है। वसुन्धरा का हृदय—भारत—किस मूर्ख को प्यारा नहीं? तुम देखते नहीं कि विश्व का सबसे गम्भीर तथा विशाल समुद्र इसके चरणों के नीचे है? एक-से-एक सुन्दर दृश्य प्रकृति ने अपने इस घर में चित्रित कर रक्खा है।"२**

भारत के प्रति इतना जाज्वल्य अभिमान किसी और नाटककार में कदाचित् ही मिलेगा। पाश्चात्य और भारतीय नाट्य-परंपरा का समन्वय इसमें स्पष्ट दिखाई देता है परन्तु सर्वत्र काव्यात्मक वातावरण की सृष्टि का निर्माण होने के कारण रंगमंच की अपेक्षा साहित्यिक दृष्टि से इस काल की यह उत्तम नाट्य-कृति है।

'स्कन्दगुप्त' नाटक के समान प्रसादजी का 'चन्द्रगुप्त' (१९३१) नाटक उनकी नाट्य-शैली में चरम उत्कर्ष दिखाता है। प्रसादजी ने अपने नाटकों द्वारा अनेक ऐतिहासिक पात्रों के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालकर उनको प्रभावात्मक ढंग से चित्रित किया है। प्रसाद जी के चरित्रचित्रण की शैली का पूर्ण विकास 'चन्द्रगुप्त' में मिलता है। इस नाटक में 'चाणक्य' पात्र के व्यक्तित्व को इस ढंग से चित्रित किया है कि सारे नाटक का वह केन्द्रबिन्दु हो गया है।

---

१. जयशंकर प्रसाद : 'स्कन्दगुप्त', आठवाँ संस्क०, पृ० १४१

२. जयशंकर प्रसाद 'स्कंदगुप्त', आठवाँ संस्करण, पृ० १२७

इस नाटक में भारत की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति की छाया स्पष्ट दिखाई देती है। 'चन्द्रगुप्त' और 'चाणक्य' द्वारा जिस सृष्टि का निर्माण इस नाटक में किया है, उसका संकेत भारत की आधुनिक समस्याओं की ओर ही है। भारत की राष्ट्रीय चेतना का सुंदर दर्शन इसमें मिलता है। "अरुण यह मधुमय देश हमारा' यह गीत तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना में अपना साथ दे सकता है। भारत की स्वाधीनता पाने के लिए एकता की अत्यंत आवश्यकता है, इसका दृढ़ संकेत चाणक्य के मुख से इस प्रकार दिया है:—

**"चाणक्य—तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न? परन्तु आत्म-सम्मान इतने ही से संतुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्य्यावर्त्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।"**[१]

इस प्रकार अनेक संकेत ढूंढे जा सकते हैं जिनकी सहायता से तत्कालीन भारत की राजनीति का मार्गदर्शन किया जा सकता है।

नाटक की कथावस्तु का विभाजन चार अंकों में किया है। परन्तु पात्रों और दृश्यों की इतनी विविधता है कि रंगमंच पर नाटक का अभिनय करवाना कठिन है। कल्याणी, सुवासिनी, चंद्रगुप्त, चाणक्य आदि पात्रों की जो सृष्टि निर्माण की है वह उनके नाट्य-कला का विकास दिखाती है।

रंगमंच की दृष्टि से प्रसाद जी का 'ध्रुवस्वामिनी' (१९३३) एक महत्वपूर्ण नाटक है। यह ऐतिहासिक नाटक होते हुए भी इसमें तत्कालीन समस्याओं का चित्र बड़े कलात्मक ढंग से खींचा है। इसकी भाषा साहित्यिक होकर भी रंगमंच की दृष्टि से उपयुक्त है। इसमें केवल तीन अंक हैं और किसी भी अंक में दृश्यों को बिलकुल स्थान नहीं दिया है। नाट्य-विधान में इस प्रकार का परिवर्तन उनकी नाट्य-कला की नयी दिशा का संकेत करता है। अभी तक प्रसाद जी ऐतिहासिक कथानक के द्वारा सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय विचारों का प्रचार करना चाहते थे। लेकिन 'ध्रुवस्वामिनी' में उन्होंने मोक्ष (Divorce) और विधवा-विवाह की समस्या लेकर उस पर अपना निश्चित निर्णय दिया है। नाटक के नामकरण में ही स्त्री जाति की एक विशेष समस्या की ओर संकेत किया है। राष्ट्रीय चेतना के साथ कलाकार का हृदय सामाजिक सुधार के साथ कैसा तन्मय होता है इसका उदाहरण इस नाटक में मिलता है। इस नाटक में प्रसाद जी ने बोलचाल की भाषा का उपयोग किया है। अभी तक के नाटकों की भाषा में जो काव्यात्मक भाषा-सौन्दर्य मिलता है उसका दर्शन इसमें कम दिखाई देता है। प्रसाद जी की नाट्य-कला में विकास की दृष्टि से यह अत्यंत महत्व का परिवर्तन है। हिन्दी नाटकों के क्रमिक विकास में इस नाटक को महत्वपूर्ण स्थान है।

---

२. जयशंकर प्रसाद 'चंद्रगुप्त', पंचम संस्करण, पृ० ६

प्रसाद जी न अपने नाटकों में भारत की प्राचीन नाटच-परंपरा का भी पूरा ख्याल रखा है साथ ही उन्होंने अपने नाटकों में नान्दी, प्रस्तावना, भरतकाव्य आदि को नहीं रखा लेकिन गीत और नृत्य को अवश्य स्थान दिया है। भारतीय नाटकों के काव्य-त्मक वातावरण का आदर्श प्रसाद जी के नाटकों में मिलता है और हरएक पात्र कुछ ऐसी बातें करता है कि उनके कथोपकथन में छोटे-छोटे गद्यगीत मिलते हैं। अर्थात् इसमें प्रसाद जी की भावुकता का दर्शन मिलता है। प्रसाद जी के नाटकों में यथार्थवादी शैली का कम दर्शन मिलता है।

प्रसाद जी के नाटकों की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक घटनाओं में सीमित रहने के कारण उनकी नाटच-शैली किसी काल्पनिक वातावरण का चित्र खींचने में उपयुक्त नहीं ठहरी है। परन्तु 'कामना', 'एक घूँट' जैसी नाटच-रचनाओं में उनकी काल्पनिकता को स्थान मिला। प्रसाद जी के नाटकों की पृष्ठभूमि सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक हैं और इस पृष्ठभूमि के आधार पर उन्होंने अपने नाटकों का निर्माण विविध शैलियों के रूप में किया। वे अपने नाटकों द्वारा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंशों का दिग्दर्शन करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने वैदिक काल से ईसा की सातवीं शताब्दी तक का कालविभाग अपने नाटकों के लिए चुन लिया। प्रसाद जी ने इस कालविभाग की प्रमुख घटनाओं तथा व्यक्तियों के चित्रण अपने नाटकों में इस ढंग से किया कि तत्कालीन सांस्कृतिक, राष्ट्रीय, धार्मिक, सामाजिक आदि समस्याओं का विश्लेषण अपने आप हुआ।

प्रसादजी ने अपने नाटकों में बीच-बीच में प्रेम, विश्वप्रेम, राष्ट्रप्रेम, जाति-प्रेम, त्याग, बलिदान आदि की काव्यात्मक व्याख्या कर भारतीय संस्कृति का आदर्श लोगों के सामने रखा। उन्होंने अपने ऐतिहासिक अन्वेषणों के आधारों पर भारत की अतीत काल की घटनाओं का चित्रण ऐसे ढंग से खींचा है कि उनके सहारे भारत की वर्तमान समस्याओं का ठीक निर्णय देने में सहायता मिल सकती है। भारत की तत्कालीन समस्याओं पर निर्णय देते समय प्रसाद जी ने नाटकों में सर्वत्र काव्यात्मक वातावरण की सृष्टि की और इन समस्याओं से संबंधित पात्रों का चरित्र-चित्रण इस ढंग से किया कि हर एक पात्र एक महान् दार्शनिक के समान किसी न किसी बात की सुन्दर व्याख्या देता हुआ दिखाई देता है। प्रसाद जी के स्वतंत्र चिंतन का दर्शन इन पात्रों के विचारों में मिलता है।

रंगमंच की दृष्टि से प्रसाद जी के नाटक नहीं लिखे गए। उनके नाटकों के लिए एक नए रंगमंच की आवश्यकता है और उसका निर्माण अभी तक नहीं हो सका। पात्रों की संख्या और घटनाओं का बाहुल्य होने के कारण उपन्यास के चरित्र-चित्रण का आभास देते हैं। उनके नाटकों में सर्वत्र काव्यात्मक वातावरण मिलता है और नाटकीय गुणों की अपेक्षा साहित्यिक शैली का धारा-प्रवाह सर्वत्र मिलता है। उनके

नाटकों में अधिकतर पात्रों में कवि की भावुकता मिलती है। उन्होंने अपने नाटकों के लिए साहित्यिक भाषा का आदर्श उपस्थित किया गया। अर्थात् नाटक के लिए बोलचाल की भाषा का आदर्श ही अधिक उपयुक्त है। परन्तु नाट्य-परंपरा में भाषा का संतुलन ठीक रखने का कार्य इनके नाटकों की भाषा-शैली में मिलता है।

प्रसाद जी ने ऐतिहासिक नाटकों की जिस परंपरा को उपस्थित किया उसका विकास बाद में 'हरिकृष्ण प्रेमी' जैसे नाटककारों की कृतियों में मिलता है। इस प्रकार प्रसाद जी ने नाट्य-साहित्य के जिस आदर्श की स्थापना की थी उसका विकास उनके बाद के नाटककारों में कुछ परिवर्तन के साथ दिखाई पड़ता है। इस काल में ऐतिहासिक नाटकों की एक स्वतंत्र परंपरा मिलती है। इनमें बलदेव प्रसाद मिश्र 'मीराबाई' (१९१८), चन्द्रराज भंडारी कृत 'सम्राट् अशोक' (१९२३), प्रेमचंद कृत 'कर्बला' (१९२४), बद्रीनाथ भट्ट कृत 'दुर्गावती' (१९२६), जगन्नाथ प्रसाद कृत 'प्रताप प्रतिज्ञा' (१९२८), वियोगहरि कृत 'प्रबुद्ध-यामुन' (१९२९), उदयशंकर कृत 'चन्द्रगुप्तमौर्य' (१९३१) आदि ऐतिहासिक नाटक उल्लेखनीय हैं।

इस काल की यह एक विशेषता है कि इसमें समस्या-नाटकों का सूत्रपात हुआ। अभी तक प्रकाशित सामाजिक नाटकों में इस प्रकार के नाटकों का सूत्रपात नहीं मिलता है। इस प्रकार के नाटकों में सूत्रधार लक्ष्मीनारायण मिश्र हैं और उनके 'संन्यासी' (१९३१), 'राक्षस का मन्दिर' (१९३१), 'मुक्ति का रहस्य' (१९३२) आदि प्रारंभिक कृतियों का निर्माण सन् १९३० के बाद हुआ। इसी प्रकार इस काल-विभाग के अन्त में एकांकी नाटकों का भी निर्माण होने लगा। डा० रामकुमार वर्मा, उपेंद्रनाथ 'अश्क' की प्रारंभिक नाट्य-रचनाएँ इस काल में ही मिलती हैं।

प्रसाद जी के 'कामना' (१९२७) और सुमित्रानंदन पंत के 'ज्योत्स्ना' (१९३४) नाटकों से हिन्दी में प्रतीकात्मक नाटक लिखने का आरंभ हुआ। वास्तव में इस प्रकार की परंपरा संस्कृत-नाटकों में मिलती है। 'प्रबोध चंद्रोदय', 'उत्तर राम चरित' और हिन्दी में केशव के 'विज्ञान गीता' और 'देवमाया प्रपंच' इसी श्रेणी के नाटक हैं। इन प्रतीकात्मक नाटकों द्वारा हिन्दी के नाटकों में एक काव्यात्मक शैली का विकास मिलता है। 'कामना' और 'ज्योत्स्ना' में सन्तोष, विलास, विवेक, शान्तिदेव, छाया, जुगनू आदि पात्र मिलते हैं जिनमें मानवीय भावनाएँ मिलती हैं और हरएक पात्र में मनुष्य-जाति या युग की एक स्वतंत्र भावना का प्रतिनिधित्व मिलता है। प्रतीकात्मक नाटक में काव्यात्मक वातावरण तैयार किया जा सकता है और नाटककार अपने मन की सब बातें इन प्रतीकात्मक पात्रों द्वारा लोगों के सामने उपस्थित करता है।

अनूदित नाटकों की ओर देखा जाय तो बंगला से अधिक अनुवाद हुआ है और उनमें भी द्विजेन्द्रलाल, गिरीष घोष और रवींद्रनाथ की कृतियों का अनुवाद अधिक संख्या में हुआ है। वैसे तो संस्कृत, जर्मन, रूसी, मराठी आदि भाषाओं के नाटकों का

अनुवाद होता रहा है परन्तु अनूदित नाटकों में बंगला के नाटककार द्विजेंद्रलाल राय के नाटकों का प्रभाव हिन्दी नाटकों पर अधिक पड़ा है। बंगला के अनूदित नाटकों को छोड़कर जो कुछ अनूदित नाटक-साहित्य मिलता है उसका महत्व हिन्दी नाटक-साहित्य की समृद्धि से माना जा सकता है।

इस काल में प्रहसनों का निर्माण विकास की एक निराली गति का संकेत करता है। भारतेन्दु-काल के प्रहसन-लेखकों ने अपनी रचनाओं द्वारा तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि कुरीतियों तथा पाखंडों पर कठोर प्रहार कर सुधार की भावना की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। परन्तु इस काल के प्रहसनों में वह सुधार की भावना नहीं मिलती। इस काल के प्रहसनों में जीवन का मनोरंजक रूप हास्य तथा व्यंग के साथ चित्रित हुआ है।

इस काल में प्रहसनों की रचना करनेवालों में जी० पी० श्रीवास्तव, गोविंद-वल्लभ पंत, बद्रीनाथ भट्ट, बेचन शर्मा 'उग्र', सुदर्शन आदि मुख्य हैं। इनमें जी० पी० श्रीवास्तव एक प्रमुख लेखक माने जाते हैं। उन्होंने 'उलट-फेर' (१९१८), 'दुमदार आदमी' (१९१९), 'गड़बड़झाला' (१९१९), 'मरदानी औरत' (१९२०), 'भूलचूक' (१९२०) आदि मौलिक प्रहसन लिखकर हिन्दी के हास्य-नाटकों को समृद्ध किया। उन्होंने फ्रांसीसी हास्यलेखक मोलियर के कई नाटकों का अनुवाद 'मार मार कर हकीम', 'आंखों में धूल', 'साहब बहादुर' आदि नामों से किया।

श्रीवास्तव के प्रहसनों में शिष्ट तथा स्वाभाविक हास्य कम मिलता है। उनकी रचनाओं में हास्यों का निर्माण घटना द्वारा हुआ है और उसमें जीवन के गांभीर्य के प्रति संकेत नहीं मिलता। इसलिए उनके प्रहसनों में हलके हास्य की सृष्टि निर्माण हुई। उनके हास्यों में चारित्र्यिक विशेषताओं को स्थान नहीं है। इसलिये उनके व्यंग्य का प्रभाव मन पर बहुत काल तक नहीं टिक सकता। पाठकों का मनोरंजन करने की दृष्टि से उनके प्रहसन अत्यंत महत्व के हैं। श्रीवास्तव और भट्ट के प्रहसन अपनी अलग-अलग विशेषताएँ रखते हैं। भट्टजी के प्रहसनों में हास्य काफी परिष्कृत है और व्यंग्य में स्वाभाविकता है। भट्ट जी के 'चुंगी की उम्मीदवारी' (१९१२), 'लबड़ धोंधों' (१९२६), 'विवाह विज्ञापन' (१९२७) और 'मिस अमेरिकन' (१९२९) महत्व के प्रहसन हैं। सुदर्शन का 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' (१९२९) एक सफल प्रहसन है। इसमें सुदर्शन की हास्यपटुता का दर्शन मिलता है और उसका अभिनय भी सफलता से किया जा सकता है। इस प्रकार राधेश्याम का 'कौंसिल की मेम्बरी' (१९२०), हरशंकर प्रसाद उपाध्याय का 'कौंसिल के उम्मेदवार' (१९२१), बेचन शर्मा का 'चार बेचारे' (१९२९) आदि अनेक महत्व के प्रहसन मिलते हैं। इन सब प्रहसनों द्वारा तत्कालीन सामाजिक जीवन पर प्रकाश डाला गया है।

इस काल के नाटकों में साहित्यिक नाटकों का विकास प्रचुर मात्रा में हुआ। इन साहित्यिक नाटकों में जनरुचि को कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार के नाटक आदर्शवादी होते हैं और उनका निर्माण किसी एक महान् उद्देश्य की स्थापना करने के लिये किया जाता है। अतः इन नाटकों में कवित्वपूर्ण वातावरण, गंभीर तथा साहित्यिक भाषा शैली और आदर्शवादी चरित्र-चित्रण मिलता है। इनमें नाटककार की स्वतंत्र प्रतिभा को मौका मिलता है, क्योंकि उसके लिये रंगमंच की सुविधाओं का बंधन नाटक के निर्माण में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं डाल सकता।

इस काल के नाटकों में नाटकीय विधान में एक प्रकार की नवीनता दिखाई पड़ती है। अंग्रेजी और बंगला के अनूदित नाटकों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इसलिये अंकों की संख्या, दृश्य परिवर्तन, चरित्र-चित्रण आदि में परिवर्तन के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। इस काल के नाटकों में अंकों की संख्या तीन से पांच तक मिलती है और हरएक नाटक में कथा का विकास अंग्रेजी ढंग के नाटकों के अनुसार होता हुआ दिखाई पड़ता है। कथा का विकास तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से संभाषण को महत्व का स्थान है परन्तु रंगमंचीय नाटकों में भाषा का प्रचलित रूप मिलता है। प्रसाद जी के नाटकों में साहित्यिक गुण अधिक मिलते हैं। इसलिये उनके पात्रों की भाषा में काव्यात्मकता अधिक दिखाई पड़ती है। साहित्यिक भाषा का प्रयोग इस काल के नाटकों में अधिक दिखाई पड़ता है। स्वगत भाषण की परंपरा इस काल के नाटकों में दिखाई देती है। नाटक में संभाषण के महत्व का ज्ञान धीरे-धीरे नाटककारों को होने लगा और अपने नाटकों में चरित्र-चित्रण और कथानक के विकास के अनुसार संभाषण प्रयोग करने लगे। इस काल के नाटकों के संभाषण के बीच-बीच में छंदों के प्रयोग या गद्यगीत जैसे वाक्य समूह मिलते हैं। नाटक का कोई पात्र जब कभी भावावेश में आकर बोलने लगता है तब उसके संभाषण में छन्द या गद्यगीत के दर्शन होते हैं। आधुनिक नाटकीय विधानों का परिचय डा० श्रीकृष्ण लाल ने इस प्रकार दिया है :—

**"आधुनिक नाटकीय विधानों पर एक दृष्टि डालने से पता चलता है कि हिन्दी नाटककारों ने पाश्चात्य नाट्य-कला का यथार्थवाद और रंगमंच की सुविधाएँ तो अवश्य ले लीं, परन्तु नाटकों का कवित्वमय वातावरण नहीं जाने दिया। पाश्चात्य प्रभाव से हमने प्रस्तावना का अंत कर दिया। नाटक में कथानक-वैचित्र्य और कथानक-सौन्दर्य की प्राण-प्रतिष्ठा की, उसे अंकों और दृश्यों में विभाजित कर विविध दृश्य दृश्यांतरों की अवतारणा की, परन्तु हमने नाटकों में से कवित्व नहीं जाने दिया, वरन् गानों के प्रयोग तथा गद्य-गीतों के उपयोग से कवित्व को अक्षुण्ण रखा........हमने रंगमंच की आवश्यकताओं के कारण तथा कथानक-वैचित्र्य और सौन्दर्य की रक्षा के लिए अपने नाटकीय विधानों में अनेक परिवर्तन**

**किए, परन्तु जहाँ तक कविता, आदर्शवाद और काव्यन्याय (Poetic Justice) का संबंध है, इन्होंने सदा संस्कृत नाटकों का आदर्श ग्रहण किया।"[१]**

भारत की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि समस्याओं का प्रभाव इस काल के सब नाटकों में दिखाई देता है। इसलिए हरएक नाटक में किसी न किसी रूप में सामाजिक सुधार, हिन्दी-मुसलिम ऐक्य, प्रेम और कर्त्तव्य का संघर्ष, भारत की सांस्कृतिक परंपरा, भारतीय नारी का समाज में स्थान, कला का आदर्श आदि पर प्रकाश डाला गया है। इब्सन के प्रभाव के कारण नाटकों में बौद्धिकता का दर्शन भी मिलने लगा। और समस्या नाटकों का सूत्रपात इसी काल में हुआ। इस दृष्टि से लक्ष्मीनारायण मिश्र जी के प्रारंभिक नाटक महत्व के हैं। इस काल के अधिकतर नाटक आदर्शवादी होने के कारण भावुकता की छाया सर्वत्र दिखाई देती है। इसलिए नाटक में काव्यात्मक वातावरण निर्माण होने में सहायता मिलती है। हरएक नाटक में किसी न किसी रूप में आधुनिक नारी की समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है और पात्रों में मानसिक संघर्ष का चित्र खींचा गया है। रेडियो के प्रचार के कारण नाटककारों की प्रवृत्ति एकांकी नाटक लिखने की ओर आकर्षित होती रही। भाषा और भाव की दृष्टि से प्रसाद के नाटक इस काल की विशेष देन हैं, इसलिए नाटक-साहित्य के इस काल-विभाग को 'प्रसाद-काल' नाम से संबोधित किया जा सकता है।

**विस्तार-काल** (सन् १९३४ से सन् १९५० ई० तक)

सन् १९३४ के बाद से नाटक-साहित्य में एक नए युग का आरंभ होता है। प्रसाद-कालीन नाटककारों ने अपनी नाट्य-रचनाओं द्वारा भारत की राजनीतिक, सामाजिक आदि समस्याओं पर प्रकाश डाला। प्रसाद जी की मृत्यु के बाद नाट्य-शैलियों के स्वतंत्र रूप दिखाई पड़ते हैं और हरएक रूप का विकास तत्कालीन परि-स्थितियों के अनुसार बदलता रहा है।

पहले महायुद्ध के बाद पाश्चात्य साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों का प्रवेश हो रहा था और उनका प्रभाव भारतीय साहित्य पर पड़ रहा था। वैज्ञानिक अनुसंधानों के कारण चित्रपटों और रेडियो का प्रचार सर्वत्र हो रहा था जिससे नाटक के विकास पर एक आघात हुआ और नाट्य-शैली में परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। धीरे-धीरे चित्रपटों और रेडियो की कला का अनुकरण नाटकों में भी होने लगा और नाटक-साहित्य एक नयी दिशा में प्रगति करता रहा।

अंग्रेजी-शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार के कारण भारतीय जीवन में एक प्रकार की नवीनता आयी थी और समाज का ढांचा बदल रहा था। हर एक व्यक्ति का जीवन किसी न किसी समस्या से संघर्ष करता हुआ दिखाई पड़ने लगा और

---

**१. डा० श्रीकृष्णलाल : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास,' तृतीय सं० १९५२ पृष्ठ २३५-३६।**

उसका असर समाज पर पड़ने लगा। अतः नाटककार समाज की जटिल समस्याओं पर विचार करने लगे और अपने नाटकों में तत्कालीन परिस्थितियों की पृष्ठभूमि पर समाज की समस्याओं का चित्र खींचने लगे।

अभी तक नाटककार अपनी कृतियों का निर्माण करते समय किसी विशेष आदर्श को सामने रखते थे। उनकी कृतियों में तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होते रहे। वे सामूहिक जीवन की अपेक्षा व्यक्तिगत जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करते थे। इस तरह आधुनिक नाटकों में व्यक्तिगत जीवन के चित्रण को अधिक महत्व मिला और छात्रों के चरित्र-चित्रण में सूक्ष्मता का प्रवेश होने लगा। आस्कर वाइल्ड, एच्-जी० वेल्स, जान गाल्सवर्दी, इब्सन आदि लेखकों की रचनाओं के प्रचार के कारण साहित्य के निर्माण में एक नयी गति मिली और उसका प्रभाव हिन्दी नाटकों पर दिखाई देने लगा। इब्सन के नाटकों के कारण हिन्दी नाटकों में बौद्धिकता का प्रवेश हुआ। इस काल में पौराणिक, ऐतिहासिक, एकांकी, समस्या-नाटक, रेडियो-नाटक आदि प्रकार के नाटकों की रचना हुई। हमें उनका अलग-अलग अध्ययन करना है।

**पौराणिक नाटक**

इस काल-विभाग में पौराणिक नाटकों की संख्या कम मिलती है। इन पौराणिक नाटकों की कथा-वस्तु का आधार पुराण से संबंधित प्रसिद्ध कथाओं से रहता है। अतः इनमें अनादि काल से चले आए व्यक्ति और समाज के स्थूल नैतिक प्रश्नों की चर्चा रहती है और साथ ही चरित्र-चित्रण तथा विविध-प्रसंगों द्वारा किसी नैतिक आदर्श की विजय दिखाई जाती है। इस प्रकार किसी नैतिक आदर्श की स्थापना कर प्राचीन गौरव की महत्ता का प्रचार करना इन नाटकों का ध्येय रहा। इन नाटकों में कई प्रसंग ऐसे भी मिल सकते हैं जो अप्रत्यक्ष रूप से आधुनिक काल की किसी समस्या या घटना पर प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार के नाटकों के निर्माण में नाटककारों की मौलिकता को कम अवसर मिलता है।

पौराणिक नाटकों में सांस्कृतिक वातावरण की स्थापना करनी पड़ती है औरप्रत्यक्ष रूप से संस्कृत नाट्य-परंपरा का प्रभाव रहता है। हिन्दी-साहित्य में राम-साहित्य और कृष्ण-साहित्य को महत्वपूर्ण स्थान मिलने के कारण उनका प्रभाव हिन्दी-नाट्य-साहित्य पर भी पड़ा है। महाभारत तथा रामायण की अनेक उपकथाओं के आधार पर हिन्दी में पौराणिक नाटक लिखे गए। इन पुराणों में जो महान् चरित्र मिलते हैं उनको लेकर ही अधिकतर नाटकों की रचना हुई है। भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग के नाटकों में पौराणिक आदर्श की स्थापना की जाती थी परन्तु इस काल के पौराणिक नाटकों में जीवन के सामाजिक प्रश्नों का चित्रण होता रहा और उनमें सामाजिक समस्याओं पर भी विचार होने लगा। 'प्रसाद' के बाद भी पौराणिक नाटकों की परंपरा चलती रही। इस काल में पौराणिक नाटकों के प्रधान लेखक उदय शंकर भट्ट हैं।

उदयशंकर भट्ट की प्रारंभिक रचनाओं में 'अंबा' (१९३५), 'सगर विजय' (१९३७), 'मत्स्यगंधा' (१९३७), और 'विश्वामित्र' (१९३८) ये चार नाटक पौराणिक हैं। इनमें 'अंबा' और 'सगर-विजय' अत्यंत महत्व के हैं। 'अंबा' में आधुनिक नारी की समस्या पर प्रकाश डालने का प्रयत्न हुआ है। नारी को जो स्थान समाज में मिलता है और जिसके कारण नारी को तुच्छता की दृष्टि से देखा जाता है उसका चित्रण महाभारत काल की स्थिति का विवरण देकर किया है। स्त्री को अनादिकाल से जो स्थान समाज में मिलता गया है उसमें कहीं परिवर्तन नहीं दिखाई देता। अर्थात् आधुनिक सभ्यता के युग में भी स्त्रियों का स्थान समाज में ऊँचा नहीं हुआ है। इस प्रकार इसमें नारी जागरण की आधुनिक समस्या का विवेचन मिलता है। 'सगर-विजय' में आधुनिक राष्ट्रीय भावना का चित्रण नवयुग के सामाजिक संघर्षों के रूप में दिखाया है। इसमें सगर राजा अपनी माता की सेवा में तल्लीन होने का संकल्प करता है, उसमें अप्रत्यक्ष रूप में भारत माता की सेवा करने का आदेश भारतवासियों को दिया जाता है। इन नाटकों द्वारा तत्कालीन समस्याओं का संकेत मिलता है।

सेठ गोविंददास ने राम, कृष्ण और कर्ण इन तीन पौराणिक पात्रों को लेकर क्रमशः 'कर्तव्य' (१९३५, पूर्वार्ध), 'कर्तव्य' (१९३५, उत्तरार्ध) और 'कर्ण' (१९४६) नाटकों की रचना की है। परन्तु इन नाटकों के चरित्र-चित्रण इस बात का स्पष्ट संकेत करते हैं कि ये साधारण मानव हैं और राम और कृष्ण अवतारी पुरुष होकर भी साधारण मानव के समान अपने कर्तव्य-पालन में दक्ष रहते हैं। यह बात कर्ण के निर्माण में भी मिलती है। उग्र जी के 'गंगा का बेटा' (१९४०) नाटक में भीष्म की कथा विस्तार से संयोजित है। इस प्रकार विश्वंभर सहाय व्याकुल का 'बुद्धदेव' (१९४०), लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'नारद की वीणा' (१९४६) आदि पौराणिक नाटक उल्लेखनीय हैं। पौराणिक नाटकों के राम कथा संबंधित तथा कृष्ण कथा संबंधित ऐसे दो विभाग किए जा सकते हैं और उन पर स्वतंत्र रूप से विचार किया जा सकता है।

पौराणिक नाटकों में संस्कृत नाटक की परंपरा को पालन करने की प्रवृत्ति नाटककारों में मिलती है और उनकी कथावस्तु का विस्तार एक प्रबंध-काव्य सा हो जाता है। रंगमंच से पौराणिक नाटक शिक्षित समाज का मनोरंजन नहीं कर सकते। इसलिए आधुनिक युग में पौराणिक नाटकों की अपेक्षा ऐतिहासिक नाटकों की परंपरा मिलती है। ऐतिहासिक नाटकों में पौराणिक नाटकों की अपेक्षा अधिक सजीवता तथा जीवन का यथार्थ अधिक अंश में मिलता है।

### ऐतिहासिक नाटक

ऐतिहासिक नाटकों की परंपरा का सूत्रपात भारतेन्दु युग में हुआ था और उसका ठीक विकास प्रसाद के नाटकों में मिलता है। प्रसाद के बाद यह परंपरा हरि-

कृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट आदि के नाटकों में मिलती है। परन्तु इस काल-विभाग में जो ऐतिहासिक नाटक मिलते हैं उनकी दिशा में परिवर्तन दिखाई पड़ता है।

यह काल-विभाग देश के राष्ट्रीय जीवन में अत्यंत महत्वपूर्ण था। इसलिए इस काल की नाट्य-रचनाओं में देशभक्ति और राष्ट्रीय भावना का स्वर सुनाई देता है। अभी तक के ऐतिहासिक नाटकों में देश की समस्याओं की ओर संकेत किया जाता था, और नाटकों में भारत के ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक वातावरण का चित्र रहता था। अतीत के चित्रण द्वारा भारतीय सभ्यता, संस्कृति आदि का प्रचार करने में नाटककार व्यस्त थे, परन्तु अब यह बात नहीं रही है। आधुनिक भारत की एकता, हिन्दू-मुसलिम ऐक्य आदि भारत की जो समस्याएँ थीं उनको सुलझाने की चेष्टा इन नाटककारों ने की।

हिन्दी के ऐतिहासिक नाटककारों ने राष्ट्र की समस्याओं को प्राधान्य दिया है। राष्ट्र के लिए प्रादेशिक एकता तथा देश की स्वाधीनता कितनी आवश्यक है, इसका संकेत भारत स्वतंत्र होने के बाद के नाटकों में मिलता है। हरिकृष्ण 'प्रेमी' के 'उद्धार' (१९४९) नाटक में सुजान नाम के पात्र के मुख से तत्कालीन राजनीतिक समस्या की ओर इस प्रकार संकेत मिलता है :—

**"सुजान—मेरा स्वप्न है जातियों की सीमाओं को तोड़कर मानवता का निर्माण, प्रान्तीयता की दीवारों को गिराकर राष्ट्रीयता की स्थापना। आज मेवाड़ स्वतंत्र हो गया है किन्तु उसे याद रखना चाहिए कि वह सम्पूर्ण भारत का अंश है और जब तक भारत के एक भी कोन पर विदेशियों का अस्तित्व है उसकी स्वाधीनता अधूरी रहेगी।"**[1]

इससे स्पष्ट पता लगता है कि इस काल के ऐतिहासिक नाटककार भारत के स्वतंत्र होने पर भी आश्वस्त नहीं बैठे हैं। उनकी नाट्य-कृतियाँ अब मानवता का चित्र प्रस्तुत कर के भारतीय राष्ट्र का अस्तित्व सुदृढ़ करना चाहती हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक नाटकों में राष्ट्रीय एकता का स्वर सर्वत्र मिल सकता है।

इस काल के ऐतिहासिक नाटकों में हरिकृष्ण 'प्रेमी' के नाटकों को एक महत्वपूर्ण स्थान मिला है। 'प्रेमी' ने अपनी नाट्य-रचनाओं के लिए मुसलमानकालीन भारत का चित्र पृष्ठभूमि के रूप में लिया और अपने नाटकों में भारत के तत्कालीन राष्ट्रीय आदर्श का चित्रण सर्वत्र रखा है। इस चित्रण में भारत की वीरता, धैर्य, सहनशीलता आदि का चित्र खींच कर व्यापक राष्ट्रीय एकता का प्रचार किया गया है।

इस काल में हिन्दू-मुसलिम एकता का प्रश्न बहुत महत्व रखता है। भारत की स्वाधीनता के लिए इस प्रकार के ऐक्य की अत्यन्त आवश्यकता है। मुस्लिम

---

१. हरिकृष्ण 'प्रेमी'—'उद्धार' (१९४९), पृ० १२८

शासन-व्यवस्था का विरोध राजपूत, मरहठा आदि जातियों ने किया। 'प्रेमी' ने इस पुराने झगड़ों को राष्ट्रीय ऐक्य का रूप देने का प्रयत्न किया। उनके 'रक्षाबंधन' (१९३७) नाटक में हिन्दू और मुसलमान पात्रों द्वारा "हम सब हिन्दुस्तानी हैं" की घोषणा की है। इस नाटक में 'विक्रम और हुमायूँ" में इस प्रकार का वार्तालाप मिलता है—

"विक्रम—हिन्दू और मुसलमान, ये दोनों ही नाम धोखा हैं, हमें अलग करने वाली दीवारें हैं। हम सब हिंदुस्तानी हैं।

हुमायूँ—हिंदुस्तानी ही नहीं, इंसान हैं। हमें अब दुनियाँ की हर किस्म की तंगदिली के खिलाफ जिहाद करना चाहिए। हमारा काम भाई के गले पर छुरी चलाना नहीं, भाई को गले लगाना है। दुनियाँ के हर इनसान को अपने दिल के मुहब्बत के दरिया में डुबा लेना है। बहन कर्मवती ने इस दरिया के दो बड़े हिस्सों, हिन्दू और मुसलमानों को जिस मुहब्बत के धागे से बाँध दिया है वह कभी न टूटे, मैं खुदा से यही चाहता हूँ।"[१]

इस वार्तालाप में गांधीजी की 'हिन्दू-मुसलिम' एकता का स्वप्न स्पष्ट दिखाई देता है। महात्माजी की आर्त-वाणी इस वार्तालाप के हर एक शब्द में दिखाई पड़ती है। 'प्रेमी' जी ने दो मुसलमान पात्रों के वार्तालाप में भी इस प्रकार की एकता की घोषणा की है। उनके 'शिवसाधना' नाटक में औरंगजेब और दिलेर खाँ में जो वार्तालाप रखा गया है, उसके द्वारा मुसलमानों को 'हिन्दू-मुसलिम एकता' की आवश्यकता का इशारा किया गया है। इस नाटक का दिलेर खां पात्र औरंगजेब से कहता है:—

"दिलेर खाँ—आप खुद देख सकते हैं, अगर आप यकीन करना सीखें। मेरी बात मानिये जहाँपनाह! हिन्दुओं और मुसलमानों का, अपनों और गैरों का, यकीन करना सीखिए। तलवार को फेंक कर मुहब्बत की सल्तनत कायम कीजिए। हम मुट्ठी भर मुसलमान करोड़ों हिन्दुओं पर तलवार के जोर से ज्यादा दिन तक हुकूमत नहीं कर सकते। उन्हें तो मुहब्बत ही से जीता जा सकता है। वे दरियादिल हैं, वे खुद भूखे रहकर परदेशियों के लिए थाली परोसे खड़े रहते हैं। ऐसी कौम के अहसान को मत भूलो औरंगजेब! उनके भाई बनो बादशाह नहीं।"[२]

इस वार्तालाप में हिन्दू-मुसलिम एकता की ओर संकेत मिलता है, परन्तु नाटककार ने भारत पर उस समय शासन करने वाले अंग्रजों को एक मीठा इशारा किया है।

---

१. हरिकृष्ण 'प्रेमी' : 'रक्षाबंधन' १९५४, पृ० ११०-१११

२. हरिकृष्ण 'प्रेमी' 'शिवसाधना, पं० संस्करण, सन् १९५५, पृ० ११५

'प्रेमी' जी ने 'शिवसाधना' की रचना एक महान् उद्देश्य सामने रखकर की है। उन्होंने इसमें 'शिवाजी' पात्र का चरित्र-चित्रण इस ढंग से किया है कि वे महाराष्ट्र में ही नहीं सम्पूर्ण भारतवर्ष में जनता का स्वराज्य स्थापित करना चाहते हैं। इस नाटक में ऐतिहासिक घटनाओं का क्रम व्यवस्थित रखकर आधुनिक राजनैतिक समस्या की ओर जो संदेश है वह अत्यन्त महत्व का है। इस प्रकार प्रेमी के 'प्रतिशोध' (१९३७) 'स्वप्नभंग' (१९४०) आदि नाटकों पर प्रकाश डाला जा सकता है।

भारत के धार्मिक संघर्षण का चित्रण उदयशंकर भट्ट के 'विक्रमादित्य' (१९३३) 'दाहर' अथवा 'सिन्धपतन' (१९३४), 'मुक्ति पथ' (१९४४), 'शकविजय' (१९४९), आदि ऐतिहासिक नाटकों में मिलता है। ब्राह्मणों, बौद्धों और जैनों में धार्मिक बातों पर जो कुछ झगड़ा होता रहा था उसका चित्रण इस नाटक में मिलता है। धार्मिक कट्टरता तथा मजहबी पागलपन का चित्र खींचकर तत्कालीन समाज के खोखलेपन, पाखण्ड, आडम्बर, दुरभिमान आदि पर प्रकाश डाला है। भट्टजी ने अपने नाटकों द्वारा धार्मिक कट्टरता पर भयंकर आघात किए हैं। भारत के राष्ट्रीय जीवन में इस प्रकार के प्रचार की बहुत आवश्यकता थी। रंगमंच की दृष्टि से या नाट्य-शैली की दृष्टि से उदयशंकर भट्ट के ऐतिहासिक नाटक असफल ही रहे हैं। पात्रों के मुख से संवादों की जो योजना हुई है उसमें नाटककार ने भाषा या संवाद की लम्बाई पर ध्यान ही नहीं दिया है। विक्रमादित्य नाटक के पंचम अंक के प्रथम दृश्य में एक ही पात्र आकर एक बड़ा भाषण सुनाकर चला जाता है। पात्र के द्वारा जिस भाषा का प्रयोग किया है वह नाटक के लिए बिलकुल निरोपयोगी है। इसी अंक का पात्र इस प्रकार बोल रहा है:

**"देवज्ञ––कलह रूप कलि के सन्निपात से जिस प्रकार द्वापर का अन्त हुआ, उसी प्रकार क्रान्ति-कालिक विक्रम रूप सूर्य पर सोमेश्वर रूप चंद्र की दृष्टि-संयोग से उत्पन्न प्रवाह उल्का रूपी कूटनीति की प्रज्वलित अग्नि से महापातक उत्पन्न करेगा। इस महापाप-ग्रह भोग से शत्रुनाश होगा किन्तु विक्रम पर भी उसका प्रभाव होगा।"**[१]

भाषा की दृष्टि से इसमें कमी दिखाई पड़ती है, परन्तु इनकी प्राथमिक रचनाओं में इस प्रकार की कमियां मिल सकती हैं।

गोविन्द वल्लभ पंत के 'राजमुकुट' (१९३५) और 'अन्तःपुर का छिद्र' ऐसे दो ऐतिहासिक नाटक मिलते हैं। हर एक नाटक में तीन अंक हैं परन्तु 'राजमुकुट' चरित्र विकास की दृष्टि से कमजोर है। अभिनय की दृष्टि से दोनों नाटक सफल हैं। ऐतिहासिक उपन्यास की परम्परा लेकर ऐतिहासिक नाटक लिखने वाले वृन्दावन

---

१. उदयशंकर भट्ट 'विक्रमादित्य', प्रथम संस्करण, पृ० ७३

लाल वर्मा ने 'फूलों की बोली' (१९४७), 'झाँसी की रानी' (१९४८), 'पूर्व की ओर' (१९५०), 'बीरबल' (१९५०) आदि नाटक लिखे। आधुनिक ऐतिहासिक नाटक की परम्परा इनके नाटकों में मिलती है। सेठ गोविन्द दास के भी 'कुलीनता' (१९४०), 'हर्ष' (१९३५), 'शशिगुप्त' (१९४५) आदि ऐतिहासिक नाटक मिलते हैं। अभिनय की दृष्टि से ये नाटक अच्छे हैं। इस प्रकार चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का 'अशोक', उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'जय पराजय' (१९३७), लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'अशोक' (१९३७) आदि ऐतिहासिक नाटक महत्व के हैं।

इस काल के ऐतिहासिक नाटकों पर विचार करते समय बहुत नयी बातें दिखाई पड़ती हैं। प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा को आगे बढ़ाया परन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' को छोड़ कर उनके सब नाटक रंगमंच की दृष्टि से असफल ही रहे हैं। प्रसाद के बाद रंगमंच की दृष्टि से ऐतिहासिक नाटक लिखने की परम्परा मिलती है। वास्तव में इस काल में जनता की रुचि सिनेमा की ओर आकर्षित हुई तथा चित्रपटों की कथाएँ भी ऐतिहासिक रही हैं। इसलिए अभिनय, वेषभूषा आदि की दृष्टि से ऐतिहासिक नाटकों पर सिनेमा की कथाओं का प्रभाव पड़ा है। हिन्दी के अधिकतर ऐतिहासिक नाटककारों ने रंगमंच की दृष्टि से अपने नाटकों का निर्माण किया। इसलिए नाटकों के अंकों की संख्या, भाषा का स्वरूप आदि के बारे में अधिक ख्याल रखा गया। इस काल के ऐतिहासिक नाटकों में आधुनिकता का चित्रण जिस ढंग से किया है वैसा भारतेन्दु-युग या द्विवेदी-युग के ऐतिहासिक नाटकों में नहीं मिलता।

**समस्या-नाटक**

आधुनिक नाटक-साहित्य में समस्या-नाटकों को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। भारतेन्दु-युग से नाटक-साहित्य की जो परम्परा मिलती है उसका सुन्दर परिपाक आजकल के सामाजिक नाटकों तथा समस्या-नाटकों में मिलता है। किसी भी नाटक का विषय समाज से संबंधित व्यक्तियों से होता है। परन्तु विषय की ओर देखने का दृष्टिकोण निराला होने के कारण नाटक-साहित्य के निर्माण में विविधता दिखाई पड़ती है। इसलिए नाटकों में ऐतिहासिक, पौराणिक, धार्मिक आदि विविध श्रेणियाँ मिलती हैं। युग की गति के अनुसार हरएक श्रेणी के नाटकों का आरम्भ और विकास होता रहा है।

आज का युग प्रगतिवादी माना जाता है। पाश्चात्य-साहित्य के संपर्क के कारण नए-नए विचार हमारे समाज में प्रवेश कर चुके हैं। हम कुछ विचारों को आत्मसात कर सके हैं लेकिन कुछ ऐसे विचार मिलते हैं कि जिनकी प्रतिक्रिया में समाज और व्यक्ति के सामने नयी-नयी समस्याएँ और उलझनें पैदा होती रही हैं। जो बात साहित्य द्वारा मिलती है उसका उत्तर भी नयी साहित्य-रचना द्वारा दिया जाने लगा।

यूरोप में इब्सेन ने जिस नाट्य-परम्परा का निर्माण किया, उसका परिणाम सर्वत्र दिखाई देता है। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा नारी-आन्दोलन का प्रश्न सामने रखा। 'स्त्री का कोई अपना स्वतंत्र अस्तित्व है' तथा 'नारी-सुधार की आवश्यकता है' जैसे प्रश्न सामने रखकर उन्होंने अपनी रचनाएँ लोगों के सामने उपस्थित कीं।

इब्सेन ने एक महान् आदर्श उपस्थित करके अपनी लेखनी उठाई और मनुष्य-मात्र की मुक्ति तथा पापी के प्रति भी सहानुभूति का संदेश दिया। इब्सेन ने अपने नाटकों में कला और जीवन के बीच की खाई पर भावों का पुल बांधकर दोनों में एकता करने का प्रयत्न किया। उन्होंने साहित्य द्वारा कला का कोई प्रतिरूप खड़ा नहीं किया बल्कि उसमें जीवन के प्रति गहरी सहानुभूति दिखाई। उन्होंने अपने नाटकों द्वारा सारे जीवन को प्रकाशित करने का प्रयत्न किया।

हिन्दी नाटकों के विकास में इब्सेन ने पर्याप्त योगदान दिया है। उन्होंने जिस प्रकार अपने नाटकों द्वारा जीवन की वास्तविक समस्याओं पर प्रकाश डालकर योरोपीय समाज की निद्रा भंग की, उसी प्रकार हिन्दी के नाटककारों ने उनसे प्रभावित होकर आधुनिक समाज की दिन-प्रति-दिन की समस्याओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया। मूल प्रेरणा के रूप में इब्सेन की कृतियां कार्य करती हैं, परन्तु अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध नाटककार बर्नाड शा के नाटकों के कारण पाश्चात्य समाज की समस्याओं से परिचय प्राप्त होने में सहायता मिली है।

प्रायः समस्याओं का रूप बदलता रहता है। व्यक्ति या समाज के सामने जब कोई ऐसी जटिल परिस्थिति आती है जिसके कारण उसकी आवश्यकता या इच्छा की पूर्ति के लिए बाधा खड़ी होती है या खड़ी होने की संभावना रहती है, तब यह जटिल स्थिति या परिस्थिति उसके लिए समस्या बन जाती है। इन उपस्थित बाधाओं को दूर करना ही समस्या का समाधान होना है। इस स्थिति का दूसरा रूप यह भी हो सकता है कि आवश्यकता और उसकी सिद्धि के लिए प्रेरित करने वाली शक्ति का नाम समस्या है। जब उस साधन से सिद्धि प्राप्त होती है तब कहा जाता है कि समस्या का समाधान हुआ। इसी प्रकार हम एक सिद्धि के लिए अनेक साधनों को देखकर किसी एक ही को ग्रहण करते समय जिस उलझन का सामना हमें करना पड़ता है उसे भी समस्या कह सकते हैं।

समस्या साधारण रूप में दो रूपों में हमारे सामने आती है—एक वैयक्तिक समस्या और दूसरी सामाजिक समस्या। सामाजिक समस्या से संबंधित राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि समस्याएँ हो सकती हैं। समस्या किसी भी प्रकार की क्यों न हो उसका प्रभाव व्यक्ति तथा समाज पर पड़ता है। मनुष्य अपनी बुद्धि तथा शक्ति

के अनुसार इन समस्याओं को सुलझाना चाहता है और इसमें ही उसकी सफलता का रहस्य समस्या के रूप में दिखाई पड़ता है।

मनुष्य किसी न किसी प्रकार अपनी समस्याओं से सामना करके एक निश्चित गति से जीवन में समाधान पाने का प्रयत्न करता है। परन्तु कभी-कभी प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच में एक ही समस्या का निर्माण होता है उस समय मनुष्य के पास समस्या की पूर्ति के लिए निश्चित साधन नहीं मिलते। अर्थात् उसके मन में मानसिक संघर्ष चलता रहता है और उसका मन दो विरोधी दिशाओं में विचार करने लगता है। इस प्रकार मनुष्य में अन्तर्द्वन्द्व का निर्माण होता है। उत्तम नाटक वही है जिसमें दो परस्पर विरोधी भावनाओं का संघर्ष बड़े कलात्मक ढंग से दिखाया गया हो। मानव जीवन की अभिव्यक्ति नाटक में होने के कारण साधारण से साधारण नाटक में किसी न किसी प्रकार की समस्या रहती ही है। 'उत्तर रामचरित' 'हेमलेट', 'स्कन्दगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी', 'सिन्दूर की होली' आदि नाटकों में किसी न किनी समस्या का विश्लेषण मिलता ही रहता है। 'सिन्दूर की होली' में भारतीय स्त्री की समस्या पर चन्द्रकला पात्र द्वारा इस प्रकार संकेत किया है—

**"चन्द्रकला—पुरुष की चार हाथ की सेज में ही हमारा संसार सीमित है। पुरुष ने स्त्री की कमजोरी को उसका गुण बना दिया वह उसी प्रशंसा में सदैव के लिए आत्म-समर्पण कर बैठी। दूसरों की रक्षा में हम अपनी रक्षा नहीं कर सकीं। शरीर और मन की इसी कमजोरी के कारण हम संसार के उन्मुक्त वातावरण से खींचकर दीवालों के घेरे में डाल दी गईं।"**[१]

इस प्रकार नाटककार ने चंद्रकला के द्वारा नारी की समस्या का प्रश्न उपस्थित किया। प्रायः समस्या नाटकों में 'नारी-समस्या' या 'सेक्स-समस्या' पर विचार किया जाता है और हर एक सामाजिक नाटक में इस प्रकार की समस्या मिलती रहती है। परन्तु जितने समस्या नाटक दीख पड़ते हैं उनमें नारी-समस्या को प्राधान्य मिला है। साधारण रूप में समस्या नाटक की निम्नलिखित विशेषताएँ हो सकती हैं :—

१. समस्या नाटक की मूल कथा समाज से संबंधित किसी घटना से रहती है।

२. आजकल समाज में जो विषमताएँ हैं, जो प्रचलित प्रथाएँ हैं अथवा समाज का कोई वर्गविशेष किसी विशेष प्रवृत्ति को लेकर चलता है जो हानिप्रद है, समस्या-नाटककार उसी प्रवृत्ति को आधार मान कर उसका विश्लेषण करता है।

---

१. **लक्ष्मीनारायण मिश्र—'सिन्दूर की होली', तृ० संस्करण, पृ० १०३**

३. समस्याओं का रूप अस्थायी रहता है।

४. समस्या नाटक के कथोपकथन में विचारों का संघर्ष रहता है।

हिन्दी में 'समस्या-नाटकों' का प्रारम्भ सन् १९३० के बाद मिलता है। समस्या नाटकों का प्रारम्भ करके उनकी एक परम्परा निर्माण करने का कार्य लक्ष्मी-नारायण मिश्र के 'सन्यासी' (१९३१), 'मुक्ति का रहस्य' (१९३२), 'राजयोग' (१९३४), 'सिन्दूर की होली' (१९३४), 'आधीरात' (१९३७), आदि नाटकों में मिलता है। इन नाटकों की मूल समस्या सेक्स-समस्या है जो नारी के अनेक प्रश्नों के रूप में उपस्थित हुई है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने समस्या नाटकों द्वारा जिन समस्याओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है वे अधिकतर चिरंतन नारीत्व की समस्याओं से संबंधित हैं। वे विशेष व्यक्तियों की समस्याएँ हैं परन्तु उनको व्यावहारिक रूप देकर बुद्धि के द्वारा उनका समाधान भी किया है। यौन-संबंधी समस्याओं पर विचार करते समय भारतीय जीवन का जो नैतिक आदर्श है, उसका पालन उनके द्वारा नहीं हुआ है। अर्थात् किसी भी समस्या के पीछे जीवन की गहराई या गांभीर्य नहीं मिलता। अधिकतर ऐसा दिखाई पड़ता है कि जिन समस्याओं का निर्माण भावुकता के आवेश में हुआ उनका समाधान बुद्धि द्वारा किया गया है। इनके समस्या नाटकों के नारी-पात्र वर्तमान शिक्षाप्रणाली से प्रभावित हैं और पाश्चात्य जीवन-पद्धति का अनुकरण करने की प्रवृत्ति उनमें दिखाई पड़ती है। इसलिए प्रेम, विवाह, पाप-पुण्य आदि के बारे में उनका सोचने का दृष्टिकोण भारतीय होकर भी पाश्चात्य पद्धति का अनुकरण करता हुआ दिखाई देता है।

नारी के लिए प्रेम और विवाह ये दो महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। शास्त्रीय दृष्टि से नारी का आदर्श एक रमणी के रूप में न होकर एक देवी के रूप में माना गया है। विवाह होने के बाद स्त्री पूर्ण होती है और उसका व्यक्तित्व उसके पति में ही मिल जाता है। परन्तु पाश्चात्य देशों में नारी को स्वतंत्र स्थान है और वह अपने अलग अस्तित्व में वैयक्तिक प्रगति के लिए मार्ग ढूंढ़ती हुई दिखाई पड़ती है। नारी में शील के साथ शाश्वत सौन्दर्य को भी आदर्श माना गया है और अब उसके जीवन में इसको कोई विशेष स्थान नहीं रहा है। इसलिए नारी के जीवन में जो अनावश्यक घटनाएँ होती रहती हैं उनका समाधान मिश्र के नाटकों में बुद्धि द्वारा हुआ है। परन्तु इस प्रकार के समाधान से नारी के लिए कोई नया मार्ग नहीं मिलता। समाज की मान्यताओं को ठुकरा कर कोई नारी समाज में सन्मान नहीं पा सकती। पाश्चात्य विचार-प्रणाली को आत्मसात करने के लिए समाज का स्तर बहुत ऊँचा होना चाहिए। इस दृष्टि से तो लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक असफल ही रहे हैं। लेकिन आधुनिक शिक्षा के कारण आजकल की नारियों और युवकों में जो समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं, उन पर समाज का ध्यान आकर्षित करने में उनके नाटक

सफल हुए हैं। नाटकों में रचना-विधान और चरित्र-चित्रण की आधुनिकता दिखाई पड़ती है। रंगमंच की दृष्टि से उनके नाटक सफल हैं।

अब समस्या-नाटकों का निर्माण पर्याप्त संख्या में हो रहा है। परन्तु उनमें किसी समस्या की जो स्थापना मिलती है उनमें गहराई नहीं है। साधारण रूप से यह पाया जाता है कि भावुकता के कारण किसी समस्या का निर्माण होता है और उसका समाधान बुद्धि द्वारा होता है। ये समस्याएँ मनुष्य के साधारण व्यवहार में दिखाई पड़ती हैं, परन्तु नाटकों द्वारा उनको इतना भव्य रूप दिया जाता है कि असली समस्या का समाधान नहीं होता। भगवती प्रसाद वाजपेयी के 'छलना' (१९५०) नाटक में नारी की जो व्याख्या की गई है उसमें कुछ नवीनता है। उसमें एक पात्र इस प्रकार बोल रहा है:—

**"नवीन—नारी पुरुष की प्रेरणा है, साधना है, अन्तरात्मा की ज्योति है। उसे न पाकर या खोकर पुरुष एक ओर जहाँ पागल बन जाता है, वहाँ दूसरी ओर वह उठता भी है—उसे जागरण भी मिलता है।"[१]**

हिन्दी में समस्या-नाटक लिखने वालों में पृथ्वीनाथ शर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गोविंदवल्लभ पंत, भुवनेश्वर प्रसाद, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', हरिकृष्ण 'प्रेमी' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उन्होंने अपने नाटकों द्वारा समस्या-नाटकों की परंपरा को प्रवाहित रखने का प्रयत्न किया है। उनके अधिकतर नाटक सामाजिक आदर्श की स्थापना करने में लगे हैं। इसलिए समस्या-नाटकों के असली लक्षण उनके नाटकों में कम मिलते हैं। केवल बुद्धिवादी दृष्टिकोण लेकर किसी नाटक की रचना नहीं होनी चाहिए। यथार्थ की गहराई में प्रवेश कर नयी-नयी समस्याओं का अन्वेषण करके ही समस्या-नाटकों का निर्माण किया जाता है।

आदर्श समस्या-नाटकों की यह विशेषता मानी जा सकती है कि उनमें समस्याओं का निर्माण यथार्थ रूप में हो। किसी काल्पनिक प्रश्न की भावभूमि पर आधारित समस्यामें जीवन की सजीवता या उस समस्या का समाधान नहीं मिल सकता। इस दृष्टि से जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद के 'समर्पण' (१९५०) नाटक में आज की एक सामाजिक समस्या का विश्लेषण बहुत ही कलात्मक ढंग से हुआ है। इला और नवीनचंद्र एक दूसरे के प्रति आकर्षित होकर भी किसान-सेवा, जन-सेवा आदि राष्ट्रीय कार्य में अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। वे विवाह कर सकते थे परन्तु उनके जीवन में राष्ट्रीय कार्य को ही प्राधान्य था। इसलिए अपनी भावनाओं पर दबाव डालकर सारा समय जन-सेवा के लिए अर्पण करते थे। उनमें प्रेम और कर्तव्य का संघर्ष चल रहा था। एक दिन इलादेवी ने अपने मन की दुर्बलता नवीनचंद्र के सामने प्रकट की परन्तु

---

**१. भगवती प्रसाद वाजपेयी—'छलना', द्वि० सं० १९५०, पृ० १११**

इसके लिए बहुत देर हुई थी। जब एक किसान आन्दोलन में नवीनचंद्र की मृत्यु होती है तब इलादेवी अपनी दुर्बलता को प्रगट करती है। इसने अपनी भावनाओं का विश्लेषण बुद्धि द्वारा नहीं किया क्योंकि उसका समर्पण वास्तविक था, उसे बुद्धि के क्षेत्र में कोई स्थान नहीं था। इस बात का विश्लेषण नाटक के अन्त में इलादेवी के मुख से निम्न-लिखित रूप में हुआ :—

**"इला—हाँ, मैं आज अपनी दुर्बलता, अपना समर्पण उच्च स्वर से घोषित करना चाहती हूँ। मैं आज कहना चाहती हूँ कि मैं प्रेम के आगे समर्पण करती हूँ, मैं विवाह के आगे समर्पण करती हूँ। मैं नवीनचंद्र के आगे समर्पण करती हूँ, जो आज एक नाम-मात्र रह गया है, जो आज एक ज्योतिः पुँज है, आदर्शों का प्रतीक है, जिसने मानव होने के नाते सदैव अन्तर्द्वन्द्व अनुभव किया। किन्तु, एक आदर्शवादी होने के नाते अपनी दुर्बलताओं के आगे कभी अपना समर्पण नहीं किया।—**

**वह मेरी कितनी बड़ी मूर्खता थी कि मैंने अपनी दुर्बलता को भूलकर नवीन-चन्द्र के प्रथम और अन्तिम निष्कर्ष पर आत्मप्रकाशनमात्र पर उनकी भर्त्सना की। आज कटुतम सत्य सामने आ रहा है। मैं आज उनसे बहुत दुर्बल सिद्ध हो रही हूँ। मैं अब अपनी दुर्बलता न छिपाऊँगी। मैं आज निस्संकोच होकर कहना चाहती हूँ कि मैं शहीद नवीनचंद्र की विधवा हूँ, विवाह को अपना समर्पण घोषित करती हूँ, सम्पूर्ण बिना-शर्त समर्पण !"[१]**

इस प्रकार आधुनिक युवक-युवतियों के मनोविज्ञान को समझा जा सकता है। इसमें प्रेम और कर्तव्य का जो संघर्ष दिखाया है उसका उत्तर भी यथार्थ रूप में मिलता है। इसमें बुद्धि को किसी भी प्रकार की कसरत नहीं मिलती। इसलिए आधुनिक समस्या-नाटकों का आदर्श इस रचना में ढूंढ़ा जा सकता है।

**एकांकी नाटक**

आधुनिक नाटक-साहित्य की यह एक विशेषता है कि आजकल एकांकी नाटकों की रचना अधिक संख्या में हो रही है। हिन्दी नाटक-साहित्य के लिए एकांकी नाटक कोई एक नया साहित्य प्रकार नहीं है। एकांकी नाटक की परंपरा संस्कृत के नाटक-साहित्य में भी पायी जा सकती है। देशकाल के अनुसार उस समय एकांकी नाटक का आदर्श दूसरा था। संस्कृत में अनेक अंक वाले नाटक मिलते हैं वैसे ही एक अंक-वाले भी नाटक मिलते हैं। महाकवि भास का 'उरुभंग', नीलकंठ का 'कल्याण सौगंधिक' आदि एक अंकवाले नाटक आधुनिक एकांकी नाटक की विशेषताओं की ओर इशारा करते हैं। हिन्दी में भारतेन्दुकालीन कुछ नाटक ऐसे मिलते हैं कि जिनकी परंपरा का संबंध आधुनिक एकांकी नाटकों की परंपरा से जोड़ा जा सकता है। परन्तु भारतेन्दु-

---

१. जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद'—'समर्पण'—१९५०, पृ० १२६-१२७

कालीन कुछ नाटक एकांकी रूप में मिलते हैं उनका निर्माण बाल-विवाह, विधवा-विवाह आदि तत्कालीन समस्याओं को एक कहानी में न कहकर संवाद तत्वों के आधार पर एक प्रहसन के रूप में कहने की परंपरा दिखाई देती है। भारतेन्दु, राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र आदि तत्कालीन छोटे-बड़े नाटककारों ने एकांकी के रूप में अपनी कई नाट्य-रचनाएँ उपस्थित की हैं।

आधुनिक एकांकी का आरंभ सन् १९३० के बाद माना जा सकता है। आधुनिक एकांकी नाटक-साहित्य की प्रथम कृति के रूप में प्रसाद के 'एक घूंट' की ओर इशारा किया जा सकता है और उसमें आधुनिक एकांकी के कुछ तत्व भी ढूंढ़े जा सकते हैं। परन्तु प्रसाद ने जिस नाट्य-परंपरा का रूप लोगों के सामने रखा है उसमें आधुनिक एकांकी की परंपरा को स्थान नहीं मिल सकता। प्रसाद जी के नाटकों में भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य-परंपरा का समन्वय मिलता है। अतः 'एक घूंट' के कथानक, संवाद, भाषा का रूप आदि को देखकर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि 'एक घूंट' पुरानी नाट्य-परंपरा से बिलकुल अलग नहीं किया जा सकता। पुरानी नाट्य-परंपरा के आदर्श पर 'एक घूंट' में एकांकी की नव्यतर प्रवृत्तियां मिलती हैं और उनके आधार पर उसको आधुनिक 'एकांकी' रूप में देखना अनुचित नहीं होगा। हिन्दी एकांकी की यह परंपरा 'हंस' के 'एकांकी' विशषांक' (१९३८) प्रकाशित होने तक मिलती है। सन् १९३५ में भुवनेश्वर प्रसाद का 'कारवाँ' शीर्षक एकांकी-संग्रह प्रकाशित हुआ। इसमें उनके छः एकांकी हैं और 'एकांकी' की परंपरा में यह एक प्रथम प्रयोग है।

भुवनेश्वर प्रसाद जी के 'कारवाँ' में संग्रहीत एकांकियों को पढ़कर यह स्पष्ट दिखाई देता है। हिन्दी में एकांकी नाटक का रूप विकसित होता जा रहा है। इनमें विषयों की आधुनिकता सामाजिक समस्याओं के रूप में चित्रित की गई है। सभी नाटकों में विवाहित पुरुष, प्रेमी और स्त्री की समस्याओं की ओर इशारा करके समाज की परिस्थितियों का यथार्थ रूप सामने रखा गया है। मुख्य पात्रों के रूप में जिन व्यक्तियों का चरित्र-चित्रण हुआ है वह अत्यंत महत्व का है। भुवनेश्वर प्रसाद की रचनाओं में सर्वत्र वाक्यपटुता, तीखी व्यंजना और नाटकीयता मिलती है।

हिन्दी एकांकियों की ओर लेखकों और पाठकों का ध्यान आर्कषित करने का कार्य 'हंस' के सन् १९३८ के 'एकांकी' विशेषांक ने किया। इस समय तक इधर-उधर पत्रिकाओं में कुछ एकांकी नाटक प्रकाशित हुए थे। परन्तु एकांकी नाटकों के महत्व पर ध्यान आर्कषित करने का सामूहिक प्रयत्न इस विशेषांक द्वारा हुआ। इस अंक में कुछ अनूदित एकांकी नाटक भी सम्मिलित हैं।

'कारवाँ' में प्रकाशित एकांकी नाटकों में एक नए प्रयोग का निर्देश मिलता है। डा० रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटकों में शिल्पविधि तथा विषय की दृष्टि से नाट्य-कला की प्रौढ़ता मिलती है। डा० वर्मा ने सामाजिक तथा ऐतिहासिक एकांकी

नाटकों द्वारा मनुष्य की करुणा, दया, त्याग आदि सात्विक वृत्तियों का चित्रण सुंदर ढंग से किया है। उन्होंने ऐतिहासिक पात्रों में नवजीवन तथा जीवन की व्यावहारिकता का आदर्श दिखाया है। सामाजिक एकांकी नाटकों में मध्य-वर्गीय नागरिकों का जो जीवन चित्रित किया है उसमें अधिकतर आधुनिक समाज की विशेषताओं के साथ उसकी कमजोरियों पर भी व्यंग्यात्मक आघात किया है। उनके एकांकी नाटकों की संख्या बहुत मिलती है। आजकल उनके एकांकी रेडियो-नाटक की शैली में लिखे जाते हैं।

ऐतिहासिक एकांकी नाटकों की परंपरा 'सेठ गोविंद दास' तथा हरिकृष्ण 'प्रेमी' के नाटकों में मिलती है। 'प्रेमी' ने अपने बड़े नाटकों में जिस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर मध्यकालीन राजपूती शौर्य, त्याग की भावना आदि का आदर्श दिखाया है उसी का लघु-सूत्र इन एकांकी नाटकों में भी मिलता है। सेठ गोविंद दास जी ने अनेक ऐतिहासिक एकांकी लिखे हैं और उनमें अधिकतर गांधीवादी विचारधारा का प्राधान्य मिलता है। उन्होंने अपने एकांकी द्वारा भारत की ऐतिहासिक परंपरा का नैतिक आदर्श दिखाया। प्रसाद जी ने आर्य संस्कृति की जिस महत्ता का प्रचार किया है उसकी परंपरा इनके नाटकों में मिलती है। उन्होंने पाश्चात्य शिल्पविधि का अनुसरण करके हिन्दी में मोनोड्रामा का सूत्रपात किया। एक नूतन प्रयोग के रूप में उनके 'मोनोड्रामा' एक नई नाटच-परंपरा का आदर्श स्थापित करते हैं। शिल्पविधि की दृष्टि से सेठ जी के एकांकी एक नयी शैली का आदर्श उपस्थित करते हैं।

जीवन की यथार्थता का सुन्दर तथा कलात्मक चित्रण श्री उदयशंकर भट्ट के नाटकों में मिलता है। भट्टजी ने जीवन को नजदीक से देखा है और उनकी यह दृष्टि उनकी पौराणिक कथा-वस्तुओं में भी आधुनिक प्रवृत्तियों का चित्रण उपस्थित करती है। अपने बड़े नाटकों में भट्ट ने जिन पौराणिक कथाओं के आधार पर तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का चित्र खींचा है, उनका प्रभाव उनके एकांकी नाटकों में भी मिलता है। उन्होंने अपने नाटकों द्वारा स्वाभाविकता के साथ जीवनचित्र उपस्थित किए हैं। हिन्दी के एकांकी साहित्य में उन्होंने अपने भाव-नाटचों द्वारा प्रसाद जी की भाव-नाटच परंपरा को आगे बढ़ाया। उनके भाव-नाटचों की भाषा मधुर तथा भावपूर्ण है।

रंगमंच तथा रेडियो नाटक की दृष्टि से 'अश्क' जी के एकांकी आधुनिक नाटक-साहित्य की एक विशेष देन है। रंगमंच की सुविधाओं को सामने रखकर अपने एकांकी नाटकों का निर्माण करने वाले नाटककारों में 'अश्क' के समान बहुत कम नाटककार मिलेंगे। मनुष्य के साधारण जीवन की समस्याओं को लेकर पात्रों के मानसिक संघर्ष का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने में 'अश्क' जी सिद्धहस्त हैं। सन् १९३६ से उन्होंने अनेक नाटक लिखे और एकांकी नाटच-कला में आधुनिकता लाने का प्रयत्न किया। समाज की विविध समस्याओं को लेकर उनका विश्लेषण करना उनकी नाटच-कला

का आदर्श है। आधुनिक एकांकी-कला को आगे बढ़ाने का कार्य 'अश्क' जी के एकांकी-नाटक कर रहे हैं।

हिन्दी में एकांकी नाटककारों की संख्या बढ़ रही है। बेचन शर्मा 'उग्र', सद्-गुरु अवस्थी, गणेश प्रसाद द्विवेदी, जगदीश चंद्र माथुर, विष्णु प्रभाकर, लक्ष्मीनारायण मिश्र, वृन्दावन लाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा आदि रचयिता हिन्दी में एकांकी नाटक लिख रहे हैं। इनमें कुछ एकांकीकारों की कृतियां अत्यंत उच्च कोटि की हैं और हिन्दी के अन्य लेखक भी इन कलाकारों की शैली पर नए-नए एकांकी लिख रहे हैं। जिस प्रकार आजकल किसी मासिक पत्रिका में तीन-चार कहानियाँ जरूर मिलती हैं, उसी प्रकार उनके साथ कम से कम एक-दो एकांकी भी मिलते हैं। इससे स्पष्ट पता लगता है कि आजकल एकांकी नाटक प्रगति की दिशा की ओर बढ़ रहे हैं।

**रेडियो-नाटक**

आधुनिक एकांकी की परंपरा में रेडियो-नाटक का आरंभ हुआ। वैज्ञानिक आविष्कार के कारण साहित्य की रचना में परिवर्तन होते रहते हैं इसका उदाहरण आज का रेडियो-नाटक है। कुछ वर्ष पहले रेडियो-नाटक का विशेष अस्तित्व न था, परन्तु जनता में रेडियो का प्रचार होने के कारण लोगों का मनोरंजन करने की दृष्टि से रेडियो-नाटकों की माँग हुई। अब एकांकी केवल रंगमंच के लिए नहीं लिखे जाते। नाटककार अपने एकांकी की रचना ऐसे ढंग से करता है कि वह रेडियो द्वारा प्रसारित हो जाय और साथ ही उसका साहित्यिक मूल्य भी सुरक्षित रहे।

रेडियो-नाटक का प्रचार एक आधुनिक घटना है। रेडियो-नाटक में रंगमंच के लिए कोई स्थान नहीं है। इसलिए उसके श्रोताओं की सुविधाओं का ध्यान रख कर ही उसका निर्माण तथा रेडियो पर अभिनय प्रसारित किया जाता है। रंगमंचीय नाटकों में अभिनय के लिए अनेक सुविधाएँ रहती हैं। उसमें पात्र अपने प्रेक्षकों को देख सकते हैं और दर्शक पात्रों के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को देख सकते हैं। परन्तु रेडियो-नाटक में इस प्रकार की सुविधाओं को कोई स्थान नहीं है। इसलिए रेडियो-नाटक के निर्माण में बहुत सावधानी से काम लिया जाता है।

रेडियो-नाटक के अभिनेता और श्रोतागणों को अधिक सजग होना चाहिए। यहाँ केवल ध्वनियों की सहायता से दोनों का संबंध जोड़ा जाता है। इसलिए रेडियो-नाटक की कथा-वस्तु, संवादतत्व, संगीत आदि के बारे में बहुत सतर्क रहना पड़ता है। रेडियो के लिए घटना-प्रधान नाटकों की अपेक्षा वातावरण-प्रधान या विचार-प्रधान नाटक अधिक उपयुक्त तथा प्रभावोत्पादक होते हैं। इनमें पात्रों की संख्या बहुत कम होती है और नाटकों का विस्तार भी बहुत सीमित रहता है। रेडियो-नाटक के लिए आधुनिक जीवन से संबंधित कथानक बहुत उपयुक्त हैं और यदि उसमें मनोवैज्ञानिक या समस्या-प्रधान विश्लेषण हो तो बहुत ही अच्छा। रेडियो नाटक का एक-एक शब्द

बड़े संयम के साथ चुनकर लिखा जाता है क्योंकि जो बात रंगमंच के द्वारा दर्शकों तक पहुँचायी जाती थी उसको ध्वनियों के द्वारा रेडियो पर श्रोताओं तक पहुँचानी पड़ती है। रेडियो-नाटक में प्रस्तुतीकरण अत्यंत महत्वपूर्ण है और उसमें कहीं भी किसी भी प्रकार का दोष उत्पन्न हो तो श्रोता का ध्यान टूट सकता है। अतः उसमें श्रोताओं की सुविधाओं पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

रेडियो-नाटक में ध्वनि और संगीत को महत्व का स्थान है। हरएक ध्वनि का उच्चारण इतना शुद्ध तथा प्रभावात्मक होना चाहिए कि जिसके सुनने पर पाठक रोमांचित तथा प्रभावित हो जाय। एक दृष्टि से रेडियो-नाटक का रंगमंच माइक्रोफोन है और उसके माध्यम से रेडियो-नाटककार अपने गतिशील हृदय तथा संवादों की चतुराई श्रोताओं तक पहुँचाता है। इसलिए रेडियो-नाटक में ध्वनि-प्रभाव को महत्व का स्थान है।

यह तो स्पष्ट है कि हिन्दी के नाटकों के लिए रंगमंच नहीं है और इसी कारण हिन्दी का नाटक साहित्य अपनी प्रगति नहीं कर सका। परन्तु रंगमंच का यह प्रश्न रेडियो-नाटकों की उन्नति में बाधक नहीं ठहरा और धीरे-धीरे हिन्दी में अच्छे-अच्छे रेडियो-नाटक लिखे जाने लगे। और रेडियो द्वारा प्रसारित भी होने लगे। रेडियो-नाटक आधुनिक युग की देन है। रेडियो-नाटकों की प्रगति का मूल स्टूडियो में मिलेगा और स्टूडियों के अनुभवों पर ही आज के रेडियो-नाटक प्रसारित किए जाते हैं।

रेडियो-नाटकों का क्रमबद्ध तथा शृंखलित प्रसारण सन् १९३६ के लगभग होने लगा जब बंबई, लखनऊ, मद्रास, दिल्ली, पेशावर आदि नगरों में ब्राडकास्टिंग स्टेशन खुलने लगे। पहले हिन्दी के एकांकी नाटक ही इस पर प्रसारित किए जाते थे परन्तु बाद में एकांकी नाटकों की रचना रेडियो की सुविधाओं पर ध्यान देकर की जाने लगी। और हिन्दी के अनेक नए-पुराने नाटककार रेडियो के लिए नाटक लिखने लगे। रेडियो के लिए नाटक लिखने वाले पुराने नाटककार अपने नाटकों की रचना दो उद्देश्यों को सामने रखकर करते थे। वे अपने नाटक किसी न किसी पत्रिका में प्रकाशित करते थे और बाद में रेडियो द्वारा उसका प्रसारण करना चाहते थे। इसलिए उनके नाटक न रंगमंच के सफल बन सके न रेडियो पर प्रसारित होने के लिए उपयुक्त ठहरे। केवल रेडियो के लिए नाटक लिखनेवाले नाटककारों की संख्या बहुत कम है।

डा० रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेंद्रनाथ 'अश्क', जगदीशचंद्र माथुर, अमृतलाल नागर, सेठ गोविंददास आदि आधुनिक नाटककारों ने रेडियो के लिए नाटक लिखे। ये नाटककार पहले हिन्दी के ख्यातनामा नाटककार हैं। उन्होंने अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आदि प्रकार के नाटक लिखे और रेडियो पर उनका प्रसारण भी होता रहा। हिन्दी के उदीयमान नाटककारों में कैलाशचन्द्र देव, देवेन्द्रनाथ शर्मा, सुनील शर्मा, चन्द्रकान्त जाकिर, बालकराम नागर,

स्वदेशकुमार आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन नए और पुराने नाटककारों ने केवल प्रयोग के रूप में रेडियो के लिए नाटक लिखे लेकिन बाद में इस नए माध्यम के प्रति उनमें आसक्ति बढ़ती ही गई।

सुप्रसिद्ध कवि और नाटककार उदय शंकर भट्ट के कई नाटक रेडियो पर सफल हुए। डा० रामकुमार वर्मा के अनेक नाटक रेडियो पर प्रसारित हो चुके हैं। उन्होंने सामाजिक नाटकों की अपेक्षा ऐतिहासिक नाटकों में सफलता पाई है। उनके 'फेल्ट हैट', 'उत्सर्ग', 'औरंगजेब की आखिरी रात' आदि उच्च कोटि के रेडियो-नाटक हैं। परन्तु उन्होंने केवल रेडियो के लिए जो नाटक लिखे हैं उनमें रेडियो-शिल्प का निखरा हुआ रूप मिलता है। डा० रामकुमार वर्मा के समान उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने भी अनेक सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक रेडियो-नाटक लिखे हैं। उन्होंने रेडियो-शिल्प में केन्द्रीय स्थिति की मौलिकता और संवादतत्व में तीक्ष्णता लाने का प्रयत्न किया है। 'अश्क' ने अपने रेडियो-नाटकों के निर्माण में अनेक प्रयोग किए हैं। केवल रेडियो पर प्रसारित करने के लिए नाटक लिखने वालों में रेवती शरण शर्मा का नाम प्रसिद्ध है। उन्होंने अनेक सामाजिक नाटक लिख कर रेडियो नाटकों के क्षेत्र में अपना एक विशेष स्थान बनाया। उनके नाटकों की कथावस्तु मानवीय भावनाओं पर आधारित है। उनमें यथार्थ जीवन का चित्र खींचा गया है।

इसी प्रकार भगवती चरण वर्मा, अमृत नागर, विष्णु प्रभाकर, रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रभाकर माचवे आदि के कई रेडियो-नाटक बहुत अच्छे हैं। हिन्दी में रेडियो नाटक का इतिहास लगभग बीस साल का मिलता है, परन्तु इस छोटे से काल-विभाग में रेडियो-नाटकों के शिल्प में जो उन्नति हुई वह अभिनंदनीय है। अब हिन्दी के अनेक प्रसिद्ध नाटककार रेडियो-नाटकों के निर्माण में बहुत दिलचस्पी रखने लगे हैं।

इस काल-विभाग के नाटकों में विविधता का दर्शन मिलता है। सिनेमा के प्रचार के कारण नाटक की प्रगति पर आघात हुआ परन्तु सिनेमा का प्रभाव आजकल के नाटकों पर दिखाई पड़ता है। वेषभूषा, हावभाव, कथोपकथन, संगीत, नृत्य आदि का अनुकरण नाटक में होता रहा है। आधुनिक शिक्षा-प्रचार के कारण समाज में अनेक परिवर्तन होते रहे हैं और उनका विश्लेषण इन नाटकों में हुआ है। बड़े नाटक, एकांकी, रेडियो-नाटक, प्रहसन, आदि नाटक के किसी भी रूप का अध्ययन करने से यह बात दिखाई देती है कि अब नाटक की आत्मा में एकता है। जो बात एक प्रहसन के द्वारा स्पष्ट की जाती है उसी को लेकर एक एकांकी लिखा जा सकता है और उसका रेडियो द्वारा प्रसारण भी किया जा सकता है। समय के अभाव के कारण एकांकी नाटक का निर्माण अधिक प्रमाण में हो रहा है।

आधुनिक नाटक में सामाजिक चित्रण बहुत मात्रा में मिलता है। इस दृष्टि से रामकुमार वर्मा, उपेंद्रनाथ 'अश्क' आदि नाटककारों की कृतियां महत्व की हैं।

नाटकों का प्रसारण रेडियो पर होता रहा है परन्तु हिन्दी के रंगमंच में सुधार भी होता रहा है। स्कूल या कालेज के किसी विशेष अवसर पर विद्यार्थियों द्वारा छोटे बड़े नाटक खेले जाते हैं।

हिन्दी रंगमंच के विकास में 'पृथ्वी थिएटर्स' जैसी नाटक-मंडलियों का विशेष हाथ है। पृथ्वी थिएटर्स में अभिनीत 'शकुन्तला', 'दीवार', 'पठान', 'गद्दार', 'आहुति' आदि नाटक हिन्दी रंगमंच के विकास में विशेष स्थान रखते हैं। वास्तविक रूप में हिन्दी रंगमंच के विकास की दृष्टि से सरकार की ओर से भी सहायता मिलनी चाहिए। हमारी सरकार राष्ट्रीय रंगमंच का निर्माण करने की दृष्टि से भी प्रयत्न करे।

इस प्रकार हिन्दी के संपूर्ण नाटक-साहित्य (सन् १९५० तक) का अध्ययन किया जा सकता है। हिन्दी का नाटक-साहित्य अब विकास की राह पर है। जैसी-जैसी अनुकूल परिस्थितियां मिलती रहेंगी वैसे-वैसे वह आगे बढ़ता हुआ दिखाई पड़ेगा। सेठ गोविंददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र, डा० रामकुमार वर्मा आदि आधुनिक नाटककार अपनी नाट्य-रचनाओं द्वारा हिन्दी नाट्य-साहित्य को समृद्ध कर रहे हैं और वह प्रगति के मार्ग पर है। भारत की सर्वांगीण उन्नति के लिए उत्कृष्ट नाटकों की आवश्यकता है और इस प्रकार के नाटक के स्वरूप के बारे में जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने अपने 'मधुर-मिलन' (१९२३) नाटक की प्रस्तावना में 'नटी' के मुख से इस प्रकार संकेत किया है :—

**नटी—"मैं चाहती हूँ कि ऐसे नाटक का अभिनय हो जिससे आनन्द का संचार, समाज का सुधार, देश का उपकार, कुरीतियों का संहार तथा नवीन भावों का प्रचार हो, जो हास्य रस का आगार और जिसकी भाषा सरस, सरल, सुन्दर और शुद्ध हो।"**

# अध्याय ३

# उपन्यास

हिन्दी उपन्यास-साहित्य का इतिहास लगभग अस्सी वर्ष का है। हिन्दी गद्य के नाटक, कहानी, आलोचना, निबंध आदि साहित्यिक रूपों के साथ-साथ उपन्यास का प्रचार भी सर्वसाधारण शिक्षित लोगों में है और समृद्धि की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण साहित्य-प्रकार है। वैदिक-काल से ही भारतीय जीवन में कथा-साहित्य को महत्वपूर्ण स्थान मिलने के कारण संस्कृत-साहित्य में उसकी एक विशाल परंपरा मिलती है। संस्कृत के लोकप्रिय कथा-साहित्य में 'बृहतकथामंजरी', 'कथा सरित्सागर', 'बैताल पंचविंशतिका', 'शुकसप्तति', 'सिंहासन द्वात्रिंशिका', 'पंचतंत्र', 'हितोपदेश' आदि में भारतीय कथा-साहित्य की परंपरा का दर्शन होता है। बाणभट्ट कृत 'कादंबरी' और 'हर्षचरित' में भारतीय कथा-साहित्य की परंपरा का निखरा हुआ रूप मिलता है परन्तु बाद में भारतीय कथा-साहित्य की यह परंपरा विकसित रूप में दिखाई नहीं पड़ती।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में कथा-साहित्य की यह परंपरा एक नया रूप लेकर भारतीय जीवन में प्रवेश करने लगी और बाद में उसे अंग्रेजी के 'नावेल' का रूप मिलने लगा तथा भारत की आधुनिक भाषाओं में 'नावेल' की शैली पर कथाओं की रचनाएँ होने लगीं। हिन्दी में उसे 'उपन्यास' की संज्ञा दी गई। इसमें बंगला के उपन्यासों का प्रभाव भी पूर्ण रूप से दिखाई देता है क्योंकि बंगला उपन्यासों पर आँग्ल-प्रभाव था इसलिए बंगला द्वारा हिन्दी में भी अंग्रेजी उपन्यासों का प्रभाव पड़ा जिससे हिन्दी उपन्यास-साहित्य प्रगति की दिशा की ओर बढ़ने लगा। उपन्यास द्वारा मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक रहस्यों पर प्रकाश डाला जा सकता है साथ ही मनुष्य जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर भावों का विश्लेषण भी हो जाता है। उसमें मानव जीवन की तत्कालीन समस्याओं का चित्रण होने के कारण मनुष्य जीवन की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप में होती है।

भारत में अंग्रेजों का राज्य होने के कारण अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार हुआ और मुद्रण-यंत्र के प्रचार से ग्रंथों का प्रकाशन सर्व सुलभ हुआ। अतः लेखक को अपनी पुस्तकें प्रकाशित करने के साधन उपलब्ध हुए और लेखकों का एक छोटा सा वर्ग ऐसा उत्पन्न होता गया कि जिसका व्यवसाय ही पुस्तकों का निर्माण करना हुआ। इन लेखकों

द्वारा अनेक किताबें लिखी गईं और उनमें कथा-साहित्य को महत्वपूर्ण स्थान मिल गया। धीरे-धीरे इन व्यवसायी लेखकों द्वारा अनेक कथा-कहानियों की किताबें लिखी गईं और जनता इस प्रकार के साहित्य द्वारा अपना मनोरंजन करने लगी। इन लेखकों ने जनता की रुचि को देखकर बंगला, अंग्रेजी, फारसी आदि भाषाओं की किताबों का अनुवाद करना आरंभ किया और साथ ही उनके आधार पर अनेक पुस्तकें लिखीं। भारतेन्दु ने उपन्यास साहित्य की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया और अंग्रेजी तथा बंगला की शैली पर हिन्दी में उपन्यास लिखे जाने लगे। धीरे-धीरे इन उपन्यासों में तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार लोक-जीवन की आशा-आकांक्षाओं का चित्रण होने लगा। इसी तरह अंग्रेजी शिक्षा और मुद्रण-यंत्र के प्रचार से जिन-जिन विचार-धाराओं का प्रवेश भारतीय जीवन में होता गया उनका परिपाक उपन्यासों में दिखाई देने लगा। समय की गति के साथ हिन्दी का उपन्यास-साहित्य आगे बढ़ता हुआ दिखाई देता है। उसकी विकसित परंपरा का अध्ययन उसके इतिहास के निम्नलिखित काल-विभागों के आधार पर किया जा सकता है:—

**काल-विभाग**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | आरंभिक-काल | सन् १८७२ ई० से | सन् १८९१ ई० तक |
| २, | निर्माण-काल | सन् १८९१ ई० से | सन् १९१८ ई० तक |
| ३. | विकास-काल | सन् १९१८ ई० से | सन् १९३६ ई० तक |
| ४. | विस्तार-काल | सन् १९३६ ई० से | सन् १९५० ई० तक |

**आरंभिक-काल** (सन् १८७२ ई० से सन् १८९१ ई० तक)

हिन्दी उपन्यास साहित्य का सूत्रपात भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन-काल में हुआ। भारतेन्दु ने 'उपन्यास' के महत्व को समझ कर हिन्दी में पहली बार उसकी ओर संकेत किया। 'हरिश्चन्द्र मैगेजीन' के मुखपृष्ठ पर विषय का जो विवरण मिलता है उसमें 'उपन्यास' को भी स्थान मिला। बाद में 'हरिश्चन्द्र मैगेजीन' के दूसरे अंक (१५ अक्तू० १८७३) से बाबू गदाधर सिंह द्वारा बंगला से अनूदित 'कादंबरी' धारावाहिक रूप में छपना प्रारंभ हुआ।

भारतेन्दु-काल में उपन्यास की रचना का पहला मौलिक प्रयत्न दिल्ली निवासी श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षा-गुरु (१८८२) उपन्यास में दिखाई पड़ता है। डा० श्रीकृष्ण-लाल ने इसे हिन्दी का पहला उपन्यास माना है। आचार्य शुक्लजी के अनुसार हिन्दी का पहला उपन्यास 'भाग्यवती' (१८७७) है जिसकी रचना संस्कृत साहित्य के विद्वान् पं० श्रद्धाराम फुल्लोरी द्वारा हुई। पं० श्रद्धाराम फुल्लोरी ने यह उपन्यास महिलाओं को गृहस्थ-धर्म की शिक्षा देने के लिए लिखा था। इसी प्रकार मुंशी ईश्वरी प्रसाद और मुंशी कल्याणराय द्वारा हिन्दुओं या आर्यों की लड़कियों को पढ़ने के लिए 'वामा-शिक्षक' (१८७२) नामक पुस्तक लिखवायी थी। उसमें भी स्त्री शिक्षा का शुद्ध हेतु दिखाई

**कहानी के जोबन का उभार और बोलचाल की दुलहिन का सिंगार।**

**किसी देश में किसी राजा के घर एक बेटा था। उसे उसके माँ-बाप और सब घर के लोग कुँवर उदयभान करके पुकारते थे। सचमुच उसके जीबन की जोत में सूरज की एक सोत आ मिली थी।"[1]**

इससे स्पष्ट पता लगता है कि इंशा ने यह मौलिक रचना भाषा के एक स्वतंत्र रूप के निर्माण करने की दृष्टि से लिखी है और उसका निर्माण अपनी एक स्वतंत्र शैली में किया है। इसमें कथा-साहित्य के तत्व मिलते हैं और पात्र-परिचय, वातावरण और कथोपकथन की दृष्टि से खड़ी बोली की यह एक महत्वपूर्ण रचना है।

'रानी केतकी की कहानी' के बाद सन् १८७२ ई० तक हिन्दी में कोई महत्वपूर्ण कथा-रचना नहीं मिलती। परन्तु इस समय बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने बंगला में उपन्यास लिखना आरंभ किया था और उनके 'दुर्गेशनंदिनी' (१८६५) 'कपाल कुंडला' (१८६६), 'मृणालिनी' (१८६९) आदि प्रारंभिक उपन्यास लिखे जा चुके थे। ठीक इसी समय मुन्शी ईश्वरीप्रसाद मुदर्रिस 'रियाजी' और मुन्शी कल्याण राव मुदर्रिस अव्वल उर्दू द्वारा 'वामा शिक्षक अर्थात् दो भाई और चार बहनों की कहानी' (१८७२) शीर्षक रचना लिखवाई गई। उस समय शिक्षा का प्रचार होने के कारण लड़कियाँ भी पढ़ने लगीं परन्तु उनके पढ़ने के लिए हिन्दी में अच्छी-अच्छी किताबें नहीं थीं। इसलिए तत्कालीन पश्चिम-उत्तर विभाग के लेफ्टनंट गवर्नर बहादुर की प्रेरणा से हिन्दुओं और आर्यों की लड़कियों के पढ़ने के लिए 'वामा शिक्षक' पुस्तक बनवाई गई। यह पुस्तक लड़कियों के लिए है और उसमें 'स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता' पर विचार किया गया है।

'वामा शिक्षक' एक चरित्र-प्रधान कथात्मक रचना है जिसमें दो भाई और चार बहनों के चरित्र-चित्रण द्वारा तत्कालीन 'स्त्री शिक्षा' की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। लेखकों ने 'गंगा' और 'किशोरी' द्वारा निम्नलिखित सुधार की बातें कहलवाई हैं:—

१. लड़कियों को शिक्षा देनी चाहिए।
२. बचपन में लड़कियों का लाड़ नहीं करना चाहिए।
३. छोटी उमर में लड़कियों की शादी नहीं करनी चाहिए।
४. शादी में बेकार खर्च नहीं करना चाहिए।
५. लड़की की शादी करते समय लड़के के गुण, रूप आदि पर भी ध्यान देना चाहिए।

---

१. सं० श्यामसुन्दरदास, 'रानी केतकी की कहानी, तृ० आ०, सं० २००२, पृ० २, ३, ४।

६. बहुओं को अपने घर का हिसाब रखने का काम करना चाहिए।

७. विधवा बहु को अपने घर से अलग नहीं होना चाहिए।

इसी प्रकार जमुनादास और मथुरादास के चरित्र-चित्रण द्वारा भी निम्नलिखित सुधार की बातें प्रकट की हैं:—

१. लड़कों को शिक्षा देनी चाहिए।

२. हो सके तो लड़कों को अंग्रेजी शिक्षा देनी चाहिए।

३. अपने जीवन-काल में लड़कों को अपनी आय देखकर ही खर्च करना चाहिए।

अतएव इन छः चरित्रों द्वारा तत्कालीन शिक्षा संबंधी समस्या पर प्रकाश डाला गया है। इस रचना में एक भारतीय गृहस्थी का पूरा चित्र खींचा गया है और कथा में प्रवाह है। इसके लेखकों ने भाषा का रूप सीधा रखकर इसका उपयोग सर्वसुलभ कर दिया है। इस रचना पर बंगला या अंग्रेजी उपन्यास का कोई भी प्रभाव दिखाई नहीं पड़ता। इसलिए भारतीय कथा-साहित्य की विकसित परंपरा इसमें मिलती है और इसलिए इसे भारतीय ढंग का प्रथम उपन्यास कहने में किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं होगी।

'वामा शिक्षक' के समान स्त्री-शिक्षा के प्रचार में सहयोग देने वाली पं० श्रद्धाराम फुल्लोरी कृत 'भाग्यवती' (१८७७) कथाप्रधान रचना है। शुक्लजी ने इसे हिन्दी का प्रथम उपन्यास मान कर इसके महत्व की ओर संकेत किया है। 'भाग्यवती' का प्रकाशन भारत के एक विशिष्ट वातावरण में हुआ। अंग्रेजी शिक्षा और सभ्यता के कारण भारतीय जीवन में एक चेतना का दर्शन होता है और स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार होने के कारण समाज में उनका महत्व बढ़ने लगा। स्त्रियों के सामने नये-नये आदर्श रखे गए और उनकी उन्नति की दृष्टि से अनेक उपायों की योजना होने लगी। इसी समय पं० श्रद्धाराम फुल्लोरी ने भारत खंड की महिलाओं को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने के लिए यह उपन्यास लिखा। वस्तुतः यह कृति एक उद्देश्य-प्रधान तथा प्रचारात्मक रचना है और स्त्रियों की सर्वांगीण उन्नति करने की दृष्टि से ही उसका प्रकाशन किया गया। लेखक ने यह बात 'भाग्यवती' की भूमिका में इस प्रकार स्पष्ट की है—'बहुत दिनों से इच्छा थी कि कोई ऐसी पोथी हिन्दी भाषा में लिखूँ कि जिसके पढ़ने से भारत खंड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो।'

'भाग्यवती' का प्रकाशन अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इसमें भारतीय कथा-शैली का सुबोध तथा परिमार्जित रूप मिलता है और भाषा का प्रयोग इस ढंग से उपस्थित किया है कि दिल्ली, आगरा, सहारनपुर, अंबाला, पंजाब आदि प्रदेश के स्त्री-पुरुष भी इसे समझ सकें। इस उपन्यास की नायिका 'भाग्यवती' द्वारा लेखक ने संपूर्ण कथानक सामने रखा है। स्त्री-शिक्षा की यह अपूर्व पुस्तक है, जिसमें स्त्रियों को योग्य

उपदेश देकर उनमें धैर्य, उत्साह, सदाचार आदि गुणों का आदर्श दिखाकर तत्कालीन आदर्श स्त्री-चरित्र पाठकों के सामने रखे हैं। लेखक ने 'भाग्यवती' पात्र का चरित्र-चित्रण ऐसे कलात्मक ढंग से चित्रित किया है कि उसकी चतुराई के कारण उसके व्यक्तित्व का प्रभाव उपन्यास के अन्य पात्रों के स्वभाव-चित्रण में दिखाई देता है। 'भाग्यवती' के चरित्र-चित्रण की यह भी एक विशेषता है कि उसकी हरएक कृति में किसी न किसी आदर्श की स्थापना मिलती है और इससे लेखक का उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाता है। लेखक ने इसकी कथा-वस्तु का संकलन इस ढंग से रखा है कि पाठक के मन में एक प्रकार कुतूहल तथा आगे की कथा पढ़ने का आकर्षण बढ़ जाता है। इसमें कथावस्तु का धारा-प्रवाह मिलता है और एक सरल कथानक का विकास सुबोध भाषा में हुआ है। उपन्यास में चारों ओर धार्मिक वातावरण मिलता है तथा लेखक ने इसके अन्त का भी मुक्ति की व्याख्या करने में उपयोग करके परमेश्वर की भक्ति के बिना मुक्ति के लिए और कोई दूसरा श्रेष्ठ उपाय नहीं माना है और इस बात का संकेत करके मनुष्य को सदा ज्ञान और वैराग्य से मुक्त रहने की शिक्षा दी है। इस प्रकार इसमें भारतीय ढंग की एक सामाजिक कथा मिलती है, इसलिए उसे भारतीय ढंग के एक सामाजिक उपन्यास के रूप में देखना चाहिए। इसमें अंग्रेजी या बंगला उपन्यास की परंपरा का प्रभाव दिखाई नहीं पड़ता परन्तु हिन्दी उपन्यास-साहित्य के प्रारंभिक काल में यह एक महत्वपूर्ण रचना मानी जा सकती है।

जिस समय शिक्षा-प्रचार के उद्देश्य के रूप में 'वामा शिक्षक' (१८७२) और 'भाग्यवती' (१८७७) का निर्माण हुआ था उसी समय 'हरिश्चन्द्र मैगेजीन' (१८७३), हरिश्चंद्र चन्द्रिका और मोहन चंद्रिका' (प्रकाशन काल १८७४ के आसपास) आदि पत्रिकाओं में बंगला से अनूदित उपन्यासों का धारावाहिक रूप में प्रकाशन होने लगा। 'हरिश्चन्द्र मैगेजीन' में बंगला से अनूदित 'कादंबरी' का धारावाहिक रूप में प्रकाश हो रहा था। इसी प्रकार राधाचरण गोस्वामी द्वारा अनूदित 'बिंदो-चतुरा' (उपन्यास) का प्रकाशन 'हरिश्चंद्र चंद्रिका और मोहन-चंद्रिका' में सन् १८८१ से धारावाहिक रूप में हो रहा था। सन् १८८२ में गदाधर सिंह ने बंकिमचंद चट्टोपाध्याय के 'दुर्गेशनंदिनी' (१८६५) उपन्यास का हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित किया। इस प्रकार 'वामा शिक्षक', 'भाग्यवती', 'कादंबरी', 'बिन्दो-चतुरा', 'दुर्गेशनन्दिनी' आदि के द्वारा हिन्दी उपन्यास-साहित्य के निर्माण के लिए एक पार्श्वभूमि तैयार होने लगी। इसी समय लाला श्रीनिवासदास कृत अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' (१८८२) प्रकाशित हुआ।

'भाग्यवती' के बाद प्रथम मौलिक उपन्यास के रूप में 'परीक्षा गुरु' (१८८२) का निर्माण हुआ। 'भाग्यवती' के बाद केवल पाँच वर्ष की अवधि में इस प्रकार के मौलिक तथा उत्कृष्ट उपन्यास की रचना होना हिन्दी उपन्यास साहित्य के इतिहास

में एक महत्वपूर्ण घटना है। यह भी एक शिक्षा-प्रधान तथा उद्देश्य-प्रधान रचना है, परन्तु इसमें जीवन की वास्तविकता की ओर अधिक ध्यान रखा गया है। लेखक ने अपनी कृति का नाम 'परीक्षा गुरु' रख कर अपने उपन्यास-कौशल का परिचय दिया है और इस नाम के संकेत का अर्थ भी इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

> **"जो बात सौ बार समझाने से समझ में नहीं आती वह एक बार की परीक्षा से भलीभाँति मन में बठ जाती है और इसी वास्तै लोग परीक्षा को 'गुरु' मान्ते हैं।"[१]**

इसमें 'परीक्षा गुरु' के उद्देश्य का भी संकेत मिलता है। लेखक ने अपने उपन्यास की सफलता का भी संकेत अन्त में इस प्रकार दिया है :—

> **"जो सच्चा सुख, सुख मिलने की मृगतृष्णा सै मदनमोहन को अब तक स्वप्न में भी नहीं मिला था वही सच्चा सुख इस्समय ब्रजकिशोर की बुद्धिमानी सै परीक्षागुरु के कारण प्रामाणिक भाव सै रहने मैं मनमोहन को घर बैठे मिल गया।"[२]**

इस उद्धरण द्वारा उपन्यास के कथानक की ओर भी संकेत मिलता है जिसमें एक धनिक का अधःपतन दिखाया है। लेखक हिन्दी के एक प्रसिद्ध नाटककार हैं। इसलिए उपन्यास का आरंभ एक सौदागर के दूकान पर संवाद द्वारा हुआ है। उन्होंने अपने उपन्यास का आरंभ नाटकीय पद्धति के रूप में कर बीच-बीच में बड़े हृदयस्पर्शी संवादों की योजना की है। श्रीनिवासदास दिल्ली निवासी थे और मथुरा में सुप्रसिद्ध लक्ष्मीचंद की शाखा के व्यापारिक केन्द्र के मुनीम थे। इस पद पर काम करते-करते उन्हें जो कुछ अनुभव मिले थे उनका पूर्ण उपयोग उन्होंने अपनी इस कृति के निर्माण में किया है। इसलिए इस उपन्यास में जीवन की वास्तविकता तथा व्यावहारिक ज्ञान की अधिकता कथानक की बीच-बीच में दिखाई देती है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह उपन्यास अपनी विशेषता प्रकट करता है। कथानक की अपेक्षा इसका चरित्र-चित्रण बहुत ही अच्छा है। इस उपन्यास के पात्र चुन्नीलाल, पुरुषोत्तमदास, बैजनाथ, हकीम अहमद हुसैन आदि का चरित्र-चित्रण लेखक की चतुराई का परिचय देता है। लाला मनमोहन और ब्रजकिशोर के चरित्र-चित्रण में लेखक के विविध अनुभवों का परिचय मिलता है और ये दो पात्र अपना अलग-अलग व्यक्तित्व पाठकों के सामने रखते हैं। कथानक के विविध प्रसंगों और पात्रों की विशेषताओं का सामंजस्य करने की निपुणता लेखक में दिखाई पड़ती है, परन्तु लेखक ने जिस चतुराई से इस उपन्यास के चरित्रों का उद्घाटन किया है उसी प्रकार का कौशल कथानक की घटनाओं के विकास में नहीं मिलता।

---

१. सं० डा० श्रीकृष्णलाल—'श्री निवास ग्रंथावली' (प्रथम संस्करण) पृ० २९१

२. सं० डा० श्रीकृष्णलाल—'श्रीनिवास ग्रंथावली, (प्रथम संस्करण) पृ० ४२४

'परीक्षा गुरु' के लेखक की यह भी एक विशेषता है कि वे अंग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी और उर्दू भाषा के ज्ञाता हैं। इसके निर्माण में उन्होंने बहुत परिश्रम किया है और अनेक ग्रंथों का अध्ययन भी। फिर भी लेखक ने अपनी रचना की मौलिकता के बारे में 'परीक्षागरु' के 'निवेदन' में इस प्रकार स्पष्ट लिखा है:—

**"इस पुस्तक के रचने में मुझे महाभारतादि संस्कृत, गुलिस्तां वगैरे फारसी, स्पेक्टेटर, लार्ड बेकन, गोल्ड स्मिथ, विलियम कूपर आदि पुराने लेखों और स्त्रीबोध आदि के वर्तमान रिसालों से बड़ी सहायता मिली है.... "**

इससे स्पष्ट है कि उन्होंने हिन्दी, उर्दू, फारसी, संस्कृत और अंग्रेजी भाषाओं के अनेक ग्रंथों का अध्ययन किया है और इस उपन्यास पर उसका प्रभाव मिलता है। इसका प्रारंभ बड़े ही नाटकीय ढंग से हुआ और उसके कारण उपन्यास के रचना-विधान में एक अपूर्व नवीनता मिलती है। ये सब बातें अंग्रेजी साहित्य के संपर्क में आने के कारण हुई हैं। इसलिए इस उपन्यास को अंग्रजी ढंग की शैली का प्रथम मौलिक उपन्यास माना जा सकता है।

'परीक्षा-गुरु' उपन्यास से पता लग सकता है कि हिन्दी का प्रारंभिक कथा-साहित्य बाहरी प्रभाव से प्रस्फुटित हो रहा है। हिन्दी-उपन्यास के इस प्रारंभिक युग में संस्कृत, बंगला आदि भाषाओं से अनूदित रचनाओं द्वारा नई-नई प्रवृत्तियों का प्रभाव उपन्यास के अन्तरंग पर पड़ने लगा। विशेषत: बंगला से अनेक उपन्यासों का अनुवाद हिन्दी में हुआ। बंगला के उपन्यासों का अनुवाद करने का आरंभ गदाधर सिंह ने और राधाचरण गोस्वामी ने किया और बाद में राधाकृष्ण दास, रामशंकर व्यास, किशोरी लाल गोस्वामी, विजयानंद त्रिपाठी, उदितनारायण लाल वर्मा, राधिकानाथ बन्द्यो-पाध्याय, प्रतापनारायण मिश्र आदि ने अनेक उपन्यासों का अनुवाद किया। इन अनूदित उपन्यासों में 'दुर्गेशनन्दिनी' (१८८२), 'राधा रानी' (१८८३), 'मधुमती' (१८८६), 'प्रेममयी' (१८८९), 'सच्चा सपना' (१८९०) 'दीपनिर्वाण' (१८९१), 'कपाल-कुण्डला' (१८९४), 'राजसिंह' (१८९४) आदि उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। ये सब उपन्यास बंगला की श्रेष्ठ कृतियां हैं और हिन्दी के कथा-साहित्य के विकास की दृष्टि से उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके द्वारा हिन्दी उपन्यासों में नवीनता के लक्षण दिखाई देने लगे और भाषा में प्रौढ़ता आई। हिन्दी के उपन्यास-साहित्य के विकास की दृष्टि से ही नहीं उसकी समृद्धि की दृष्टि से भी बंगला से अनूदित उपन्यासों को महत्वपूर्ण स्थान देना चाहिए। पंडित नर्मदाप्रसाद मिश्र और पंडित रामप्रसाद मिश्र ने अपने 'हिन्दी में उपन्यास' शीर्षक निबंध में इन अनूदित उपन्यासों के महत्व के बारे में उस समय इस प्रकार लिखा है:—

**"हम यह भी कह सकते हैं कि यदि आज हिन्दी से अनुवादित उपन्यास अलग**

**कर दिये जायँ, तो कदाचित् दो चार मौलिक उपन्यासों को छोड़ ऐसे उपन्यास ही न मिल सकेंगे जिन्हें हम उपन्यास कह सकें।"[1]**

इससे स्पष्ट लगता है कि हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में अनूदित उपन्यासों को महत्वपूर्ण स्थान है। इनमें बंगला के उपन्यासों की संख्या अधिक है। उससे यह भी कहा जा सकता है कि बंगला उपन्यासों का अनुवाद हिन्दी में होने के कारण हिन्दी का उपन्यास आगे बढ़ता हुआ दिखाई देता है।

बारबार यह भी सुनाया जाता है कि बंगला के उपन्यासों के कारण हिन्दी के उपन्यासों का विकास हुआ। हिन्दी का 'उपन्यास' शब्द ही बंगला का है। अंग्रेजों के प्रभाव के कारण पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता का प्रचार पहले तो बंगाल में हुआ और वहाँ से साहित्य के द्वारा नवीन विचार-धारा का प्रवाह हिन्दी प्रदेश में आने लगा। बंगला में उपन्यास लिखने का पहला प्रयत्न प्रतापचंद्र घोष ने अपना 'वंगाधिप-पराजय' (Vangadhipa-parajay) नामक रचना सन् १८५० में लिखकर किया। यह उपन्यास अंग्रेजी उपन्यास 'Ivanhoe' से प्रभावित है परन्तु यह बंगला की पहली रचना है जिसका निर्माण अंग्रेजी उपन्यासों के अनुसार हुआ है।† उसके बाद टेकचन्द का 'अलालेर घरेर दुलाल' नाम का उपन्यास मिलता है और इसे बंगला का पहला साहित्यिक उपन्यास माना जाता है। बंगला के प्रसिद्ध उपन्यास बंकिम चटोपाध्याय ने अपने 'दुर्गेशनन्दिनी' की रचना सन् १८६५ में की और गदाधर सिंह ने उसका अनुवाद हिन्दी में सन् १८८२ में किया। इस प्रकार बंगला उपन्यास-साहित्य की धारा का प्रवेश 'परीक्षा गुरु' के रचनाकाल में (१८८२) में हुआ।

जब हिन्दी में पहला मौलिक उपन्यास लिखा गया तब बंगला उपन्यास-साहित्य अपनी विकसित परम्परा में आगे बढ़ रहा था। बंगाल में शिक्षा का प्रचार बड़े जोर से हो रहा था और बंगाली समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे थे इसलिए तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब उनके उपन्यासों में मिलता था। देश-काल के अनुसार उसके साहित्य में नवीन विचारों का प्रवेश हो रहा था। भारत में राज-

---

**१. 'हिन्दी में उपन्यास'—षष्ठ-हिन्दी-साहित्य सम्मेलन (प्रयाग, संवत् १९७२) कार्यविवरण, दूसरा भाग, पृ० ४२**

**† While English stories continued to be translated or adopted, the model of the English novel was also followed in form. The Vangadhipa-parajaya by Pratap Chandra Ghose is a typical example;..The book was commended as novel, because it conformed to the standard of novels in nineteenth century England,...... Priyaranjan Sen : Western Influence in Bengali Literature. Second edition (1947), Page 222.**

नैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आदि आन्दोलनों को प्रेरणा देने का कार्य उनके साहित्य द्वारा हो रहा और अनेक मौलिक तथा सामाजिक उपन्यासों का निर्माण हो रहा था। परन्तु यह बात तत्कालीन हिन्दी उपन्यास-साहित्य में नहीं मिल पाती। हिन्दी-प्रदेश की जनता में शिक्षा का प्रचार अधिक परिमाण में नहीं हुआ और बाहरी विचारों को आत्मसात करने की प्रवृत्ति लोगों में दिखाई नहीं पड़ती। जनता केवल मनोरंजन चाहती थी, इसलिए सामाजिक तथा शिक्षा-प्रधान उपन्यासों की अपेक्षा तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों का प्रचार लोगों में था। उस समय जनता में 'गुलबकावली', 'बैताल पच्चीसी', 'किस्सा तोता मैना', 'छबीली भटियारिन' 'तिलस्म-इ-होशरूबा' आदि कथा-साहित्य का प्रचार था। इनमें अधिकतर कहानियाँ वासनामयी और जादूभरी थीं और उनमें जनता में साहित्यिक रुचि निर्माण करने की योग्यता नहीं थी। इन काल्पनिक कहानियों में मनुष्य के असली जीवन का चित्रण नहीं था। इसलिए उनके द्वारा मनोरंजन के सिवा और किसी भी प्रकार का लाभ जनता को नहीं होता था। परन्तु 'छबीली भटियारिन', 'गुल बकावली' आदि कहानियों में कथा-तत्व का जो सौन्दर्य मिलता है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इनमें कथा का प्रवाह अबाध गति के साथ चलता है और साधारण जनता का मनोरंजन हो जाता है। इन कहानियों के पाठकों की रुचि के परिष्कार करने की दृष्टि से किसी नए वाङमय-प्रकार का जन्म नहीं हो सका था। ऐसी परिस्थिति में बंगला, अंग्रेजी, उर्दू, संस्कृत आदि भाषाओं के कथा-साहित्य का अनुवाद होना बिलकुल ही स्वाभाविक था।

हिन्दी में बाह्य-साहित्य का अनुवाद करने का कार्य भारतेन्दु द्वारा प्रारम्भ हुआ। उन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी में सामाजिक, धार्मिक आदि उपन्यासों की आवश्यकता का अनुभव किया और बंगला का 'पूर्णप्रकाश चंद्रप्रभा' हिन्दी में अनूदित तथा संशोधित करके छपवाया। उन्होंने उपन्यास की शैली पर 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' (१८७६) रचना संस्मरण के रूप में लिखकर उपन्यास की चरित-शैली का सूत्रपात किया। उनकी शैली का रूप उसमें इस प्रकार प्रकट हुआ है—

> "इन सबों में से एक मनुष्य को आप लोग पहचान रखिए, इससे बहुत काम पड़ेगा। यह नाटा खोटा अच्छे हाथ पैर का साँवले रंग का आदमी है, बड़ी मोंछ, छोटी आँखें, कछाड़ा कसे, लाल पगड़ी बाँधे, हरा दुपट्टा कमर में लपेटे सफेद दुपट्टा ओढ़े, जात का कुनबी है। इसका नाम होली है। होली आजकल मेरे बहुत मुँह लग रहा है, इसी से जो बात किसी को मुझ तक पहुँचानी होती है वह लोग उससे कहते हैं। रेवड़ी के वास्ते मसजिद गिरानी इसी का काम है।"[1]

---

१. 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती'—'भारतेन्दु-ग्रंथावली', तीसरा खंड', प्रथम संस्करण (सं० २०१०), पृ० ८७५

इसमें उपन्यास की चरित-शैली का दर्शन मिलता। वे उपन्यास की ओर आकर्षित हुए थे परन्तु बंगाल की यात्रा के कारण उनके मन में नाटक-साहित्य के प्रति रुचि बढ़ गयी और उपन्यास-साहित्य की उन्नति की ओर कम ध्यान देने लगे। परन्तु उन्होंने अपने काल के उपन्यासकारों को बराबर प्रेरणा देकर उनके द्वारा अच्छे-अच्छे उपन्यास लिखवाए।

इन सब बातों से पता लगता है कि हिन्दी का 'उपन्यास-साहित्य' अनूदित उपन्यासों द्वारा प्रभावित रहा है और उस पर बंगला के उपन्यासों का प्रभाव अधिक मात्रा में दिखाई देता है। परन्तु इस बात को भी मानना पड़ेगा कि हिन्दी का उपन्यास-साहित्य बाहरी साहित्य से प्रभावित होकर अपने स्वाधीन विकास के लिए संघर्ष कर रहा है और उसके पीछे भारतीय कथा-साहित्य की परम्परा भी एक प्रेरणा के रूप में कार्य कर रही है। यह भी सुना जाता है कि 'उपन्यास' शब्द भी बंगला का है। परन्तु इसके लिए कोई निश्चित प्रमाण नहीं दिखाई देता।

'उपन्यास' शब्द संस्कृत का है। अमरकोष में उपन्यास ('उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्') को वाङ्मुख बताया है, अर्थात् किसी बात का उपक्रम करना ही उपन्यास है। विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य दर्पण' में भाणिका में सात अंगों का होना आवश्यक माना है और उनमें एक अंग उपन्यास। (उपन्यासः प्रसगेन भवेत्कार्यं स्वकीर्तनम्) इत्यादि माना है। परन्तु भाणिका में गद्य-काव्य का भेद नहीं है और उसके अनुसार उपन्यास दृश्यकाव्य है, परन्तु उसे गद्य-काव्य भी कहा जाता है। देखिए—

**गद्यकाव्य अथवा उपन्यास**

**"गद्यकाव्य" "साहित्य दर्पण" में दो प्रकार के, 'अग्नि पुराण' में पाँच प्रकार के माने गये हैं परन्तु पहले के दो ग्रंथों में कहीं पर गद्य काव्य के लिये उपन्यास शब्द व्यवहृत नहीं हुआ है, अन्तिम ग्रंथ में श्री अम्बिकादत्त व्यासजी ने लिखा है कि "प्राचीन में उपन्यास पद गद्यकाव्य वाचक न मिले तौ भी अब यह शब्द ऐसा ही हो गया है" इत्यादि।"**[१]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'उपन्यास' शब्द का अर्थ बदलता रहा है। उपन्यास शब्द का अर्थ हिन्दी विश्वकोश में लिखा है—'उपकथा, सुनने और पढ़नेवाले का दिल खुश करने के लिए बनाकर लिखा हुआ किस्सा।'

प्रामाणिक हिन्दी कोष में उपन्यास का यह भी अर्थ मिलता है—'अध्यायों या प्रकरणों में लिखी हुई वह कल्पित और बड़ी आख्यायिका जिसमें बहुत-से पात्र और विस्तृत तथा सम्बद्ध घटनाएँ हों। (नावेल) उपन्यास का अंग्रेजी रूप नावेल है जिसका संकेत नवीन, तरुण, अभिनव आदि शब्दों में मिल सकता है। अंग्रेजी के

---

१. 'समालोचक', भाग १, अंक २, सितंबर, १९०२, पृ० ९

'नावेल' (Novel) शब्द के भी अर्थ बदलते रहे हैं। यही बात 'उपन्यास' शब्द के बारे में हुई है। समालोचक में प्रकाशित गद्यकाव्य अथवा उपन्यास (१९०२) शीर्षक निबंध में इस पर निर्णय मिलता है—

**"दृश्य काव्य में प्रसंग से कार्य के कीर्तन को और अन्यत्र वाङमुख अर्थात् वचनारंभ को उपन्यास कहते हैं। अतएव संस्कृत में उपन्यास शब्द का अर्थ गद्यकाव्य (विशेष) नहीं है और यह शब्द संस्कृत ही का है। बंगाल, पश्चिमोत्तर राजपुताना, सिन्धु, मालवा, मध्यप्रदेश, उत्कल देश, गुजरात और पंजाब में प्रायः गद्यकाव्य विशेष (नावेल) को उपन्यास कहते हैं किन्तु इस नाम के होने का कारण कोई नहीं बतलाता।"[1]**

इससे कहा जा सकता है कि उपन्यास शब्द एक विशिष्ट परम्परा लेकर हिन्दी में उसका अंग्रेजी के 'नावेल' के अर्थ में प्रचलन होने लगा। हो सकता है बंगला के अनुकरण के कारण हिन्दी में उसका प्रयोग होन लगा। मराठी में 'उपन्यास' के लिए 'कादंबरी' शब्द का प्रयोग होता है परन्तु 'कादंबरी' और 'उपन्यास' शब्दों का संकेत अंग्रजी शैली के नावेल (Novel) रचना की ओर ही दिखाई देता है। इस लिए यह कहा जा सकता है कि हिन्दी उपन्यास मूलतः अंग्रजी साहित्य की देन है जो बंगला के द्वारा हिन्दी को मिली। भारत में अंग्रेजों का आगमन होने के बाद अंग्रेजी शिक्षा, पाश्चात्य सभ्यता, अंग्रेजी पद्धति की रहनसहन, अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन आदि के कारण एक नया वातावरण तैयार हुआ और आधुनिक विचारधारा का प्रवेश भारतीय जीवन में होने लगा। मुद्रणकला के आविष्कार के कारण अनेक ग्रंथों का प्रकाशन होने लगा और साहित्य का प्रचार जनता में होने लगा। इन प्रकाशित किताबों द्वारा जनता में मनोरंजन होने लगा और मनोरंजक किताबों की माँग सर्वत्र होने लगी। कथा-साहित्य के द्वारा जनता का मनोरंजन होने के कारण 'प्रिंटिग प्रेस' के मालिक वेतनभोगी लेखकों द्वारा पुस्तकें लिखकर छपवाते थे और जनता उन्हें खरीदती भी थी। इन किताबों में कथा-साहित्य को महत्व का स्थान मिला था और "गुलबकावली', 'छबीली भटियारिन' आदि जैसी कहानियों की किताबें प्रकाशित होती थीं। शिक्षा का प्रचार करने की दृष्टि से जो कथात्मक साहित्य प्रकाशित किया जाता था उनमें उपदेशात्मक बातों को महत्वपूर्ण स्थान मिला था। 'वामाशिक्षक', 'भाग्यवती' आदि उपदेश प्रधान रचनाएँ प्रकाशित होती थीं। इस प्रकार के उद्देश्य-प्रधान रचनाओं की भाषा बहुत ही सीदी-सादी होती थी और उनके द्वारा मनोरंजन के साथ जनता को शिक्षा भी मिलती थी। भारतेन्दु के साहित्य से हिन्दी उपन्यास-साहित्य प्रभावित रहा है और जनता उपन्यास की ओर आकर्षित हुई। इस प्रकार सबसे अधिक

---

१. 'समालोचक'—भाग १, अंक २, सितंबर, १९०२, पृ० ९

महत्वपूर्ण साहित्य-रूप का आदर्श 'उपन्यास' में मिलने लगा। अतः डा० श्रीकृष्णलाल के शब्दों में कहा जा सकता है—

**"साधारण जनता के हृदय में कुतूहल वृत्ति जगाने वाला, साधारण साक्षर जनता का आश्रय लेकर पनपने वाला यह साहित्य-रूप, आधुनिक जनतंत्र का प्रतिनिधि है जिसमें साधारण जनता की आशा, आकांक्षा साकार हो उठती है।"[1]**

'परीक्षा गुरु' के बाद ठाकुर जगमोहन सिंह ने गद्य-पद्य-मिश्रित 'श्यामा-स्वप्न' (१८८५) शीर्षक स्वप्न-उपन्यास लिखा। इसका कथानक चार खंडों में विभाजित है और रचना की पद्धति में आदर्शवाद की स्थापना की है। इसकी नायिका 'श्यामा' और नायक 'कमलाकान्त' आदर्श प्रेमी हैं। लेखक ने आदर्श प्रेम की व्याख्या करने के लिए रीतिकालीन परम्परा का आश्रय लिया है। इसलिए इस प्रणय-कथा में श्रृंगारिक भावना का वातावरण सर्वत्र मिलता है। जान पड़ता है लेखक ने इसे एक मौलिक उपन्यास (an original novel) अर्थात् 'गद्य प्रधान, चार खंडों में एक कल्पना' की संज्ञा दी है। अम्बिकादत्त व्यास ने इसे 'गद्यकाव्य' माना है। डा० श्रीकृष्णलाल ने अपना निर्णय इस रूप में दिया है—

**"सब मिलाकर ठाकुर जगमोहन सिंह का 'श्यामा स्वप्न' भारतेन्दु युग की एक विशिष्ट रचना है। एक ओर इसमें रीतकालीन वातावरण, भाषा और भाव का सुन्दर प्रतिनिधित्व है दूसरी ओर इसमें आधुनिक युग की आधुनिकता—गद्य का प्राधान्य और विद्रोह के स्वर के भी दर्शन होते हैं। यह सच है कि इस रचना को गद्य की अपेक्षा काव्य कहना ही अधिक समीचीन है फिर भी इसमें गद्य लिखने की ओर प्रवृत्ति तो है ही।"[2]**

कुछ भी हो 'श्यामा स्वप्न' हिन्दी के उपन्यास के शैशवकाल की एक अपने ढंग की विशिष्ट रचना है। इसमें संस्कृत और हिन्दी काव्य परम्परा का दर्शन मिलता है। इसकी महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें रीतिकालीन श्रृंगारिक परम्परा के वातावरण के साथ काव्यात्मक उपन्यास शैली का प्रयोग किया है। यह भी कहा जाता है कि इसमें भातीय कथा-साहित्य की परम्परा का आधुनिक रूप मिलता है।

भारतेन्दु युग की यह एक विशेषता है कि इसमें उद्देश्य-प्रधान तथा शिक्षा-प्रधान रचनाओं की भरमार है। 'वामा शिक्षक', 'भाग्यवती', 'परीक्षा-गुरु' आदि रच-

---

**१. सं० डा० श्रीकृष्णलाल—'श्यामा स्वप्न', प्रथम संस्करण, संवत् २०७०, पृ० ७५**

**२. सं० डा० श्रीकृष्णलाल—'श्यामा स्वप्न', प्रथम संस्करण, संवत् २०७० पृ० ३६**

नाओं के निर्माण में लेखक का कोई न कोई एक विशेष उद्देश्य मिलता है। इस परम्परा का दर्शन पं० बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' (१८८६) और 'सौ अजान और एक सुजान' (१८९१) इन दो उपन्यासों में मिलता है। ये दोनों कृतियाँ उपदेश-प्रधान रचनाएँ हैं। लेखक ने 'नूतन ब्रह्मचारी' के निवेदन में अपनी रचना का उद्देश्य इस प्रकार प्रकट किया--

**"हमारी यह पुस्तक के पढ़ने से पाठकों को अवश्य मालूम हो जायगा कि हमारे बालकों को पढ़ाने के लिए यह कितनी शिक्षाप्रद है और शिक्षा विभाग में जारी होने से हमारे कोमल बुद्धिवाले बालकों को कितनी उपकारी हो सकती है।"..**

यह आख्यायिका की शैली पर लिखा हुआ लघु-उपन्यास दिखाई पड़ता है। एक सुशील तथा चरित्रवान् बालक के रूप में 'विनायक' नाम के पात्र का चरित्रचित्रण बहुत सुन्दर ढंग से किया गया है। इसमें विनायक और डाकुओं का सरदार दो पात्र अत्यन्त महत्व के हैं और इनके चरित्र-चित्रण द्वारा बालकों के चरित्रवान् होने की आवश्यकता पर जोर दिया। सरदार के एक कथोपकथन द्वारा 'विनायक' पात्र के चरित्र पर प्रकाश डाला है। सरदार के निम्नलिखित कथन में लेखक के उद्देश्य की सफलता का दर्शन मिलता है--

**"विनायक! तुम्हारे माता पिता को धन्य है। निस्सन्देह तुम्हारा सा सुशील बालक पाकर वे बड़भागी हैं। वे आयें तो उनसे कहना कि आज तीन डाकू जिन्होंने बड़े-बड़े बहादुरों से हथियार रखवा लिये थे यहाँ लूटने को आये थे पर तुमने उनके साथ ऐसी अच्छी रीति से बर्ताव किया कि उनके सरदार का मन फिर गया और उन लोगों की हिम्मत लूटने की न पड़ी। भगवान तुम्हारी कुशल करे और तुम्हारी सब तरह से रक्षा करे तपोधन पूज्य पिताजी से कह देना कि वे दो दिन बाद फिर तुम्हारा दर्शन करेंगे।"[1]**

सरदार का यह भाषण 'विनायक' पात्र के चारित्र्य का विश्लेषण करता है। बालकों को नैतिक आदर्श की शिक्षा देने की दृष्टि से यह पुस्तक अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस प्रकार अजान को सुजान बनाने के लिए भट्ट जी ने 'सौ अजान और एक सुजान' उपन्यास लिखा और 'चन्दू' पात्र में आदर्श गुणों की स्थापना करके पाठकों को सुजान बनने का संदेश दिया है। उपन्यास के अन्त में इसका संकेत स्पष्ट रूप में मिलता है--

**"अन्त को हम अपने पढ़ने वालों को सूचित करते हैं कि आप लोगों में यदि कोई अबोध तथा अजान हो तो हमारे उपन्यास को पढ़ आशा करते हैं सुजान बनें,**

---

१. पं० बालकृष्ण भट--'नूतन ब्रह्मचारी' द्वि० संस्करण, संवत १९५०, छठवाँ परिच्छेद, पृ० २४

**इस किस्से के अजानों को सुजान करने को चंद्र था और आप लोगों हमारा यह उपन्यास होगा।"**

नैतिक आदर्शों की शिक्षा देने वाले भट्टजी के ये दोनों उपन्यास शिक्षा-प्रधान उपन्यासों की श्रेणी में आते हैं, परन्तु इनमें मनोरंजन की मात्रा कम होने के कारण इस प्रकार की उद्देश्य-प्रधान रचनाओं की परम्परा बाद में विकसित न हो सकी।

पं० बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' के बाद किशोरीलाल गोस्वामी का 'स्वर्गीय कुसुम' (१८८९), राधाकृष्णदास का 'निस्सहाय हिन्दू' (१८९०), अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'प्रेमकान्ता' (१८९२), रत्नचंद प्लीडर का 'नूतन चरित्र' (१८९३), अम्बिकादत्त व्यास का 'आश्चर्य-वृतान्त' (१८९३), देवकीनंदन खत्री का 'चंद्रकान्ता' (१८९२) आदि महत्वपूर्ण उपन्यास इस काल में लिखे गए।

हिन्दी उपन्यास साहित्य के इस काल विभाग में किशोरीलाल गोस्वामी का उदय एक विशेष घटना है। उन्होंने सामाजिक, ऐतिहासिक और जासूसी उपन्यास लिखे। उन्होंने छोटे-बड़े ६५ उपन्यास लिखकर हिन्दी उपन्यास-साहित्य को समृद्ध किया। 'स्वर्गीय कुसुम' या 'कुसुम कुमारी' (१८८९), 'हृदयहारिणी वा आदर्श-रमणी' (१८९०), 'त्रिवेणी' (१८९०), 'लवंगलता या आदर्शबाला' (१८९०) आदि उपन्यास महत्व के हैं। उनके उपन्यासों के नामकरण से ही पता लगता है कि सब के मूल में कोई न कोई स्त्री या प्रणयिनी है और प्रायः सब नायिकाएँ सुन्दरी हैं। उनके उपन्यास में यथार्थ चित्रण नहीं मिलता। वे प्रधानतया नायक-नायिका के उपन्यास हुए हैं। उनके हरएक उपन्यास में किसी रूप में शृंगारिक भावना का परि-पोषण हुआ है।

किशोरीलाल गोस्वामी ने अनेक सामाजिक उपन्यास लिखे लेकिन उनमें तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्रण नहीं मिलता। इस दृष्टि से राधाकृष्णदास का 'निस्सहाय हिन्दू' (१८९०) हिन्दी का पहला यथार्थवादी उपन्यास है। लेखक ने अपना यह उपन्यास केवल सोलह वर्ष की अवस्था में हरिश्चन्द्र भारतेन्दु की आज्ञा-नुसार लिखा था। उन्होंने जीवन में जो कुछ देखा उसका यथार्थ रूप अपनी इस रचना में चित्रित किया। इसमें बनारस का वर्णन बहुत ही यथार्थ रूप में चित्रित किया है जिसमें बनावट का नाम तक नहीं मिलता। गो-वध की समस्या सामने रखकर ही यह उपन्यास लिखा है। इसी प्रकार अम्बिकादत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तान्त' एक काल्पनिक भ्रमण कहानी है जिसमें एक व्यक्ति गया से काशी होते चित्रकुट तक प्रवास करता है और रास्ते में उसे जो अनुभव आये उनका विवरण देता है। इसके बाद देवकीनंदन खत्री का महत्वपूर्ण उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' (१८९२) लिखा गया। यह हिन्दी उपन्यास-साहित्य में एक नए युग का आरम्भ करता है।

कला की दृष्टि से देखा जाय तो इस काल के उपन्यासों में किसी विशिष्ट शैली या शिल्प का दर्शन नहीं दिखाई पड़ता। 'वामा शिक्षक', 'भाग्यवती', 'नूतन ब्रह्मचारी', निस्सहाय हिन्दू' आदि में कथावस्तु की धारा घटनाओं के साथ चलती रही है। उनमें पात्रों की संख्या कम है और चरित्र-चित्रण पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। अधिकतर रचनाएँ उद्देश्य-प्रधान होने के कारण साधुभाषा का प्रयोग हुआ है। 'परीक्षा गुरु' 'नूतन चरित' जैसे उपन्यासों में नवीनता के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। इस समय भाषा का कोई निश्चित रूप न होने के कारण सर्वसुलभ भाषा का ही प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार हिन्दी उपन्यास साहित्य के प्रारंभिक-काल पर विचार किया जा सकता है। इस काल में हिन्दी उपन्यास-साहित्य का प्रादुर्भाव पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव के कारण हुआ और यह प्रभाव बंगला के उपन्यासों द्वारा हिन्दी में आया। इस काल के उपन्यासों पर बाहरी प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है, परन्तु भारतीय कथा-साहित्य की शैली की दृष्टि से वह मुक्त नहीं है। राधाचरण गोस्वामी संपादित 'भारतेन्दु' (मासिक पत्र) में प्रकाशित 'वीरबाला' (१८८३) उपन्यास का आरम्भ इस प्रकार मिलता है—

**"शूरसेन देश में भद्रावती नाम नगरी राजधानी है, जिसमें पूर्वकाल से उत्तर-काल तक अग्निवंशी राजा राज्य करते आये हैं, जिनकी शूरवीर सेना के भय से ही लोग उस देश को शूरसेन कहते हैं।"**[1]

हिन्दी उपन्यास के प्रारंभिक-काल में 'वीरबाला' जैसे उपन्यास का आरम्भ भारतीय कथा-साहित्य की शैली का दर्शन देता है। परन्तु आठ-दस वर्ष के बाद इस प्रकार की शैली का दर्शन कम मिलता है। सन् १८९२ में प्रकाशित 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास का आरम्भ इस रूप में मिलता है—

**"शाम का वक्त है, कुछ कुछ लालिमा दिखाई दे रही है, सुनसान मैदान में एक पहाड़ी के नीचे दो शख्स बीरेन्द्रसिंह और तेजसिंह एक पत्थर की चट्टान पर बैठे आपुस में कुछ बातें कर रहे हैं।"**

'चन्द्रकान्ता' उपन्यास के आरम्भ में एक नई शैली का दर्शन होता है, परन्तु यह कृति केवल शैली की दृष्टि से ही नहीं हिन्दी उपन्यास-साहित्य के विकास में एक नए अंकुर का रूप दिखाती है।

### निर्माण-काल (सन् १८९१ से सन् १९१८ ई० तक)

देवकीनंदन खत्री का 'चन्द्रकान्ता' (१८९२) उपन्यास हिन्दी साहित्य के

---

१. **'भारतेन्दु' (मासिक पत्र) सं० राधाचरण गोस्वामी, २० जून, १८३, पृ० ४१।**

इतिहास में विकास की नई दिशा का निर्देश करता है। 'परीक्षा गुरु' (१८८२) के बाद यह एक महत्वपूर्ण उपन्यास है जिसके प्रकाशन के कारण पाठकों का ध्यान उपन्यास-साहित्य के प्रति आकर्षित हुआ। 'श्यामास्वप्न' (१८८५) 'आश्चर्य वृतान्त' (१८९३) आदि कृतियों का स्वागत जनता के द्वारा नहीं हो सका, क्योंकि इन कृतियों में जनता के मनोरंजन के लिए बहुत कम सामग्री थी और साथ इनकी भाषा के साहित्यिक होने के कारण सामान्य जनता उनका आनन्द न प्राप्त कर सकी। परन्तु देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्ता' (१८९२), 'चन्द्रकान्ता संतति' (१८९६), तथा 'भूतनाथ' के प्रकाशन के कारण उपन्यासों को पढ़ने वालों की संख्या बढ़ने लगी और हिन्दी का प्रचार होने में सहायता हुई।

उपन्यास के निर्माण की दृष्टि से यह काल-विभाग अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इसमें सामाजिक, तिलस्मी, जासूसी, भाव-प्रधान, ऐतिहासिक आदि अनेक प्रकार के उपन्यास लिखे गए। इसी प्रकार इस काल में बंगला, अंग्रेजी, मराठी आदि भाषाओं के अच्छे-अच्छे उपन्यासों का अनुवाद हुआ। इन अनूदित ग्रंथों में बंगला के उपन्यासों की संख्या अधिक मिलती है और पंचकौड़ी, नगेन्द्रनाथ गुप्त, बंकिमचंद्र, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, चंडीशरण सेन आदि उपन्यासकारों के उपन्यासों का अनुवाद अयोध्यासिंह उपाध्याय 'कृष्णकान्त का दानपत्र, (१८९८), बालेश्वर प्रसाद 'देवी' (१८९८), प्रतापनारायण मिश्र 'कपालकुंडला' (१९०१), 'अमरसिंह' (१९०७), ब्रजनंदन सहाय 'चन्द्रशेखर', (१९०७), किशोरीलाल गोस्वामी 'इंदिरा' (१९०८), जनार्दन झा 'माधवी कंकण' (१९१२), रुद्रनारायण 'राजपूत जीवन प्रभात' (१९१२), नाथूराम प्रेमी आदि लेखकों ने किया। इसी प्रकार अंग्रेजी और मराठी से भी उपन्यासों के अनुवाद हुए हैं परन्तु उनकी संख्या कम है। इस प्रकार अनूदित साहित्य के प्रकाशन के कारण हिन्दी के उपन्यासों में नवीनता के लक्षण दिखाई पड़ने लगे।

इस काल-विभाग में हिन्दी उपन्यासों का प्रचार करने की दृष्टि से अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। इस दृष्टि से 'उपन्यास' (१९०१), 'उपन्यास लहरी' (१९०२), 'उपन्यास सागर' (१९०३), 'उपन्यास कुसुमांजलि' (१९०४), 'उपन्यास बहार' (१९०७), 'उपन्यास प्रचार' (१९१२) आदि पत्रिकाएँ महत्वपूर्ण हैं।

इस काल के प्रमुख उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री, अयोध्यासिंह उपाध्याय, गोपालराम गहमरी, लज्जाराम शर्मा मेहता, ईश्वरी प्रसाद शर्मा, ब्रजनंदन सहाय आदि ने सामाजिक, ऐतिहासिक, तिलस्मी, जासूसी, भाव-प्रधान आदि प्रकार के उपन्यासों की रचना करके हिन्दी उपन्यास साहित्य को समृद्ध किया।

इस काल में देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों द्वारा लोगों का मनोरंजन अधिक हुआ। उनके 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता सन्तति' और 'भूतनाथ' अभी तक जनता का

मनोरंजन करते हैं। उनके उपन्यास उर्दू तिलस्मी उपन्यासों से प्रभावित हैं। उर्दू ने तिलस्मी का भाव फारसी कहानियों से लिया था और देवकीनंदन खत्री ने उर्दू के तिलस्मी उपन्यासों की शैली पर अपने उपन्यासों की रचना की। परन्तु उनके उपन्यास फारसी के तिलस्मों से कहीं अधिक अद्‌भुत तथा कौशलपूर्ण हैं। इन उपन्यासों में मनुष्य का मनोरंजन करने वाली अनेक आश्चर्यजनक तथा काल्पनिक घटनाओं का वर्णन मिलता है और पाठक स्वच्छंद क्रीड़ा के वातावरण का अनुभव करता है।

तिलस्मी उपन्यासों का कथानक घटना-प्रधान होता है और उसमें अनेक विस्मयजनक घटनाओं का कार्य-व्यापार कौशलपूर्ण ढंग से पाठकों के सामने रखा जाता है। लेखक अपने मन के अनुसार उसे घटाता-बढ़ाता है। आश्चर्यजनक घटनाओं और पात्रों द्वारा एक विस्मयजनक साहित्यिक सृष्टि निर्माण करने की अपेक्षा इन रचनाओं में दूसरा कोई महान् उद्देश्य दिखाई नहीं पड़ता। उनमें साधारण जनता के मनोरंजन पर ही जोर दिया जाता है। इस प्रकार के तिलस्मी तथा ऐय्यारी उपन्यासों की परम्परा आगे नहीं बढ़ सकी, परन्तु उपन्यास के प्रति पाठकों की कुतूहल वृत्ति का परिपोषण इन उपन्यासों द्वारा हुआ।

खत्री जी के उपन्यासों का संसार बड़ा अद्‌भुत तथा आश्चर्यजनक है। उनके 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता संतति' और 'भूतनाथ' कथा के एक सूत्र में बंधे हुए हैं। इनमें चरित्र-चित्रण, भावों पर घात-प्रतिघात, मानसिक संघर्ष, व्यक्ति, वैचित्र्य या यथार्थ जीवन की सजीवता नहीं मिलती। हरएक पात्र घटनाओं के चक्कर में फँसा हुआ मालूम होता है। हरएक पात्र का व्यक्तित्व एक निश्चित रूप में मिलता है और वह घटनाओं के प्रभाव के कारण इधर उधर दौड़ता रहता है। पात्रों के चारित्रिक विशेषताओं की यह कमजोरी पाठकों में कुतूहल की मात्रा बढ़ा सकती है लेकिन पाठक के मन पर किसी मानवीय आदर्श का प्रभाव जल्दी नहीं पड़ सकता। 'वीरेन्द्र सिंह', 'भूतनाथ' आदि पात्रों में उनके निश्चित गुणों की चारित्रिक विशेषता होने पर भी उनके व्यक्तित्व में सजीवता के दर्शन कम मिलते हैं। परन्तु 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-संतति' पढ़ने वालों की संख्या बढ़ती ही गई।

देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों का प्रचार जनता में हुआ और इसके अनेक कारण हैं। इन तिलस्मी उपन्यासों में अद्‌भुत तथा आश्चर्यकारक घटनाओं का वर्णन रहता है और उससे पाठकों का मनोरंजन हो जाता है और इस आश्चर्यजनक घटनाओं के वर्णन का प्रभाव उनके मन पर इतना पड़ता है कि वे इस नये वातावरण के स्वप्न में झूमते रहते हैं। इनमें अय्यारों का जो जीवन दिखाया है उसमें उनकी वीरता, कार्यपटुता, कौशल आदि का वर्णन विस्तार के साथ किया है। जनता में साहित्यिक रचनाओं के प्रति आकर्षण न होने के कारण इस प्रकार की मनोरंजक रचनाओं का स्वागत जनता द्वारा होना स्वाभाविक है। हिन्दी का थोड़ा ज्ञान

रखने वाले लोग भी इन रचनाओं को पढ़ते थे और उस समय ऐसे भी लोगों की संख्या मिलती है जिन्होंने केवल इन उपन्यासों को पढ़ने के लिए ही हिन्दी का ज्ञान प्राप्त किया।

तिलस्मी उपन्यासों में अय्यारों की अवतारणा हुई थी उससे साहसिक उपन्यास-साहित्य के निर्माण में सहायता मिली। साहसिक-उपन्यासों में ठगों और डाकुओं की सृष्टि रहती है। ये ठग या डाकू बड़े वीर तथा उदार हैं और अपने आदर्श के लिए मर मिटने के लिए तैयार रहते हैं। कई उपन्यास ऐसे भी मिलते हैं कि जिनमें पहले ठगों से विपरीत नायक मिलते हैं। वे भी बड़े साहसी तथा बहादुर होते हैं परन्तु उनका कार्य बड़ा कठोर तथा अमानुषिक होता है। इस प्रकार के उपन्यासों में और दो भेद किए जा सकते हैं—एक 'डकैती-उपन्यास' और दूसरा 'रहस्यपूर्ण साहसिक उपन्यास।' इन साहसिक उपन्यासों की परम्परा अंग्रेजी उपन्यासों द्वारा हिन्दी में आई और अनेक उपन्यासों का जन्म हुआ। बाद में इन साहसिक उपन्यासों में भारतवर्ष की स्वतंत्रता के लिए हिंसात्मक आन्दोलन का प्रचार होने लगा। साहसिक उपन्यास घटना-प्रधान होने के कारण उनमें पाठकों की कुतूहल वृत्ति की तृप्ति करने की शक्ति थी।

जनता में घटना-प्रधान उपन्यासों के प्रति बढ़ता हुआ आकर्षण देख कर गोपालराम गहमरी ने साहसिक उपन्यासों की शैली पर अपने जासूसी उपन्यास लिखे। जनता ने उनके उपन्यासों का इतना स्वागत किया कि उन्होंने 'जासूस' तथा 'गुप्तकथा' नामक पत्रिकाएँ निकालकर जनता में जासूसी साहित्य का प्रचार किया। 'बेकसूर की फाँसी' (१९००), 'खूनी कौन है' (१९००), 'जासूस की भूल' (१९०१), 'डबल बीबी' (१९०२), 'घर का भेदी' (१९०३), 'डाक्टर की कहानी' (१९०३), 'अद्भुत खून' (१९०६), 'भोजपुर की ठगी' (१९११), 'जाली बीबी' और 'डाकू साहब, (१९१४), 'जासूस की ऐयारी' (१९१४) आदि उनके उल्लेखनीय जासूसी उपन्यास हैं।

जासूसी साहित्य की यह एक विशेषता है कि उनमें कल्पना की अपेक्षा बुद्धितत्व को प्राधान्य दिया जाता है। कथानक में हरएक घटना की योजना इस ढंग से की जाती थी कि उसमें किसी भी घटना-स्थिति का थोड़ा भी बीज मिलते ही उसकी सहायता से किसी भी घटना, रहस्य आदि का पता लग सकता है। इसलिए इस काल के जासूसी उपन्यासकार अपने उपन्यासों का कथानक पाठकों के सामने इस ढंग से रखते थे कि उसके एक ही धागे के सहारे सारे उपन्यास का ढाँचा पाठकों के सामने उपस्थित हो जाय। गहमरी के उपन्यासों में यह विशेषता अधिक मात्रा में दिखाई देती है।

गहमरी के उपन्यासों की दूसरी विशेषता यह है कि उनकी रचनाओं में चरित्र-चित्रण को थोड़ा स्थान मिला है। उन्होंने पात्रों का चरित्र-चित्रण घटनाओं के रहस्य का पता लगाने की दृष्टि से किया है। उनके उपन्यासों की तीसरी विशेषता यह है कि कथानक के घटना-वैचित्र्य को समझने के लिए पाठकों को अपनी बुद्धि का भी उपयोग करना पड़ता है। इनमें मनोरंजन या कौतूहल का महत्वपूर्ण स्थान नहीं है लेकिन उनमें पाठकों की बुद्धि-व्यापार को कार्यक्षम करने का प्रयास मिलता है। इनके उपन्यासों की यह भी एक विशेषता हो सकती है कि पाठकों को चोरी, हत्या आदि रहस्यात्मक घटनाओं का ठीक अध्ययन करने का मौका मिलता है।

देवकीनन्दन खत्री तथा गोपालराम गहमरी ने अपने उपन्यासों द्वारा जनता का मनोरंजन किया और उनकी विकसित परम्परा का दर्शन किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२) के सामाजिक, ऐतिहासिक, तिलस्मी, जासूसी आदि उपन्यासों में मिलता है। गोस्वामी ने अपने उपन्यास के रचना-विधान के लिए भारतीय कथा-साहित्य की परम्परा को ही स्वीकार किया था। इसका संकेत उनके 'प्रणयिनी परिणय' (१८९०) उपन्यास के 'उपोद्घात्' में इस प्रकार मिलता है—

**"जिस प्रकार साहित्य के प्रधान अंगों में नाटक का प्रचार प्रथम यहाँ ही हुआ था उसी तरह 'उपन्यास' की सृष्टि भी प्रथम-प्रथम यहाँ ही हुई थी यह अयोक्तिक नहीं है, परन्तु किसी-किसी महाशय का यह कथन है कि 'उपन्यास' पूर्व समय में यहाँ प्रचलित नहीं था, बरन अंग्रेजों की देखा-देखी लोगों ने (Novel) नोवेल के स्थान में उपन्यास की कल्पना कर लिया है इत्यादि। परन्तु उन महात्माओं को प्रथम इसकी मीमांसा कर लेना चाहिये क्योंकि 'उपन्यास' उप-नी-उपसर्ग पूर्वक आस् धातु इन शब्दों से बना है यथा (उप) समीप (नी) न्यास (आस्) रखना अर्थात् इसकी रचना उत्तरोत्तर आश्चर्यजनक एवं कुछ छिपी हुई कथा क्रमशः समाप्ति में स्फुटित हो। अमरकार भी 'उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्' अर्थात् वाङ्मुखी वाला यह अर्थ उपन्यास के तात्पर्य से ही घटता है; इत्यादि प्रमाणों से उपन्यास भी प्राचीन काल से भारतवर्ष में प्रचलित है और 'दशकुमार चरित्र', 'वासवदत्ता, 'श्रीहर्षचरित, 'कादंबरी आदि उपन्यास इसकी प्राचीनता में जाज्वल्य प्रमाण हैं।"**

गोस्वामी जी के सामाजिक उपन्यास महत्वपूर्ण हैं और उन पर बंगला के उपन्यासों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उनके कई उपन्यास अनूदित हैं और कुछ ऐसे भी उपन्यास मिलते हैं कि उन पर बंगला उपन्यासों की छाया स्पष्टतः दिखाई पड़ती है। उन्होंने बंगला उपन्यासों के आधार पर भी अपने उपन्यासों का निर्माण किया। उन्होंने अपने 'याकूती तख्ती या यमज-सहोदर' (१९०६) उपन्यास के के अन्त में मूल लेखक की 'कृतज्ञता स्वीकार' इस प्रकार की है—

**"बंगाली-लेखक बाबू दीनेन्द्र कुमार राय के 'हमीदा' नामक उपन्यास की छाया पर यह उपन्यास लिखा गया है ,....'हमीदा' वियोगान्त उपन्यास है पर हमने इसे संयोगान्त बनाया है।.....हमारा यह उपन्यास 'हमीदा' का अनुवाद नहीं है, वरन् इसे हमने अपने ढंग पर पूरी स्वाधीनता से लिखा है..।"**

इससे स्पष्ट पता लगता है कि गोस्वामी जी ने बंगला उपन्यासों से बहुत कुछ ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने अपने सामाजिक उपन्यासों में दीन-हीन लोगों का यथार्थ चित्रण किया है। तत्कालीन बंगला उपन्यासों में सामाजिक चित्रण पर बहुत जोर दिया जाता था। उन्होंने 'चपला व नव्य समाज' (१९०३-४) नाम का एक रहस्यपूर्ण सामाजिक उपन्यास लिखकर तत्कालीन नये समाज का चित्र पाठकों के सामने रखा। उनके उपन्यास के 'निवेदन' में भी इसका स्पष्ट संकेत मिलता है—

**"यह उपन्यास किसी देश, जाति, समाज या व्यक्तिविशेष के ऊपर अकारण आक्षेप करने की इच्छा से नहीं लिखा गया है, बरन एक दीन-हीन परिवार की शोचनीय स्थिति के साथ वर्तमान समय का शिथिल, उच्छृंखल, बंधविहीन समाज चित्र इस इच्छा से यथावत् चित्रित किया गया है कि...."**

इससे स्पष्ट लगता है कि राधाकृष्णदास ने 'निस्सहाय हिन्दू' उपन्यास लिखकर हिन्दी उपन्यास साहित्य में जिस यथार्थवादी उपन्यासों की परम्परा का सूत्रपात किया था उसको विकसित करने का कार्य गोस्वामी जी के सामाजिक उपन्यासों द्वारा हुआ।

इस काल-विभाग में सामाजिक, अर्द्ध-सामाजिक, धार्मिक, तिलस्मी, ऐय्यारी, जासूसी आदि उपन्यासों का निर्माण हो रहा था लेकिन ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की वृत्ति गोस्वामीजी को छोड़कर किसी में भी नहीं दिखाई पड़ती। गोस्वामी जी ने 'तारा' (१९०२), 'कनककुसुम' (१९०३), 'मल्लिका देवी' (१९०५) आदि ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास साहित्य का श्रीगणेश किया। उन्होंने अपने उपन्यासों की ऐतिहासिक घटनाओं को कल्पना के द्वारा चित्रित करने का प्रयत्न किया। इसलिए उनमें ऐतिहासिक तथ्य का विश्लेषण नहीं मिलता। अतः उनके उपन्यास शुद्ध ऐतिहासिक नहीं हैं। उनके उपन्यासों में कहीं-कहीं ऐतिहासिक सत्य की हत्या की गई है, फिर भी उपन्यासों के इस प्रारंभिक युग में इस प्रकार की ऐतिहासिक कमियाँ भी प्रशंसनीय हैं।

गोस्वामी जी के उपन्यासों में उपन्यास-कला की कोई विशेषता नहीं दिखाई पड़ती। उपन्यास की शिल्पविधि का प्रारंभिक ढाँचा इनके उपन्यासों में मिल सकता है जो प्रेमचन्दकालीन उपन्यासों में विकसित रूप में दिखाई पड़ता है। इनके उपन्यासों के बारे में इतना कहा जा सकता है कि आधुनिक उपन्यास-साहित्य का सूत्रपात उनके मौलिक उपन्यासों द्वारा हुआ।

किशोरीदास गोस्वामी के समकालीन उपन्यासकारों में, ईश्वरीप्रसाद शर्मा, गंगाप्रसाद गुप्त, लज्जाराम शर्मा मेहता, भगवान दास बी० ए०, अयोध्यासिंह उपाध्याय, जैनेन्द्र किशोर, ब्रजनंदन सहाय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। गंगाप्रसाद गुप्त का 'वीरपत्नी' (१९०३) ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें राजपूत जाति के गौरव का इतिहास मिलता है। मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यासों में हिन्दू परिवार, हिन्दू धर्म, हिन्दू शिक्षा, हिन्दू मर्यादा आदि पर विचार किया है। उनके उपन्यासों के नाम ही उनके कथा-वस्तु का संकेत करते हैं। उनके सब उपन्यासों में उद्देश्य-प्रधान सृष्टि का वातावरण मिलता है। उन्होंने अपने 'आदर्श दम्पति' (१९०४) उपन्यास की 'भूमिका' में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

**"'आदर्श दम्पत्ति' में पति का पत्नी के प्रति और पत्नी का पति पर प्रेम दिखलाया गया है। कान्तासम्मत शास्त्र धर्म की अवधि के भीतर मनुष्य को आनंद देकर आमोद-प्रमोद के व्याज से चरित्र शोधन की शिक्षा देने वाले हैं। मैंने आज तक जितने उपन्यास लिखे हैं वे सब इसी उद्देश्य से लिखे हैं और हर्ष है कि सवसा धारण ने उन्हें पसन्द भी किया है।"**

अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (१८९९) भाषा के आदर्श की दृष्टि से महत्व का है। उन्होंने ठेठ भाषा के आदर्श के बारे में स्पष्ट लिखा है—'ठेठ भाषा वह है जो शिक्षित लोग आपस में बोलते-चालते हैं। भाषा वैसी ही हो, गँवारी न होने पावे।' उपाध्यायजी ने अपनी रचनाओं के द्वारा यह दिखाया कि बिना खरे संस्कृत शब्दों अथवा उत्कृष्ट उर्दू-फारसी की पदावली का सहारा लिये ही बोलचाल की भाषा में गद्य लिखा जा सकता है।

भावों और विचारों के काल्पनिक सौन्दर्य का आभास ब्रजनंदन सहाय, बी० ए०, के 'राधाकान्त' (१९१२), सौन्दर्योपासक आदि रचनाओं में मिलता है। ठाकुर जगमोहनसिंह के स्वप्न उपन्यास 'श्यामा स्वप्न' (१८८५) की शैली का विकसित रूप ब्रजनंदन सहाय के 'सौन्दर्योपासक' (१९१९) में मिलता है। इस भाव-उपन्यास पर बंगला के चन्द्रशेखर के 'उद्भ्रान्त प्रेम' का प्रभाव दिखाई देता है। 'सौन्दर्योपासक' में स्वच्छंद भावव्यंजना का परिचय मिलता है। इसके द्वारा पहली बार पाठकों को भाषा-मधुरिमा का दर्शन मिला। प्रेम की स्वच्छंद व्याख्याएँ इसमें मिलती हैं और उसके सौन्दर्यशाली रूप का विश्लेषण इसमें हुआ है। इसमें प्रेम, सौन्दर्य, प्रेम का उद्देश्य आदि के बारे में अनेक सुन्दर उक्तियाँ मिलती हैं। 'सौन्दर्योपासक' ने जिस अद्भुत प्रेम का अनुभव किया था उसकी सुन्दर व्याख्या उसकी पत्नी 'मालती' द्वारा भी की गई है। 'सौन्दर्योपासक' का कहना है—

१. "मैं सौन्दर्यानुरागी हूँ, सौन्दर्योपासक हूँ अवश्य किन्तु इससे क्या मुझे आजन्म रोना पड़ेगा।"[१]
२. "मैं केवल यह चाहता हूँ कि तुम्हें अपनाऊँ। तुम्हें अपनी ही कहने में सुख है। मैं यह चाहता हूँ कि मेरा नयन-चकोर सदा तुम्हारे मुखमयंक को अवलोकन किया करे। मेरा मन तुम्हारी सर्वदा पूजा करे।"[२]
३. "स्त्रियों को प्रेम ही एक मात्र अवलंबन है। ललनाओं के लिए प्रेम ही जीवन है। परन्तु पुरुषों के लिए ऐसा नहीं है उन्हें तो अनेक आशा, अनेक अभिलाषा, अनेक भरोसा और अनेक महत् उद्देश्य हैं।[३]

'सौन्दर्योपासक' के प्रेम की भाव-धारा का सुन्दर परिचय इस प्रकार की उक्तियों में मिल सकता है। प्रेमपात्र, प्रेम का नियम, स्त्री पुरुष का प्रेम, प्रेम का आदर्श आदि की सुन्दर व्याख्या इस उपन्यास में सर्वत्र मिलती है। सौन्दर्योपासक ने प्रेम के जिस अद्भुत सौन्दर्य का अनुभव किया था उसका आदर्श स्थापित करने का प्रयत्न उपन्यासकार ने किया है। परन्तु प्रेम के बवंडर के बाद प्रेम की वर्षा करने वाला यह प्रबंधात्मक उपन्यास हिन्दी उपन्यास के निर्माणकाल में आत्मपरक चित्रण (Subjective Portraiture) देकर एकांगी ही रहा है।

'राधाकान्त' (१९१२) के बाद मेहता लज्जाराम शर्मा कृत 'आदर्श हिन्दू' (१९१५), चाँदकरण सारडा कृत 'भारतमाता' (१९१६), श्रीधर पाठक कृत 'तिलस्माती सुन्दरी' (१९१७), मिश्रबन्धु कृत 'वीरमणि' (१९१७), आदि उपन्यासों की रचना हुई। इनके अलावा और भी बहुत से उपन्यास मिल सकते हैं परन्तु प्रेम और रोमान्स के हलके कथानक मिलते हैं। वास्तविक रूप में ये उपन्यास साधारण पाठकों के लिए लिखे गए थे। अतः उनसे उपन्यास के विकासक्रम में किसी भी प्रकार का सहयोग नहीं मिल सका।

रचना-विधान की दृष्टि से देखा जाय तो इस काल के उपन्यास अधिकतर घटना-प्रधान हैं। तिलस्मी, ऐयारी, और जासूसी उपन्यासों में संयोग-वैचित्र्य के कारण परिवर्तन होता रहा है। तिलिस्मी उपन्यासों में अनेक कथाओं के एक ही साथ चलने के कारण उनमें एकसूत्रता रखने का कार्य लेखकों को बड़े परिश्रम के साथ करना पड़ता है। इन उपन्यासों के पात्रों के चरित्रचित्रण का कोई विकास नहीं मिलता, पात्र घटनाओं की सहायता से चलते रहते हैं और सम्पूर्णता का कहीं पता नहीं लगता। जासूसी उपन्यासों में कथा-वस्तु तथा पात्र-परिचय का थोड़ा समन्वय

---

१. ब्रजनंदन सहाय—सौन्दर्योपासक, पृ० ८
२. ब्रजनंदन सहाय " पृ० १०१-१०२
३. ब्रजनंदन सहाय " पृ० १९९

दिखाई पड़ता है परन्तु इनमें बौद्धिकता तथा काल्पनिकता को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होने के कारण घटनाओं में संघटन मिलता है परन्तु पात्रों के चरित्र का विश्लेषण नहीं होता। इन सब उपन्यासों में पाठकों के मनोरंजन पर ही ध्यान दिया गया है जिसमें कौतूहल तथा आश्चर्य की मात्रा अधिक मिलती है। सामाजिक उपन्यासों के कथानक जीवन के सामान्य स्तर पर आये हुए दिखाई पड़ते हैं। परन्तु उनमें पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिए कोई विशेषता नहीं मिल पायी। इनमें भी पाठकों के मनोरंजन का ख्याल किया जाता था इसलिए नायक-नायिका का वर्णन करते समय लेखक पाठकों को रोमांचित करने की दृष्टि से कथानक की सजावट करता है। ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने अपने 'स्वर्णमयी वा जैसी करनी वैसी भरणी' (१९१०) उपन्यास में किसी बहाने तत्कालीन उपन्यासों पर बड़ा व्यंग किया है। शर्माजी लिखते हैं—

> **"यार! क्या ऐसे ही उपन्यास लिखना होता है? जरा चटपटी चुलबुली नायिका हो, सुन्दर सलोना नायक हो, कुटनियों की कूट, ऐयारों की ऐयारी, माशूक आशिक के चोंचले हों, तिलस्मी की पेंचदार कथा हो, तब उपन्यास की बहार होती!"**[1]

इससे स्पष्ट पता लगता है कि इस काल के अधिकतर उपन्यासकार पाठकों के मनोरंजन अथवा मनोविनोद के लिए ही उपन्यास लिखते थे। इस काल के पाठक उपन्यासों को मनोरंजक तथा विलास के साधन मानते थे। इसी कारण इस काल के उपन्यासों के आदर्श, चरित्र-चित्रण, कथा संगठन आदि पर ध्यान नहीं दिया गया। सन् १९१८ में प्रेमचंदजी का 'सेवा सदन' उपन्यास प्रकाशित हुआ और तत्कालीन उपन्यासों द्वारा हिन्दी उपन्यास-साहित्य का नया अध्याय खुल गया।

**विकास-काल** (सन् १९१८ से सन् १९३६ ई० तक)

प्रेमचन्द जी के 'सेवा-सदन' (१९१८) के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी उपन्यास-साहित्य में एक नए युग का आरम्भ होता है। उन्होंने 'पंचपरमेश्वर' (१९१६) शीर्षक कहानी लिखकर हिन्दी कहानी-साहित्य के इतिहास में एक नई दिशा की ओर संकेत किया तथा इसी काल में अनेक उपन्यास लिखकर उन्होंने हिन्दी उपन्यास में क्रान्तिकारी परिवर्तन का सूत्रपात किया।

प्रेमचंद के आविर्भाव के पूर्व जो कुछ उपन्यास-साहित्य मिलता है उसमें अधिकतर मनोरंजन-प्रधान सामग्री ही मिलती है। जनता में तिलस्मी, जासूसी, साहसिक आदि उपन्यासों का प्रचार था। इन उपन्यासों की विशेषता यह थी कि उनमें घटनाओं को प्राधान्य दिया जाता था और पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं पर ध्यान

---

१. **ईश्वरीप्रसाद शर्मा, 'स्वर्णमयी', पृ० १७**

नहीं दिया जाता था। उनमें जीवन के आदर्श अथवा यथार्थ का चित्रण नहीं मिलता। जनता में जो कुछ उपन्यास प्रचलित थे उनमें अधिकांश उपन्यासों में प्रेम का कुरूप वर्णन था। किशोरीलाल गोस्वामी जी के उपन्यासों में समाज की यथार्थता का थोड़ा चित्रण तो मिला किन्तु उनके उपन्यास अश्लील-वर्णनों से बहुत कुछ अछूते हैं। जनता अपने मनोरंजन के लिए किताबों की माँग कर रही थी और उनके हाथ में बहुत भद्दी से भद्दी किताबें दी जाती थीं। क्योंकि मुद्रणकला का प्रचार होने के कारण 'प्रिंटिंग प्रेस' के मालिक सस्ते लेखकों द्वारा किताबें लिखवाते थे और जनता के हाथों में देते थे। उनका उद्देश्य धन कमाना था। इसलिए जनता की रुचि के अनुसार किताबें लिखवाकर बेची जाती थीं। जनता की रुचि का परिष्कार करने की दृष्टि से किताबें लिखी ही नहीं जाती थीं। बाबू विपिन बिहारी श्रीवास्तव के 'हिन्दी में मौलिक नाटकों की आवश्यकता' शीर्षक लेख में इन सब बातों का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

"एक समय वह था, जब हिन्दी में उपन्यासों की बड़ी धूम मच रही थी। कोई भी कलम चला बैठता, और एक मनगढ़न्त उपन्यास तैयार करके अपने को लेखकों के वर्ग में समझने लगता था। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी में अश्लील, अयोग्य और निन्दनीय उपन्यासों का भंडार बढ़ गया। उपन्यासों की ओर लोगों की बढ़ती हुई अभिरुचि को देखकर कुछ प्रेसों ने तो यहाँ तक किया कि कई मियाँजी और भैय्याजी पाँच रुपए महीने के वेतन पर, उपन्यास-लेखकों के रूप में अपने यहाँ नौकर रख लिया। फिर क्या? रोज एक नवीन उपन्यास तैयार होकर साहित्य क्षेत्र में पदार्पण करने लगा। 'किस्सा साढ़े तीन यार', 'नौलखा हार', 'रात की दो दो बातें' इत्यादि पुस्तकें, जिनका नाम लेने में जी हिचकता है, बड़ी सजधज के साथ इन प्रेसों से छपकर निकलने लगीं। यह देखकर कुछ दूसरे वर्ग के लेखकों का ध्यान भी साहित्य क्षेत्र में टाँग अड़ाने के लिये आकर्षित हुआ; और उन्होंने भी हिन्दी साहित्य के पक्ष में लम्बी चौड़ी भूमिका देते हुए 'चोर से बढ़कर चोर', 'चाँद का टुकड़ा', 'दारोगा कैद से छूटे', 'चाचा का खून', 'डाकू का पैर', 'लेखक का सिर!!!' इत्यादि के समान अनेक जासूसी, तिलस्मी, ऐय्यारी कहानियाँ लिखकर उपन्यासों का बाजार गर्म कर दिया।"[1]

तत्कालीन हिन्दी उपन्यास-साहित्य की अवस्था बहुत ही दयनीय थी। ऐसी परिस्थिति में उपन्यास के बारे में अनेक गलतफहमियाँ फैलाई जाती थीं और उपन्यास पढ़ने वालों के प्रति भी लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे। जब साधारण आदमी भी उपन्यास लिखने लगे तब इन उपन्यासकारों के प्रति सन्मान की भावना का भी लोप

---

१. एकादश हिन्दी साहित्य सम्मेलन कलकत्ता (सं० १९८३), कार्यविवरण, भाग २, पृ० ६४।

होता चला गया। पं० विष्णुदत्त शर्मा ने 'उपन्यास से हानि'[1] शीर्षक निबन्ध में निम्नलिखित निर्णय दिए हैं—

१. **पाठक के लिए उपन्यास मादक पदार्थ जैसे हैं।**
२. **श्रृंगार रस के उपन्यास मन में कुवासना उत्पन्न करते हैं।**
३. **उपन्यास पढ़ने से ऐहिक या पारलौकिक कार्यों में कुछ फलसिद्धि नहीं होती और समय व्यर्थ खर्च हो जाता है।**
४. **उपन्यास जैसे सीधे ग्रंथ को पढ़ने से मन और बुद्धि सुखिया हो जाते हैं। आदि....**

इस प्रकार पं० विष्णुदत्त शर्मा ने उपन्यास से होनेवाली हानियों का विवरण देकर अपना अन्तिम निर्णय इस प्रकार दिया है—

> **"'उपन्यास', 'कविता' और 'समालोचना' से होनेवाली सब हानियाँ दिखलाई जा चुकीं। इनमें 'उपन्यास' और 'समालोचना' तो सदा के लिये मिटा देना चाहिये।"**

इससे स्पष्ट पता लगता है कि इस काल के पहले जो कुछ उपन्यास लिखे गए थे उनमें अधिकतर उपन्यास लोगों में अप्रिय थे। परन्तु प्रेमचन्द के प्रादुर्भाव के कारण उपन्यास-साहित्य के प्रति जनता आकर्षित हुई और अनेक लेखकों ने अपने उपन्यासों द्वारा हिन्दी उपन्यास-साहित्य को समृद्ध किया। प्रेमचन्द जी ने जब उपन्यास लिखना आरम्भ किया तब उनके सामने उपन्यास साहित्य की निम्नलिखित धाराएँ थीं—

१. देवकीनन्दन खत्री के तिलस्मी उपन्यासों का प्रचार जनता में था और लोग उनकी बड़ी प्रशंसा करते थे।
२. गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यासों का भी प्रचार था।
३. किशोरीलाल गोस्वामी के सामाजिक उपन्यासों का निर्माण हो रहा था और जनता में उनका थोड़ा बहुत सम्मान भी था।
४. बंकिमचंद जैसे बंगाली उपन्यासकारों के अनूदित उपन्यास प्रकाशित हुए थे और जनता में उनका प्रचार था।

प्रेमचंद जी इनमें से किसी भी धारा से प्रभावित नहीं हुए। उन्हें तो अपने उपन्यासों द्वारा एक नए समाज का निर्माण करना था। उनके 'हिन्दी का उपन्यास साहित्य' शीर्षक निबंध में उनकी साहित्य सेवा का आदर्श इस प्रकार प्रकट हुआ है—

---

**१. तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन कार्य विवरण, भाग दूसरा (लेखमाला) पृ० १२५।**

**"हमें अपने युवकों को प्रणय रहस्यों का पाठ पढ़ाने की, उनके हृदय में आग लगाने की जरूरत नहीं है।....हमें देश में उन भावों को संचार करना है जो हमें इस संग्राम में मर्दों की भाँति खड़े होने में सहायक हों।"**[1]

प्रेमचंद जी हिन्दी संसार में एक युग की प्रेरणा लेकर आए। वे पहले उर्दू के अच्छे लेखक थे और उन्होंने अपनी प्रारंभिक रचनाएँ हिन्दी संसार में कहानियों के रूप में प्रकाशित कीं। उनके जीवन पर कुछ ऐसे प्रभाव पड़े थे कि उनकी रचनाओं पर तत्कालीन भारत की सामाजिक, गार्हस्थ्य, राजनीतिक, आर्थिक आदि समस्याओं का प्रभाव पड़ा है। उनके उपन्यासों का सूक्ष्म अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे उपन्यास साहित्य में ही नहीं तत्कालीन भारतीय जीवन में एक सामाजिक तथा राजनीतिक क्रान्ति की विचार-धारा को ले कर आये थे। उन्होंने अपने कथा-साहित्य में जीवन के यथार्थ का चित्रण करके उसके पोषण के लिए आदर्शवाद की स्थापना की। प्रेमचंद जी ने अपने उपन्यासों द्वारा किसानों की आर्थिक व्यवस्था, ग्रामीण जीवन की दुर्बलता, विधवाओं तथा वेश्याओं की समस्या, समाज की कुरीतियाँ, हिन्दू-मुसलिम ऐक्य, जमींदारों तथा पुलिस के अत्याचार आदि तत्कालीन प्रश्नों पर प्रकाश डाला है। इस दृष्टि से उनके 'सेवासदन' (१९१८), 'प्रेमाश्रम' (१९२२), 'रंगभूमि' (१९२४), 'कायाकल्प' (१९२६), 'निर्मला' (१९२८), 'गबन' (१९३१), 'कर्मभूमि' (१९३२), 'गोदान' (१९३६) तथा 'मंगलसूत्र' (अपूर्ण) नामक उपन्यासों का निर्माण हुआ है।

प्रेमचन्द जी ने 'सेवासदन' उपन्यास द्वारा भारतीय नारी के एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर प्रकाश डाला है। इसमें 'सुमन' पात्र द्वारा तत्कालीन वेश्याओं के जीवन की समस्या का चित्रण कर उनके सुधार के उपाय भी बतलाए हैं। नारी जीवन की इस प्रमुख समस्या पर विचार करते समय उन्होंने 'विवाह के अवसर पर दहेज की समस्या', 'समाज की रूढ़िवादिता', 'झूठा नैतिकवाद', 'विधवाओं की समस्या' आदि प्रश्नों पर भी विचार किया है।

प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में सत्य के पथ को ग्रहण कर मानव-मंगल की ओर संकेत करने वाले नैतिक आदर्शों की स्थापना की है। जीवन के कठोर यथार्थ का चित्रण करते समय उन्होंने व्यक्ति की अपेक्षा तत्कालीन समाज की समस्याओं का यथार्थ रूप अपने उपन्यासों में चित्रित किया है। इसीलिए उनके किसी पात्र की समस्या किसी विशेष व्यक्ति की न होकर एक वर्ग-समूह की हो गई है। प्रेमचंद ने 'सेवासदन' में 'सुमन' का जीवन ऐसे ढंग से चित्रित किया है कि तत्कालीन वेश्या-समाज का यथार्थ चित्र सामने उपस्थित हो जाता है। वेश्याओं तथा विधवाओं के

---

१. तेरहवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कार्य विवरण, भाग दूसरा, पृ० ८१-८२।

सुधार पर प्रकाश डालते समय उनका 'आदर्शवाद' ही अधिक सक्रिय दिखाई पड़ता है। ऐसा लगता है कि उन्होंने इस समस्या को व्यावहारिक दृष्टि से सुलझाने का प्रयत्न नहीं किया है। इसमें उनका सुधारवाद जीवन के व्यावहारिक पक्ष को ठीक परख नहीं सका। यही कारण है कि उनके आदर्शवाद में किसी न किसी कमी का अनुभव जरूर हो जाता है। आर्थिक दृष्टि से भारतीय नारी परतंत्र है और वेश्या-समस्या के मूल में आर्थिक प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यदि वे स्त्रियों के इस व्यावहारिक प्रश्न पर ध्यान देकर उनके सुधार के उपाय बतलाते तो उनका दृष्टिकोण एकांगी ही बन पाता। यह बात उनके 'प्रेमाश्रम' में भी दिखाई देती है। इस उपन्यास में प्रेमचंदजी ग्रामीण जीवन की ओर मुड़े हैं। जमींदार-किसान संघर्ष का चित्रण करते समय उन्होंने ग्रामीण जीवन की अनेक समस्याओं का चित्रण किया। इसमें ग्रामीण जीवन से संबंधित जमींदार, पटवारी, मुंशी, वकील, डाक्टर, पुलिस अफसर आदि वर्ग का चित्रण ऐसे ढंग से किया गया है कि यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके द्वारा ग्रामीण जनता भयंकर रूप से आक्रान्त है। परन्तु प्रेमचंद जी ग्रामीण जीवन का सुधार शिक्षितों और जमींदारों द्वारा ही करना चाहते हैं। 'सेवासदन' के समान इसमें भी उनके 'सुधार' की आदर्श भावना असफल रही है। वे जीवन के व्यावहारिक पक्ष के प्रति कम ध्यान दे सके और जमींदारों का हृदय परिवर्तन करके ग्रामीणों का प्रश्न सुलझाने के उपाय बतलाने लगे। परन्तु उनकी यह सुधार-भावना उनके अन्तिम उपन्यास 'गोदान' के महान परिवर्तनों की पूर्वपीठिका मात्र है।

'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' की अपेक्षा प्रेमचंद जी की उपन्यास कला का विकसित रूप उनके 'रंगभूमि' (१९२४) उपन्यास में मिलता है। वे पहली बार अपने इस उपन्यास में जीवन की वास्तविक रंगभूमि पर आए हैं। उनकी चरित्र-चित्रण की शैली का प्रथम विकास उनकी इस कृति में मिलता है। उन्होंने 'रंगभूमि' में सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं पर प्रकाश डालते समय 'नगर', 'ग्राम', 'कर्तव्य', 'प्रेम', 'सुख-दुख', 'आशा-आकांक्षा', 'ध्येय', 'अधिकार' आदि को लेकर भारतीय जीवन में क्रान्ति की भावना के बीज बोये हैं। नगर और ग्राम के जीवन का चित्र खींचते समय उन्होंने जीवन के हरएक पहलू पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है इसलिए इसके कथानक का विस्तार कुछ बोझिल सा मालूम पड़ता है।

प्रेमचंद जी की उपन्यास-कला का विकास 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' में एक विशेष ढंग से हुआ है। उन्होंने नगर और ग्राम की समस्याओं को लेकर उनके सामाजिक तथा राजनीतिक पहलुओं पर भी प्रकाश डाला है। इन तीनों उपन्यासों में उनकी 'रंगभूमि' कृति गाँधीवाद आदर्शों का पोषण करती हैं। इसकी यह एक विशेषता है कि इसमें गाँधी जी की राजनैतिक चेतना का प्रभाव सर्वत्र दिखाई देता

है। उस समय गाँधी जी के विचारों का प्रभाव जिस रूप में पड़ा था उसी रूप में तत्कालीन विचार-धाराओं का रूप उपस्थित करने का प्रयत्न प्रेमचन्द जी ने इस उपन्यास में किया है। इस उपन्यास का 'सूरदास' पात्र गाँधी जी की विचारधाराओं से प्रभावित है। इस तरह 'रंगभूमि' में तत्कालीन जीवन की व्यापकता का चित्रण, पात्रों के स्वभाव-परीक्षण तथा औपन्यास-कला का आदर्श मिलता है। प्रेमचन्द जी की उपन्यास कला के विकास-क्रम में 'रंगभूमि' एक महत्व की सीढ़ी है।

'कायाकल्प' (१९२६), 'निर्मला' (१९२८) और 'प्रतिज्ञा' (१९२९) में तत्कालीन सामाजिक समस्याओं पर ही प्रकाश डाला गया है। 'कायाकल्प' में तत्कालीन सांप्रदायिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं का चित्रण हुआ है। 'निर्मला' विधुर-विवाह के दुष्परिणाम की एक करुण कहानी है। इसमें निर्मला का चरित्र-चित्रण बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है। इस तरह 'प्रेम की साधना' और 'कर्त्तव्य पक्ष' का सामंजस्य स्थापित करने के लिए प्रेमचंद जी ने 'प्रतिज्ञा' का निर्माण किया। इन छोटे उपन्यासों के पात्रों का चरित्र-चित्रण बहुत ही वैज्ञानिक ढंग से हुआ है।

'गबन' (१९२९) और 'गोदान' (१९३६) के कथानक पारिवारिक और सामाजिक जीवन से संबंध रखते हैं। प्रेमचन्द जी ने 'गबन' में जीवन की सामाजिक पृष्ठभूमि पर मनोवैज्ञानिक चित्रण का आदर्श उपस्थित करने का प्रयत्न किया। इसके हरएक पात्र के चरित्र-चित्रण में परिवर्तन मिलता है और उसके मूल-कारण में कोई न कोई घटना की प्रधानता है जिससे पात्रों के व्यक्तित्व का विकास होता गया है। प्रेमचंद जी के अधिकतर उपन्यासों में पात्रों के अनुसार घटनाओं में परिवर्तन होते रहे हैं, परन्तु इसमें परिस्थितियाँ पात्रों के कार्य-व्यापार पर अपना व्यापक प्रभाव रखती हैं। इसका कथानक एक मध्यम वर्ग के परिवार की कहानी लेकर उपस्थित हुआ है। प्रायः स्त्रियों में गहनों के प्रति आकर्षण रहता है और इसी एक समस्या को लेकर प्रेमचंद जी ने एक स्त्री के पति के जीवन में भयंकर आन्दोलन की सृष्टि की है। नारी की आभूषण-लालसा का यह एक यथार्थवादी चित्र है और उसका रचना-विधान बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है।

उन्होंने रंगभूमि की राजनीतिक समस्याओं पर फिर एक बार 'कर्मभूमि' (१९३२) में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। इसमें हमारे पिछले राजनीतिक (१९३१-३२) आन्दोलन का व्यापक चित्र मिल सकता है। प्रेमचन्द ने इसके द्वारा यह दिखाया है कि राजनीतिक आन्दोलन के लिए सामाजिक सुधार की आवश्यकता है और देश की स्वाधीनता प्राप्ति के लिए देश की सामाजिक तथा वैचारिक समस्याओं की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। इसलिए प्रेमचंद जी ने अछूतोद्धार, सामाजिक-संघटन, बालकों की शिक्षा आदि का विश्लेषण गाँधीवादी विचारों की सहायता से

किया है। इसमें प्रेमचंद जी ने लोगों के सामन अपने सब विचार रखकर 'रंगभूमि' में जिन राजनीतिक समस्याओं की ओर संकेत किया था उनका विश्लेषण इस उपन्यास में ठीक ढंग से किया है। प्रेमचंद जी की उपन्यास-कला की यह प्रौढ़ रचना तत्कालीन राजनीतिक विचारों पर प्रकाश डालती है।

प्रेमचंद का 'गोदान' (१९३६) हिन्दी 'उपन्यास साहित्य की एक अमर कलाकृति' है। इसकी तुलना टाल्सटाय के "War and Peace" उपन्यास से की जाती है और एक महाकाव्यात्मक उपन्यास ( Epic Novel ) के रूप में उस पर विचार किया जाता है। इसका नामकरण भारतीय ग्रामीण जीवन तथा संस्कृति की ओर संकेत करता है। 'होरी' नामक एक भारतीय किसान की कहानी भारतीय जीवन की व्यापकता का संपूर्ण चित्र उपस्थित करती है। 'होरी' के मन में अपने घर में गाय रखने की इच्छा होती है और वह गाय भी खरीदकर ले आता है, लेकिन बाद में उसे किन-किन झंझटों से मुकाबला करना पड़ता है उसका यथार्थ तथा कारुणिक चित्र इसमें कलात्मक ढंग से उपस्थित किया है।

प्रेमचंद ने अपने अभी तक के उपन्यासों में जीवन की वास्तविकता की स्थापना आदर्शवाद की भित्ति पर की थी परन्तु प्रेमचंदजी का यह यथार्थोन्मुख आदर्शवाद गोदान में स्पष्टतः निष्क्रिय हो जाता है। इस यथार्थवादी चित्रण में उनका आदर्शवाद काम नहीं देता। प्रेमचंद ने उपन्यास के आरम्भ में ही उपन्यास के नायक 'होरी' का चित्रण बहुत सहानुभूतिपूर्वक किया है। वह अपने घर में गाय रखने के लिए लालायित था, और उसकी इस अभिलाषा का उत्तर उसकी करुण मृत्यु के दुखान्त में मिलता है। गाय की उस अभिलाषा के कारण उसका परिवार इतना दरिद्र हो जाता है कि उसकी मृत्यु के समय उसकी पत्नी धनिया के पास गोदान करने के लिए 'घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा'। धनिया उसी दिन सुतली बेचकर उसके बीस आने लेकर आई, उन्हें अपने पति के ठंडे हाथ में रखकर 'गोदान' किया और पछाड़ खाकर गिर पड़ी ! भारतीय जीवन की इससे बढ़कर और क्या करुण कहानी हो सकती है!! 'गोदान' में प्रेमचंद का यथार्थोन्मुख-आदर्शवाद सामाजिक यथार्थवाद में परिणत हो जाता है।

यद्यपि एक साधारण कथानक के आधार पर गोदान का निर्माण हुआ है किन्तु इसमें 'होरी', 'धनिया', 'डा० मेहता', 'मालती', आदि महत्वपूर्ण पात्र हैं। इन पात्रों द्वारा नागरिक तथा ग्रामीण जीवन का सामंजस्य इसमें मिलता है और नागरिक तथा ग्रामीण जीवन का हरएक पहलू पात्रों के चरित्रचित्रण में सहायता देता है। 'होरी' और 'धनिया' के चरित्रचित्रण में भारतीय किसान की सांस्कृतिक विचार-धारा का आदर्श उपस्थित हुआ है। 'होरी' में भारतीय किसान का आदर्श रूप मिलता है। इतना महान् चरित्र हिन्दी उपन्यासों में नहीं दिखाई पड़ता।

इसमें भारतीय जीवन की संपूर्णता का चित्रण करने में प्रेमचंदजी ने अपने हृदय का सर्वस्व दे दिया है। उनके एक सिद्धान्त—

**"ठगा जाना दूसरों को ठगने से अच्छा है, संसार में असफल रहना सफल रहने से कहीं श्रेयस्कर है।"१**

का व्यक्तिकरण 'होरी' के चरित्रचित्रण में हुआ है। इसी प्रकार अभी तक के उपन्यासों में जिन-जिन समस्याओं तथा विचारों पर जनता का ध्यान आकर्षित किया गया था उनको फिर एक बार जाँचने का प्रयत्न इसमें हुआ है। इसमें जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं का विश्लेषण इस ढंग से हुआ है कि मनुष्य जीवन के हरएक रहस्य का उद्‌घाटन तथा उसका सम्पूर्ण चित्र पाठकों के सामने उपस्थित हो जाता है। मानव जीवन पर प्रकाश डालकर उसके विविध रहस्यों का उद्‌घाटन करने वाली प्रेमचंद जी की इस उपन्यास-कला का आदर्श इसमें प्रस्फुटित हो जाता है। इसमें चरित्रों के विकास के साथ ही घटनाओं की निश्चित योजना भी दिखाई देती है—

**"चरित्रों की कल्पना से उपन्यास का आरंभ होना चाहिये, घटना की कल्पना से नहीं।"२**

उनके इस महावाक्य का यथार्थ उदाहरण उनके इस उपन्यास में मिलता है। इस प्रकार इस महान् कलाकृति के हर पहलू पर विचार किया जा सकता है।

प्रेमचंद जी ने 'गोदान' में जीवन की जिस व्यावहारिकता का यथार्थ चित्रण उपस्थित किया उसकी परम्परा को धक्का देने का कार्य उनकी अन्तिम तथा अपूर्ण कृति 'मंगलसूत्र' में हुआ है। इसमें प्रेमचंद का यथार्थवाद आदर्शवाद की भावभूमि पर खड़ा नहीं है, बल्कि वह व्यावहारोन्मुख आदर्शवाद बन जाता है। उपन्यास के अपूर्ण रह जाने से प्रेमचंद जी का दृष्टिकोण इसमें साफ दिखाई नहीं पड़ता परन्तु इसके सत्तर पृष्ठों में जो कुछ लिखा गया है उसमें प्रेमचंद जी की भावभूमि का दर्शन हो जाता है।

'मंगलसूत्र' एक पारिवारिक उपन्यास है जिसमें देवकुमार नामक साहित्य-कार के जीवन की झाँकी दिखाई है। देवकुमार एक सच्चे तथा निस्पृह कलाकार हैं जिन्होंने जीवन भर साहित्य-साधना करके केवल नाम कमाया। उसके बाल-बच्चों में आधुनिक विचार-धारा का प्रवेश हो चुका था। जब तक लेखक अपने परिवार के लोगों की विचार-धारा के साथ चल नहीं सकता तब तक वह जनता के साथ भी

---

१. 'हिन्दी का उपन्यास साहित्य'—ले० प्रेमचंद—तेरहवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कार्य-विवरण, भाग दूसरा, पृ० ९१।

२. 'हिन्दी का उपन्यास साहित्य'—ले० प्रेमचंद, तेरहवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कार्य-विवरण, भाग दूसरा, पृ० ७९।

नहीं चल सकता। देवकुमार ने धन नहीं कमाया था। परन्तु पारिवारिक कठिनाइयों के कारण अब वह साहित्य-सेवा, जन-सेवा आदि आदर्शों के पीछे न लग कर जनता द्वारा दी गई थैली का स्वीकार अपनी साहित्य-सेवा के प्राव्हिडेंट फंड के रूप में करता है। एक कलाकार के जीवन में इतना महापरिवर्तन दिखाना इस काल की प्रगतिशीलता का लक्षण है। 'मंगलसूत्र' के उद्देश्य के बारे में अनेक तर्क किए जा सकते हैं, परन्तु एक बात स्पष्ट है कि इसमें प्रेमचंद के साहित्य के उद्देश्य के बारे में निश्चित परिवर्तन दिखाई देता है। ऐसा लगता है कि 'मंगलसूत्र' में इस प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता थी, क्योंकि जिस समय 'मंगलसूत्र' की रचना हो रही थी उसी समय भारत में भारतीय जीवन में समाजवादी विचारधारा का प्रवेश हो रहा था और उसका प्रारंभिक प्रभाव प्रेमचंद की इस अन्तिम कृति में मिलता है।

इस प्रकार प्रेमचंद के उपन्यास-साहित्य का अध्ययन किया जा सकता है। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों द्वारा एक युग का निर्माण करके लोगों को हिन्दी-उपन्यास साहित्य के सुदृढ़ अस्तित्व का परिचय दिया। उनका साहित्यिक रचना-काल हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रेमचंद-युग के नाम से प्रचलित किया जा सकता है।

प्रेमचंद के समान जयशंकर प्रसाद ने अपने 'कंकाल' (१९२०), 'तितली' (१९३४) और 'इरावती' (१९३६) नामक उपन्यासों द्वारा हिन्दी उपन्यास साहित्य के विकास में योग दिया। प्रेमचंद ने अपने पात्रों द्वारा जिन-जिन सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डाला था उनका यथार्थ विश्लेषण प्रसाद जी के उपन्यासों में मिलता है।

प्रसाद जी ने 'कंकाल' के द्वारा भारतीय स्त्रियों की असहाय परिस्थितियों का चित्रण करके मंदिरों के धार्मिक ढोंगों पर प्रकाश डाला है। धर्म और संस्कृति के नाम पर फैली हुई सामाजिक कुरीतियों का यथार्थ चित्रण इसमें मिलता है। उन्होंने नारी जीवन की समस्या पर प्रकाश डालकर स्त्रियों पर होने वाले अत्याचारों का यथार्थ रूप समाज के सामने रखा है। इसमें प्रसादजी ने जिस समाज का वर्णन किया है वह प्रेमचन्द जी के समाज से बिलकुल ही भिन्न है। उन्होंने प्रयाग, काशी और हरिद्वार के वातावरण की पृष्ठभूमि पर वहाँ के धार्मिक ढोंगों पर साहसपूर्वक हमला किया है। प्रसादजी का यह शुद्ध चरित्र-प्रधान उपन्यास है। इसमें पात्रों की एक ऐसी सृष्टि मिलती है कि जिसके द्वारा समाज की कमजोरियों पर मार्मिक व्यंग किया गया है। इसमें ऐसी अनेक घटनाएँ तथा पात्र मिलते हैं कि उनके अध्ययन से भारतीय समाज की अनेक समस्याओं का यथार्थ रूप प्रकट होता है।

'कंकाल' की अपेक्षा 'तितली' में प्रसाद जी अधिक भावुक हुए हैं। इसमें भी गाँव का वर्णन मिलता है और ग्राम-सुधार की भावना को प्राधान्य दिया गया है तथा मध्यवर्गीय समाज के विरुद्ध भी आंदोलन किया गया है। इसमें मधुवन और तितली श्रमिक वर्ग के प्रतिनिधि हैं जो ग्रामीण जीवन की अनेक समस्याओं के मार्मिक चित्र

उपस्थित करते हैं। इन्द्रदेव तथा शैला मध्यवर्ग के प्रतिनिधि हैं और उनके चरित्र-चित्रण में प्रसाद जी की रोमाण्टिक भावधारा का परिचय मिलता है। प्रसाद जी ने अपने इस उपन्यास द्वारा प्रेमचंद जी के प्रायः सभी विषयों का समाहार किया है। नगर और ग्राम का सामंजस्य स्थापन करने का कार्य इसमें भी हुआ है। 'कंकाल' का उद्देश्य 'तितली' की अपेक्षा अधिक महान् है और उसमें युग की एक प्रमुख समस्या का यथार्थ चित्रण मिलता है। कला की दृष्टि से 'तितली' का उद्देश्य अधिक व्यापक तथा मार्मिक है, परन्तु 'तितली' की तुलना में 'कंकाल' का उद्देश्य अधिक प्रभावपूर्ण, स्पष्ट तथा उभरा हुआ है।

प्रसाद जी का अपूर्ण उपन्यास 'इरावती' हिन्दी साहित्य की एक अनमोल कृति है। यदि वह पूरा हो जाता तो हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में विशेष स्थान पाता। परन्तु इसका जितना भाग लिखा गया है उसमें प्रसाद जी की उपन्यास-कला का निखरा हुआ रूप मिलता है। प्रसाद जी ने इसके द्वारा जीवन का एक स्वच्छंद तथा सांस्कृतिक चित्र हमारे सामने उपस्थित किया है। इसमें हिन्दी-दर्शन तथा बौद्ध-दर्शन की समस्याओं पर विचार हुआ है। प्रसादजी की भाषा का आदर्श इसमें मिलता है।

इस प्रकार प्रसाद जी के ये तीन उपन्यास भिन्न प्रकृति के होकर भी उनकी भावुकता तथा सामाजिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हैं। प्रेमचन्द जी ने जिस समाज का चित्रण करके तत्कालीन भारतीय समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित किया था उनका विश्लेषण बड़े मार्मिक ढंग से प्रसाद जी के उपन्यासों में हुआ है। एक भावुक कवि होने के कारण उनके उपन्यासों में सर्वत्र ही जीवन की काव्यात्मक तथा भावपूर्ण व्याख्याएँ मिलती हैं।

प्रेमचंद और प्रसाद के उपन्यासों द्वारा हिन्दी के उपन्यास साहित्य में एक नये युग का प्रादुर्भाव हुआ। आधुनिक उपन्यास साहित्य की जो कुछ प्रवृत्तियाँ मिलती हैं उनका सूत्रपात इन दोनों के उपन्यासों में मिलता है। दोनों ने ही भारत की तत्कालीन समस्याओं को लेकर उनका विश्लेषण किया है। प्रेमचंद जी ने अपने उपन्यासों द्वारा ग्रामीण समाज का यथार्थ चित्रण उपस्थित किया। प्रेमचंद जी अपने उपन्यासों में एक समाज-सुधारक के रूप में सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने एक प्रचारक का कार्य किया, परन्तु प्रसाद जी अपने उपन्यासों में एक कलाकार के रूप में दिखाई पड़ते हैं। इन दोनों के साहित्य का उद्देश्य भिन्न होकर भी उनकी उपन्यासों की आत्मा एक ही है। उपन्यास-शिल्प की दृष्टि से देखा जाय तो प्रसाद जी के उपन्यास अधिक कलात्मक लगते हैं और उनमें उपन्यास-शिल्प का संतुलन मिलता है। इन दोनों कलाकारों की कृतियों के द्वारा हिन्दी में विभिन्न प्रवृत्तियों के उपन्यासों के निर्माण में सहायता मिली। इस काल-विभाग में निम्नलिखित उपन्यासों के प्रकारों का सूत्रपात हुआ :—

१. यथार्थवादी सामाजिक उपन्यास।

२. स्वच्छंदतवादी उपन्यास।
३. मनोवैज्ञानिक उपन्यास।
४. ऐतिहासिक उपन्यास।

यथार्थवादी सामाजिक उपन्यासों की परंपरा का प्रारंभ प्रेमचंद जी के उपन्यासों में मिलता है। प्रेमचंद के समकालीन उपन्यासकारों ने उनके उपन्यासों की शैली पर अनेक उपन्यास लिखे। प्रेमचंद जी की आदर्शोन्मुख यथार्थवादी परंपरा का अनुसरण करने वालों में विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' का स्थान महत्वपूर्ण है। उनके 'माँ' (१९२९) और 'भिखारिणी' उपन्यास नारी-हृदय की भावनाओं का मनोवैज्ञानिक चित्रण उपस्थित करते हैं। उनके उपन्यासों के आदर्श तथा शैली पर प्रेमचंदजी का पूर्ण प्रभाव दिखाई देता है। 'कौशिक' जी ने अपने पात्रों का चित्रण बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। उनका 'माँ' उपन्यास इस काल के उपन्यास साहित्य में एक प्रयोग के रूप में उपस्थित हुआ। माँ के व्यक्तित्व का असर किस रूप में उसके बच्चों पर पड़ सकता है इसका मनोवैज्ञानिक चित्र इसमें उपस्थित किया है। इसमें मां के रूप में दो स्त्रियों का चरित्र उपस्थित किया गया है। 'सुलोचना' जैसी स्त्री अपने स्नेह तथा उपदेश से अपने पुत्र को चरित्रवान् बनाती है परन्तु 'सावित्री' अपने दत्तक-पुत्र को लाड़-चाव के कारण बहुत ही पतित बना देती है। सावित्री अपने दत्तक-पुत्र 'शम्भू' की असली माँ न होने के कारण एक हीनता (Inferiority complex) की भावना रखती है और अधिक प्यार करने के कारण 'शम्भू' का जीवन खराब करती है, परन्तु जब वह खुद माँ हो जाती है तब वह उसका जीवन सुधार पाती है।

'कौशिक' जी के 'भिखारिणी' उपन्यास में एक अनाथ तथा गरीब स्त्री का चरित्र उपस्थित किया गया है। जिस प्रकार परिस्थितियाँ मनुष्य के चरित्र को बनाती-बिगाड़ती हैं, उसी प्रकार चरित्रवान् व्यक्ति भी परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाता है। फटे-पुराने कपड़े के भीतर भी एक चरित्रवान् स्त्री की आत्मा का निवास होता है। इसका चित्रण 'जस्सो' नामक भिखारिणी के चरित्र में बड़ी सहानुभूति के साथ मार्मिक ढंग से चित्रित किया गया है। वह अपनी तपस्या के कारण अपना चरित्र उच्चकोटि का बनाती है। लोक-लज्जा तथा प्रेम के आदर्श का सुन्दर समन्वय उसके व्यक्तित्व में मिलता है।

चतुरसेन शास्त्री ने नारी की समस्या को लेकर 'हृदय की परख' (१९१८), 'हृदय की प्यास' (१९३२), 'अमर अभिलाषा' आदि उपन्यास लिखे। 'हृदय की परख' में विवाह की समस्या का विश्लेषण हुआ है। इसमें यह दिखाया गया है कि अनिच्छा से किया हुआ विवाह किस प्रकार अपने बुरे परिणामों को प्रकट करता है। 'हृदय की प्यास' में आधुनिक नारी के वैवाहिक जीवन की एक समस्या का चित्रण उपस्थित

किया गया है। एक शिक्षित तथा विवाहित युवक के मन में अपने मित्र की पत्नी के प्रति किस प्रकार आकर्षण होता है, और अपनी इस 'प्रेम-पिपासा' की तृप्ति के लिए वह क्या-क्या अनर्थ कर बैठता है, इसका मार्मिक चित्रण इस उपन्यास में मिलता है। परन्तु बाद में उसे पश्चाताप होता है और वह एक सुशील पुरुष बन जाता है। वह अपनी गलती का सुधार इस ढंग से करता है कि उसके चरित्र का चरम बिन्दु पाठकों को आकर्षित करता है। 'अमर अभिलाषा' में विधवाओं की समस्या पर प्रकाश डाला गया है।

ग्रामीण समस्याओं को लेकर सियाराम शरण गुप्त ने 'गोद' (१९३३) और 'अन्तिम आकांक्षा' (१९३४) नामक उपन्यास लिखे। भारतीय नारी की समस्या का चित्रण 'गोद' में मिलता है। हिन्दू-समाज में किंचित् संदेह आने पर भी नारी को दोषी समझा जाता है, इसी एक अन्याय को लेकर इस उपन्यास की रचना हुई है। अन्तिम आकांक्षा में भी अन्याय के विरुद्ध सर उठाया गया है। इसमें 'रामलाल' जैसे साधारण पात्र में मानवीय गुणों का आदर्श दिखाकर तत्कालीन हिन्दू समाज की अनेक कुरीतियों का दिग्दर्शन कराया गया है। साधारण मानव में भी आदर्श गुणों का चित्रण करने की गुप्तजी की शैली स्पृहणीय है। उनके उपन्यासों में 'नारी' (१९३७) उपन्यास को महत्वपूर्ण स्थान मिला है।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'बिदा' (१९२८) उपन्यास इस काल की एक महत्वपूर्ण रचना है। उनके इस उपन्यास में पाश्चात्य उपन्यास-कला का प्रभाव दिखाई देता है। लेखक ने यह उपन्यास तीन परिवारों की कहानी लेकर उपस्थित किया है। इसका चरित्र-चित्रण बहुत ही अच्छा हुआ है। सर्वत्र साधारण पात्रों की योजना की है, परन्तु पात्रों के नामकरण करते समय उनके व्यक्तित्व की व्याख्या का संकेत उनके नामों में भी दिया है। उपन्यास का प्रारंभ ही बहुत ही नाटकीय ढंग से हुआ है। श्रीवास्तवजी का यह एक आदर्शोन्मुख मौलिक उपन्यास है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी के 'अप्सरा' (१९३१), 'अलका' (१९३३), 'निरूपमा' (१९३६) आदि प्रारंभिक उपन्यासों में स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण की प्रधानता मिलती है। इन उपन्यासों में प्रसाद जी की रोमाण्टिक उपन्यास-कला का विकसित रूप मिलता है। प्रेमचंद की उपन्यास-कला का आदर्श उनके उपन्यासों में नहीं मिलता। 'अप्सरा' में दो स्वच्छंद प्रेमियों की कहानी है जिसमें प्रेम और देशसेवा का द्वन्द्व दिखाया गया है। परन्तु निराला ने 'अलका' में वास्तविक जीवन के यथार्थ का चित्रण करके किसान-आंदोलन की मार्मिक समस्या का उद्घाटन किया है। उनके इन उपन्यासों में नायिका को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। निरालाजी ने इसका संकेत 'अलका' की प्रस्तावना में इस रूप में दिया है :—

**"मुझे आशा है, हिन्दी के पाठक, साहित्यिक और आलोचक 'अलका' को अलकों के अंधकार में न छिपाकर उसकी आँखों का प्रकाश देखेंगे कि हिन्दी के नवीन पथ से वह कितनी दूर तक परिचय कर सकी है।"**

भगवती प्रसाद वाजपेयी के 'प्रेममयी' (१९२६), 'अनाथ पत्नी' (१९२८) 'त्यागमयी' (१९३२), 'पतिता की साधना' (१९३६) आदि उपन्यासों में स्त्री एवं पुरुष के रूपाकर्षण का चित्र खींचा गया है। इसी प्रकार पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के 'दिल्ली का दलाल' (१९२८), 'बुधुआ की बेटी' (१९२८) आदि उपन्यासों में भोली युवतियों तथा बालिकाओं के फँसाये जाने का चित्रण मिलता है।

इस काल-विभाग में मनोवैज्ञानिक उपन्यास भी लिखे गए। इस दृष्टि से जैनेंद्रकुमार, इलाचंद्र जोशी आदि के प्रारंभिक उपन्यास महत्वपूर्ण हैं। जैनेंद्र के 'परख' (१९२९) उपन्यास में नारी-जीवन का एक भावुकतापूर्ण चित्रण मिलता है जिसमें उपन्यास की निश्चित परिपाटी छोड़कर इसके द्वारा एक नई उपन्यास परंपरा का आरंभ हुआ है। इसमें कट्टो नाम की बालविधवा का समर्पण है और इस देहातिन विधवा का चरित्र-चित्रण बहुत कौशल के साथ चित्रित किया गया है। इसके उपन्यास होने में खुद लेखक ने संदेह प्रकट किया है। जैनेंद्र ने अपने 'मैं आगे क्या लिखना चाहता हूँ' शीर्षक लेख में परख के बारे में इस प्रकार लिखा है:—

**"'परख' को भी एक लंबी कहानी कहिये। उपन्यास के नाम पर तो वह कोरी याचना है-"[1]**

इस काल में पत्रात्मक शैली में लिखा हुआ उपन्यास 'चन्द हसीनों के खतूत' (१९२७) उपन्यास में मिलता है। बेचन शर्मा पाण्डेय 'उग्र' ने अपने इस उपन्यास द्वारा हिन्दू-मुसलिम एकता का प्रश्न सामने रखा है। यह एक प्रेम-प्रधान उपन्यास है और इसके द्वारा 'प्रेम ईश्वर है' इस सिद्धान्त की स्थापना की है। इसमें प्रेम का स्थान ईश्वर से भी बड़ा माना है:—

**अल्लाह भी मजनूं को**
**लैला नजर आता है।**
**बुतखाने के परदे में**
**काबा नजर आता है।**

इसमें प्रेमकथा का बहुत ही करुण दृश्य उपस्थित किया गया है तथा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि प्रेम धर्म से बड़ा है और धर्म यदि सच्चा है तो वह प्रेम के रास्ते का रोड़ा नहीं, फूल है। इसमें दो विजातीय युवक-युवती के आत्म-समर्पण द्वारा प्रेम के आदर्श की स्थापना हुई है।

---

१. **'साहित्यकार' (मासिक पत्रिका), जून १९५५, पृ० ९।**

इस काल के ऐतिहासिक उपन्यासों में भगवती चरण वर्मा, वृन्दावन लाल वर्मा आदि की कृतियों को महत्वपूर्ण स्थान है। भगवती चरण वर्मा का 'चित्रलेखा' (१९३४) उपन्यास हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में गिना जाता है। यह एक समस्या-प्रधान ऐतिहासिक उपन्यास है और इसकी कथा का विकास भारत की ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर हुआ है। इसमें 'पाप क्या है और उसका निवास स्थान कहाँ है' इस समस्या को लेकर लेखक ने उसके पात्रों द्वारा इसी समस्या का उत्तर भी दिया है। इस उपन्यास की मौलिक समस्या जीवन के नैतिक मूल्यों पर आधारित है। जीवन में चलते चलते पाप और पुण्य, सत्य और असत्य, यथार्थ और आदर्श, स्वार्थ और निःस्वार्थ, व्यक्ति और समाज आदि द्वन्द्वात्मक प्रश्न सामने आते हैं और उनका ठीक उत्तर देने का प्रयत्न इस उपन्यास में हुआ है। इस उपन्यास में जिन-जिन समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है उनका मूल रूप भारतीय दर्शन में मिल-सकता है। लेखक ने इसमें गिने-चुने पात्र रखे हैं और उनका चरित्र-चित्रण अत्यंत विशुद्ध ढंग से किया है। इसके मुख्य पात्र चित्रलेखा, बीजगुप्त तथा कुमारगिरि हैं। लेखक ने चित्रलेखा और बीज-गुप्त के साथ सहानुभूति रखते हुए भी कुमारगिरि के चरित्र-चित्रण में जो विकास दिखाया है वह अत्यंत प्रभावपूर्ण है। इस उपन्यास की भावधारा के बहुत ही सरल होने के कारण बीच-बीच में बहुत सुन्दर वाक्यांश मिलते हैं। यह शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास न होते हुए भी अपने काल के सांस्कृतिक वातावरण की झांकी स्पष्टतया देता है। वृन्दावनलाल वर्मा के 'गढ़कुंडार' (१९२९) और 'विराटा की पद्मिनी' उल्लेखनीय उपन्यास हैं। 'गढ़कुंडार' का प्रधान विषय है युद्ध और प्रेम। इसमें प्रेम का आदर्श 'तारा' और 'दिवाकर' जैसे पात्रों में मिलता है। इसी प्रकार 'विराटा की पद्मिनी' एक ऐतिहासिक रोमान्स है।

सन् १९१८ से सन् १९३६ तक ऐसे अनेक उपन्यासकार मिलते हैं जिनके एक-दो उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। इन उपन्यासकारों में शिवदास गुप्त ('श्यामा'), हरिदास माणिक ('राजपूतों की बहादुरी'), गोविंदवल्लभ पंत ('सूर्यास्त', प्रतिमा'), राधिका-रमण प्रसाद सिंह ('तरंग'), मन्नन द्विवेदी ('कल्याणी'), चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' (मनो-रमा), शिवपूजन सहाय (देहाती दुनिया), उषादेवी मित्रा ('पिया'), तेजरानी पाठक (हृदय का काँटा), ऋषभचरण जैन ('भाई'), शिवरानी देवी ('नारी हृदय'), श्रीनाथ सिंह ('उलझन') आदि मुख्य माने जाते हैं। इस प्रकार इस काल-विभाग में अनेक उपन्यास लिखे गये हैं।

इस काल-विभाग में प्रकाशित अनूदित उपन्यासों की संख्या बहुत है और उनमें अधिकतर बंगला, अंग्रेजी, मराठी, गुजराती, उर्दू आदि भाषाओं के साहित्य से अनूदित हैं। बंगला से बंकिमचंद चट्टोपाध्याय, प्रभात मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, राखालदास बन्धोपाध्याय आदि उपन्यासकारों की श्रेष्ठ कृतियों का अनुवाद हुआ है। हिन्दी

उपन्यास के प्रारंभिक काल में हिन्दी का उपन्यास-साहित्य बंगला उपन्यासों से प्रभावित रहा है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने बंगला से हिन्दी में अनूदित कथा-साहित्य के बारे में इस प्रकार अपना निर्णय दिया है:—

> **"हिन्दी के आधुनिक कथा-साहित्य के विकास में बंगभाषा के श्रेष्ठ उपन्यासों के अनुवादों का महत्वपूर्ण स्थान है। उसके द्वारा लोक-रुचि का परिष्कार हुआ, कथाशैली में नवीनता आई, भाषा में प्रौढ़ता आई और आधुनिक युग की विचार-धारा का भी प्रसार हुआ। उनमें भी रवींद्रबाबू और शरद्बाबू की कृतियों का विशेष प्रभाव पड़ा है।"[1]**

इससे स्पष्ट हो जाता है कि बंगला के उपन्यासों का प्रभाव हिन्दी उपन्यासों पर अधिक मात्रा में पड़ रहा है। बंगला का साहित्य अंग्रेजी से प्रभावित होने के कारण अब लोगों की दृष्टि अंग्रेजी उपन्यासों की ओर भी आकर्षित हुई। ड्यूमा, तुर्गनेव, अनातोले फ्रान्स, टॉलस्टाय, गोर्की आदि पाश्चात्य कलाकारों के उपन्यासों का भी अनुवाद होने लगा। मराठी से हरि नारायण आपटे तथा गुजराती से रमणलाल देसाई आदि के उपन्यासों का अनुवाद हुआ। इसी प्रकार उर्दू के कई उपन्यासों का भी अनुवाद हुआ है। इन अनूदित उपन्यासों के प्रकाशित होने के कारण उपन्यास-रचना का नया आदर्श पाठकों और लेखकों के सामने रखा गया।

सन् १९१८ से सन् १९३६ तक जितने मौलिक उपन्यास लिखे हैं उनकी संख्या बहुत मिलती है। आधुनिक उपन्यास-साहित्य का प्रारंभ प्रेमचंद के सुधारवादी तथा मानववादी उपन्यासों के प्रकाशन के साथ होता है। प्रेमचंद के पहले घटना-प्रधान उपन्यासों का निर्माण हुआ था और जनता का मनोरंजन होता था। उनमें पात्रों के चरित्र-विकास के लिये कोई स्थान ही नहीं दिया गया। अभी तक के कथा-साहित्य में जो पात्र मिलते थे एक प्रकार-विशेष के रूप में चित्रित किये जाते थे। उनके चरित्र-चित्रण में भिन्न-भिन्न गुणों को स्थान नहीं दिया था। परन्तु प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों द्वारा इस दृष्टि से महत्वपूर्ण काम किया। उन्होंने अपने उपन्यासों में चरित्र-चित्रण को महत्व का स्थान दिया। डा० श्रीकृष्णलाल के शब्दों में:—

> **"......चरित्र चित्रण का पूर्ण विकास पहले पहल प्रेमचंद ने ही प्रकट किया। उन्होंने ही पहले पहल अपने चरित्रों की शारीरिक और नैतिक विशेषताओं की ओर ध्यान दिया, उनको व्यक्तिगत रुचि, आदर्श, भावना तथा उनकी कम-जोरियों का चित्र पाठकों के सामने उपस्थित किया।"[2]**

---

१. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी—'हिन्दी कथा-साहित्य' १९५४, पृ० ४७।

२. डा० श्रीकृष्णलाल—'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास,' तृ० संस्करण, १९५२, पृ० ३१३।

प्रेमचंद जी ने अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण की ओर अधिक ध्यान दिया है। उन्होंने अपने 'हिन्दी का उपन्यास साहित्य' शीर्षक निबंध में स्पष्ट लिखा है :—

**"चरित्रों की कल्पना से उपन्यास का आरंभ होना चाहिए घटना की कल्पना से नहीं।"[१]**

इस प्रकार चरित्र-प्रधान उपन्यासों के निर्माण की दृष्टि से प्रेमचंद के उपन्यासों का महत्व मानना चाहिए। प्रसाद जी ने अपने उपन्यासों में अनेक प्रकार के पात्रों का चित्रण करके हिन्दी उपन्यास साहित्य की परंपरा को आगे बढ़ाया।

रचना-विधान की दृष्टि से देखा जाय तो प्रेमचंद और प्रसाद जी के उपन्यास-शिल्प का अनुकरण होता रहा है। परन्तु इस काल के उपन्यासों की यह एक विशेषता है कि उनके उद्देश्य ही उनके रचना-विधान के सूत्रधार बने हैं। इस काल में चरित्र-प्रधान उपन्यासों की परंपरा का सूत्रपात होने के कारण रचना-विधान की कला में परिवर्तन हुआ है। कथानक का निर्माण उसके पात्रों के हाथ में चला गया और लेखक भी उपन्यास की कथावस्तु का विकास पात्रों द्वारा करने लगे। घटना-प्रधान उपन्यासों में लेखक इशारे से ही घटनाओं का रूप बदल जाता है और पात्र लेखक के निश्चित किए रास्ते पर चलने लगते हैं। परन्तु चरित्र-प्रधान उपन्यासों में दैव-घटना या संयोग क लिए कोई स्थान न रहने के कारण पात्रों के चरित्र-चित्रण में ही लेखक का कौशल दिखाई पड़ता है। 'सेवासदन', 'कंकाल', 'तितली' आदि उपन्यासों में चरित्रों के आधार पर ही कथा-सृष्टि की रचना हुई है।

इस काल के उपन्यासों पर प्रेमचंद की उपन्यास-कला का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस काल के उपन्यासों के अधिकतर कथानक आकार में व्यापक तथा विस्तृत हैं। कथानक की कार्यावस्था की दृष्टि से उनके तीन-चार भाग किए जा सकते हैं। 'गोदान', उपन्यास का विभाजन चार भागों में किया जा सकता है। 'गोदान' और 'तितली' में साथ-साथ दो कथानक चलते हैं। प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'विदा' उपन्यास पाँच भागों में विभाजित हुआ है। उपन्यासों का आकार बड़ा होने के कारण वर्णनात्मक शैली का प्रयोग अधिक मात्रा में मिलता है। कथानक के बीच-बीच में सुन्दर संवादों की योजना हुई है। उपन्यास की कला का मुख्य केन्द्र चरित्र-चित्रण होने के कारण लेखकों ने अपनी प्रतिभा का उपयोग पात्रों के चरित्र-विकास दिखाने के लिए किया है। इस प्रकार उपन्यास का सौन्दर्य उसके पात्रों के चरित्र-चित्रण में दिखाई पड़ता है।

इस काल विभाग के अधिकतर उपन्यासों में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों का चित्रण हुआ। नारी-समस्या की दृष्टि से भी अनेक उपन्यास लिखे गए और इन उपन्यासों में पुरुष और स्त्री के स्वाभाविक आकर्षण के बारे में

---

२. तेरहवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कार्य-विवरण, भाग दूसरा, पृ० ८९।

अनेक प्रकार की व्याख्याएँ की गईं। आधुनिक शिक्षा का प्रचार होने के कारण नई-नई सामाजिक समस्याओं का निर्माण होने लगा और पात्रों के वैज्ञानिक चरित्र-चित्रण की परंपरा का सूत्रपात हुआ और इलाचंद्र जोशी, जैनेन्द्रकुमार आदि उपन्यासकारों की आरंभिक कृतियाँ प्रकाशित हुईं। इस काल में बौद्धिकता की प्रधानता के कारण लेखकों को अपनी रचनाओं के लिए नई दिशाएँ मिलीं और उनमें अनेक नव्यतर प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ।

## विस्तार-काल (सन् १९३६ ई० से सन् १९५० ई० तक)

हिन्दी उपन्यास-साहित्य की अमर कृति 'गोदान' में प्रेमचंद के उपन्यासों की विकसित परंपरा का आखिरी रूप मिलता है। जब 'गोदान' प्रकाशित हुआ तब हिन्दी उपन्यास-साहित्य के निर्माण में अनेक कलाकार योग देते थे और उनमें जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी, वृन्दावनलाल वर्मा, अज्ञेय, भगवती प्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, गोविंदवल्लभ पंत, सियाराम शरण गुप्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी, ऋषभचरण जैन, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, राहुल सांकृत्यायन, श्रीनाथ सिंह, बेचन शर्मा पाण्डेय, उषादेवी मित्रा आदि उपन्यासकार मुख्य माने जाते हैं।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य के इतिहास में सन् १९३६ का वर्ष अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस वर्ष प्रेमचंद का 'गोदान', जैनेंद्रकुमार का 'सुनीता', भगवतीचरण वर्मा का 'तीन वर्ष', सूर्यकान्त त्रिपाठी का 'निरूपमा', भगवती प्रसाद वाजपेयी का 'पतिता की साधना' आदि उल्लेखनीय उपन्यासों का प्रकाशन हुआ। इनमें प्रेमचंद का आखिरी उपन्यास 'गोदान' बहुत ही महत्वपूर्ण है। गोदान में जिस परंपरा का दर्शन मिलता है उसका सूत्रपात 'सेवासदन' में मिलता है। प्रेमचंद ने सेवासदन के बाद अनेक उपन्यासों का निर्माण करके भारतीय जीवन को बहुत ही विस्तृत ढंग से अपने पाठकों के सामने उपस्थित किया। 'सेवासदन' के पहले जितने उपन्यास लिखे गए थे उनमें मनुष्य जीवन के यथार्थ को बहुत ही महत्व का स्थान दिया था, परन्तु प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों द्वारा जीवन की वास्तविकता का चित्रण करके तत्कालीन समाज की आशा-आकांक्षाओं का स्वरूप अपने पाठकों के सामने रखा। परन्तु 'गोदान' में जिस परंपरा का चित्र मिलता है वह उनके दूसरे उपन्यासों से बहुत ही निराला है।

प्रेमचंद के उपन्यासों में यथार्थ और आदर्श का संघर्ष दिखाई पड़ता है और उसका प्रभाव तत्कालीन उपन्यास-साहित्य पर पड़ा है। 'गोदान' में जीवन के यथार्थ का पूर्ण चित्रण मिलता है परन्तु उनके 'सेवासदन' से 'कर्मभूमि' तक के उपन्यासों में आदर्श को सामने रखकर ही यथार्थ का चित्रण मिलता है। प्रेमचंद का सुधारवाद जिस आदर्शवाद के रूप में खड़ा रहा है उसका विकसित रूप यथार्थवाद, अति यथार्थवाद, प्रकृतवाद, समाजवादी यथार्थवाद, ऐतिहासिक यथार्थ आदि रूपों में आज के उपन्यासों

**गया हो। आदर्श को सजीव बनाने के ही लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यासों की यही विशेषता है।"[१]**

इससे स्पष्ट हो जाता है प्रेमचंद जी का 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' उनकी उपन्यास-कला का केन्द्रबिन्दु है और उसका दर्शन 'गोदान' को छोड़ कर उनके सब उपन्यासों में दिखाई पड़ता है। उन्होंने आदर्श को सजाने के लिए ही यथार्थवाद का उपयोग किया। परन्तु उन्होंने 'गोदान' में केवल 'यथार्थवाद' का उपयोग किया और 'हमारी आँखें खोल दीं'। इस प्रकार आदर्शोन्मुख यथार्थवाद द्वारा यथार्थवाद का प्रवेश आधुनिक उपन्यास-साहित्य में हुआ।

सन् १९३६ के बाद के उपन्यास प्रेमचंद के साहित्य से प्रभावित हैं। 'गोदान' का निर्माण जिस 'यथार्थवाद' के रूप में हुआ उसका विकास अनेक रूपों में हुआ। प्रेमचंद के जीवन-काल में 'कंकाल', सियारामशरण का 'गोद' (१९३४) आदि उपन्यासों पर प्रेमचंद जी का प्रभाव दिखाई पड़ता है परन्तु बाद में वह एक विकसित रूप में हिन्दी के आधुनिक उपन्यासों में दिखाई पड़ने लगा।

प्रेमचन्दोत्तर काल में भारत की सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, धार्मिक, आदि परिस्थितियों में परिवर्तन के लक्षण दिखाई पड़ते हैं और उनका प्रभाव साहित्य पर स्पष्ट दिखाई देता है। आधुनिक साहित्य पर प्रभाव डालने वाले फ्रायड, मार्क्स, महात्मा गांधी आदि युग-पुरुषों के सिद्धान्तों का प्रभाव आधुनिक उपन्यासों पर दिखाई देता है। भारत के राजनीतिक दलों में जिन-जिन सिद्धान्तों को प्राधान्य दिया जाता था उनका भी प्रभाव इन उपन्यासों पर दिखाई देता है। इस प्रकार भारतीय समाज की नारी-समस्या, वेश्या-समस्या, विधवा-समस्या आदि का भी विश्लेषण मिलने लगा। उसी प्रकार प्रेम का आदर्श, कर्तव्य और प्रेम, वैचारिक संघर्ष आदि पर प्रकाश डाला गया। इसलिए किन्हीं भी उपन्यासों में किसी एक परम्परा या विषय का विश्लेषण नहीं मिलता। इस काल के अधिकतर उपन्यासकार अपने उपन्यासों में अनेक धाराओं तथा समस्याओं का चित्रण साथ-साथ करते हैं। इसलिए उपन्यास-साहित्य में अनेक नव्यतर प्रवृत्तियों का दर्शन मिलता है परन्तु उनके अलग-अलग वर्ग स्पष्ट रूप में नहीं मिल पाते। मोटे तौर पर हिन्दी का उपन्यास-साहित्य दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—सामाजिक उपन्यास और ऐतिहासिक उपन्यास।

अंग्रेजी सभ्यता तथा शिक्षा के प्रचार के कारण भारतीय जीवन में एक नये युग का दर्शन होने लगा और पाश्चात्य विचारों के संपर्क में आने के कारण भारतीय स्त्री-पुरुषों के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में अनेक समस्याओं का सूत्रपात हुआ तथा 'नारी-समस्या', 'विवाह-समस्या', 'विधवा-समस्या', 'प्रेम का आदर्श,'

---

**१. प्रेमचंद: 'कुछ विचार', तृतीय संस्करण, पृ० ४४।**

पुरुष और स्त्री का संबंध आदि प्रश्न उपस्थित हुए। इन समस्याओं को लेकर जितने उपन्यास लिखे गये हैं उन्हें सामाजिक उपन्यासों की श्रेणी में रखा जा सकता है। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान की उन्नति और भारत की वैचारिक तथा राजनीतिक धाराओं के प्रचलन के कारण उपन्यास के निर्माण के उद्देश्य में भी परिवर्तन हुए हैं तथा सामाजिक उपन्यासों में भिन्न-भिन्न आदर्शों के धरातल के रूपों में उपन्यास-साहित्य की तीन शाखाएँ प्रस्फुटित हुईं।

आधुनिक मनोविज्ञान-शास्त्र की उन्नति के कारण पात्रों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने की पद्धति का प्रारम्भ हुआ और फ्रायड आदि आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के सिद्धांत के अनुसार पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण होने लगा और मनोवैज्ञानिक उपन्यास की एक स्वतंत्र शाखा निर्माण हुई। उसी प्रकार मार्क्सवादी विचारों का प्रचार होने के कारण उनका प्रभाव भी देश की समस्याओं पर पड़ा और समाजवादी उपन्यासों की अलग शाखा प्रस्फुटित हुई। इसी प्रकार भारत की परतंत्रता तथा महात्मा गांधी के उदय के कारण अनेक राजनीतिक विचारों का प्रभाव देश की समस्याओं पर होने लगा और आधुनिक उपन्यासों में राजनीतिक उपन्यासों की अलग शाखा निर्माण हुई। इस प्रकार सामाजिक उपन्यासों से तीन अलग अलग शाखाएँ निर्माण हुईं।

ऐतिहासिक उपन्यासों में दो वर्ग किये जा सकते हैं। जिन उपन्यासों में केवल ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर तत्कालीन जीवन तथा समाज का चित्रण किया जाता है उनको शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों की श्रेणी में रखा जा सकता है। परन्तु जब ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर तत्कालीन समाज का काल्पनिक चित्र खींच कर मनुष्य तथा समाज की प्राकृतिक समस्याओं पर विचार किया जाता है तब स्वच्छन्दतावादी ऐतिहासिक उपन्यासों की अलग श्रेणी दिखाई देती है। अतः हिन्दी उपन्यास-साहित्य का निम्नलिखित प्रकारों में विभाजन कर उनका अध्ययन किया जा सकता है—

१. सामाजिक उपन्यास।
२. मनोवैज्ञानिक उपन्यास।
३. समाजवादी उपन्यास।
४. राजनीतिक उपन्यास।
५. ऐतिहासिक उपन्यास।

**सामाजिक-उपन्यास**

हिन्दी में सामाजिक उपन्यासों का दर्शन उसके आरंभिक काल में हुआ और उसका विकसित रूप प्रेमचंद, प्रसाद, कौशिक आदि के उपन्यासों में दिखाई देता है। सामाजिक उपन्यासों में समाज की सर्वसाधारण समस्याओं का चित्रण होता है। इसमें समाज की धार्मिक तथा रूढ़िवादी परम्पराओं, प्रेम का आदर्श, नारी का स्वरूप

स्त्री और पुरुष का संबंध, देश के सुधार आदि पर विचार किया जाता है। इस प्रकार के सामाजिक उपन्यासों में प्रतापनारायण श्रीवास्तव, सियाराम शरण गुप्त, ऋषभचरण जैन, सूर्यकान्त त्रिपाठी, गोविन्द वल्लभ पंत, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, उषादेवी मित्रा, श्रीनाथ सिंह, रांगेय राघव, अनुपलाल मण्डल, पहाड़ी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि के उपन्यास आते हैं। और उन्हें 'शुद्ध सामाजिक' उपन्यासों की संज्ञा दी जा सकती है।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने 'बिदा' उपन्यास के बाद 'विजय', 'विकास', आदि उपन्यास लिखे। 'विजय' में विधवा-समस्या पर विचार किया गया है और विधवाओं के लिए भारतीय-दृष्टिकोण को ही उपयुक्त माना है। इसके एक उपदेश-प्रधान रचना होने के कारण उसमें उन्होंने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए बीच-बीच में बड़े-बड़े व्याख्यान रख कर उपन्यास को एक प्रबंध का रूप दिया है। उन्होंने इसमें आधुनिक स्त्रियों के विचारों का परिचय देते हुए भारतीय स्त्री की नम्रता, सहनशीलता आदि को महत्वपूर्ण स्थान देकर विधवाओं का विधवा रहना उचित माना है।

सियाराम शरण गुप्त के 'नारी' उपन्यास की नायिका 'जमुना' द्वारा चिरंतन नारी की आन्तरिक सहनशीलता, सत्यशीलता आदि का आदर्श उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार उषादेवी मित्रा के 'वचन का मोल', 'पिया', 'जीवन की मुसकान', 'सोहनी' आदि उपन्यासों में नारी की विविध समस्याओं का चित्रण मिलता है और उसके गृहणीत्व के आदर्श की स्थापना की है। 'वचन का मोल' उपन्यास में प्रतिमा पात्र द्वारा नारी के पूर्णत्व पर इस प्रकार प्रकाश डाला है—

**"प्रतिभा..... किन्तु मेरे विचार से गृहस्थी के कामों बिना नारी का जीवन अपूर्ण रह जाता है। नारी का वास्तविक सौन्दर्य इसी में है। यहाँ पर वह अन्नापूर्णा है।....इसी छोटे से रसोई-घर के अंदर से स्वामी, पुत्र, परिजनों को संतोषपूर्वक मिलाने में वह प्राप्त होती है। वह शक्तिरूपिणी है, भीतर-बाहर के काम समान भाव से चलायेंगी, तभी न उसके नारीत्व का पूर्ण-विकास होगा।"**[1]

जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' में पुरुष और नारी के संबंध पर ही विचार किया गया है। जैनेन्द्र ने इसमें विवाह के सामाजिक महत्व पर इस प्रकार प्रकाश डाला है—

**"विवाह की ग्रंथि दो के बीच ग्रंथि नहीं है वह समाज के बीच की भी है। चाहने से वह क्या टूटती है? विवाह भावुकता का प्रश्न नहीं, व्यवस्था का प्रश्न है। वह प्रश्न क्या यों टाले टल सकता है? वह गाँठ है बँधी कि खुल नहीं सकती, टूटे तो टूट भले ही जाय। लेकिन टूटना कब किसका श्रेयस्कर है?"**[2]

---

१. उषादेवी मित्रा : 'वचन का मोल' पंचम संस्करण, १९३६, पृ० १४।

२. जैनेंद्रकुमार : 'त्याग पत्र' प्रथम बार, १९३७, पृ० २२।

इस काल के सामाजिक उपन्यासों की यह भी एक विशेषता है कि प्रसाद जी ने अपने 'कंकाल' द्वारा हिन्दू समाज की स्त्रियों की स्थिति का जो हृदय-विदारक चित्र उपस्थित किया है उसकी व्याख्या इनमें मिलती है। 'कंकाल' की धारणा के मूल में स्त्री-पुरुष का संबंध है और प्रसाद जी ने 'कंकाल' द्वारा यह संदेश दिया है कि स्त्रियों को समानता देकर उनके व्यक्तित्व का भी सन्मान करना चाहिये। कंकाल का यह सामाजिक दृष्टिकोण इस काल के उपन्यासों में कहीं न कहीं उपस्थित हो जाता है।

भगवती प्रसाद वाजपेयी के उपन्यासों में स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक रूपाकर्षण का चित्रण किया गया है। उन्होंने अपने 'पतिता की साधना' 'पिपासा', 'दो बहने' 'निमंत्रण' आदि उपन्यासों द्वारा समाज की आर्थिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि पर स्त्री-पुरुष के बीच के प्रेम की अतृप्ति, अभिलाषा, आदि का चित्र उपस्थित किया है। उन्होंने अपने उपन्यास 'निमंत्रण' के 'विशेष' (भूमिका) में प्रस्तुत उपन्यास के उद्देश्य की व्याख्या इस प्रकार की है—

> **"हमारे समाज की आज जो आर्थिक, कौटम्बिक, नैतिक और मानसिक स्थिति है, उसकी बाहर से देखने में फैली और बिखरी हुई, किन्तु यथार्थ में सम्बन्ध और शृंखलित—एक झलक इस अपने दसवें उपन्यास में देने की चेष्टा मैंने की है।"**

बाजपेयी ने अपने उपन्यासों में प्रेम के चित्रण पर अधिक ध्यान दिया है। ऐसा लगता है उनका एकमात्र प्रिय विषय प्रेम ही है। वे विवाहित नारी की अपेक्षा प्रेयसी में प्राणश्वरी पाते हैं। 'निमंत्रण' उपन्यास में उन्होंने प्रेयसी की व्याख्या इस प्रकार की है—

> **"विवाह तो देवी को नारी बना डालता है। विवाह तो उन स्थूल व्यापारों से सम्बद्ध है, जिनसे गन्ध आती है। —जो बासी पड़ते-पड़ते अन्त में सड़ तक जाते हैं। किन्तु प्रेयसी तो प्राणेश्वरी होती है। विवाह तो भूख-शान्ति का एक मार्ग है।"[१]**

कुटुंबप्यारी सक्सेना के 'हृदय की ताप' उपन्यास में स्त्री समस्या के एक अंग का विश्लेषण हुआ है। विवाह के द्वारा दो शरीर एक कर दिए जाते हैं, परन्तु दोनों की आत्मा को एक नहीं किया जा सकता, इसकी व्याख्या की गई है और यही स्त्री-पुरुष के हृदय की ताप है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने विवाह की समस्या को लेकर 'सितारों के खेल' तथा 'गिरती दीवारें' नामक उपन्यास लिखे। 'सितारों के खेल' में एक असाधारण प्रेम-

---

१. भगवतीप्रसाद वाजपेयी—'निमंत्रण', पृ० २२६।

कहानी द्वारा भारतीय मध्यम् वर्ग के पारिवारिक जीवन का सकरुण चित्र उपस्थित कर, लेखक ने भारतवर्ष की वैवाहिक समस्या, प्रेम, भावुकता, आदि पर प्रकाश डाला है। अश्कजी ने अपने दूसरे उपन्यास 'गिरती दीवारें' में वैवाहिक जीवन की विषमता पर प्रकाश डाला है। यह उपन्यास वर्तमान समाज का एक निष्पक्ष चित्र सामने रखता है जिसमें हमारी प्राचीन रूढ़ियों तथा परम्पराओं की दीवारें गिरती जा रहीं और उनकी जगह नवीन की नींव पड़ रही है। इसमें चेतन नामक युवक का जीवन दिखाया है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने इस उपन्यास की प्रशंसा निम्नलिखित शब्दों में सरस्वती पत्रिका में की है—

**"'गिरती दीवारें' का नायक चेतन विद्रोही नहीं, बदमाश नहीं, व्यभिचारी नहीं, केवल टुच्चा है। 'गिरती दीवारें' में न तो मैंने प्रेम का विद्रोह पाया और न पाप और वासना की प्रचंडता ही। हिन्दी में समाज विद्रोह और मनोविज्ञान के नाम से व्यभिचार की लीलाओं में कला और व्यक्तिवाद की महिमा तो कितने ही कलाकार ने व्यक्त की है; पर यह पहला उपन्यास है जिसमें मैंने सिर्फ टुच्चेपन में जीवन की गरिमा देखी।"[1]**

भारतीय शिक्षित युवक-युवतियों के आधुनिक जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न रांगेय राघव का 'घरौंदे', ऋषभचरण जैन का 'मन्दिर-दीप' आदि उपन्यासों में हुआ है। 'घरौंदे' में कालेज के वातावरण का सुन्दर चित्र खींचा गया है। इसमें रांगेय जी ने अपने एक पात्र द्वारा आधुनिक प्रेम की समस्या पर जो व्यंग्य कसा है वह बहुत ही यथार्थ है—

**"लीला ने उपेक्षा से कहा—राजनीति में कम्युनिस्ट होना और प्रेम में प्रियतमा को बहिन बताना आजकल की सबसे बड़ी इजाजद है।"[2]**

'मन्दिर-दीप' में कथानक बहुत ही रोचक तथा मनोरंजक होने के कारण उसे पढ़ते समय आगे की घटना जानने की तीव्र उत्सुकता बढ़ती है।

'निराला' के उपन्यासों के कथानकों में प्रेमचंद की उपन्यास-कला का प्रभाव मिलता है। उनके उपन्यासों में ग्रामीणों की समस्या, जमींदारों तथा महाजनों द्वारा किसानों पर अन्याय, ग्राम-संघटन आदि पर विचार किया गया है। निराला जी के प्रारंभिक उपन्यासों में उनकी रोमानी प्रवृत्ति का दर्शन मिलता है। इसलिए उनकी 'अप्सरा' जैसी प्रारंभिक रचनाओं में नारी के मनोरम माधुर्य का दर्शन होता है। परन्तु उनकी 'बिल्लेसुर बकरिहा' जैसी रचनाओं में 'गाँव का चित्र' मिलता है और इस तरह निराला जी समाज के यथार्थ चित्रण में आकृष्ट हुए हैं। प्रेमचंद के

---

१. **'सरस्वती' मासिक पत्रिका, सन् १९५२, पृ० ३३८।**

२. **रांगेय राघव—'घरौंदे' प्रथम संस्करण, १९४६, पृ० ३३५।**

'गोदान' की परम्परा का दर्शन अनुपलाल मण्डल द्वारा लिखित 'दस बीघा जमीन' में मिलता है। अनुपजी ने इस उपन्यास द्वारा ग्रामीण समाज का सच्चा तथा सजीव चित्र पाठकों के सामने उपस्थित किया। इस काल में अनेक ऐसे उपन्यास मिलते हैं जिनमें किसी न किसी रूप में समाज की समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है।

**मनोवैज्ञानिक उपन्यास**

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का सूत्रपात चरित्र-प्रधान उपन्यासों में मिलता है। घटना-प्रधान उपन्यासों में पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिए अवकाश नहीं मिल सकता परन्तु चरित्र-प्रधान उपन्यासों में पात्रों के चरित्र-विकास पर प्रकाश डाला जाता है और उसके मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व का विश्लेषण किया जा सकता है। पाश्चात्य साहित्य और आधुनिक शिक्षा-प्रचार के कारण भारतीय जीवन में अनेक समस्याओं का निर्माण हुआ और उनका प्रभाव शिक्षित स्त्री-पुरुषों की वैयक्तिक समस्याओं पर पड़ने लगा। मनुष्य का बाह्य-जीवन उसके अंतरंग की अपेक्षा कुछ निराला होता है। मनुष्य का मस्तिष्क जो सौ साल पहले था वह आज नहीं है। वैज्ञानिक अनुसंधान तथा शिक्षा के प्रचार के कारण उसे दैनिक जीवन में बहुत कुछ सोचना पड़ता है और अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उसके बाह्य जीवन की अपेक्षा उसके नित्यप्रति के आन्तरिक जीवन के अनुभवों में एक प्रकार का संघर्ष दिखाई पड़ता है और मन में संघर्षों की सृष्टि निर्माण होती है।

आजकल के समाज में नारी-समस्या तथा रोटी की समस्या महत्वपूर्ण स्थान रखती है। आधुनिक शिक्षा तथा पाश्चात्य विचारों के प्रभाव के कारण स्त्रियों के जीवन में अनेक संघर्ष दिखाई पड़ते हैं। वैयक्तिक समस्या के रूप में जब सेक्स-समस्या का रूप प्रकट होता है तब सामाजिक, राजनीतिक, और वैयक्तिक समस्यों का प्रश्न व्यक्ति के सामने ही नहीं राष्ट्र के सामने ही खड़ा हो जाता है। यह प्रश्न स्त्री और पुरुष के सामने 'प्रेम और कर्तव्य' के संघर्ष के रूप में भी उपस्थित हो जाता है। इसलिए समाज में अनेक चारित्र्यिक कुरीतियों तथा प्रथाओं का प्रादुर्भाव होता रहा है। समाज के ढाँचे में परिवर्तन दिखाई पड़ता है। प्रेमचंद ने अपने काल की सामाजिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण करके भारत की अनेक तत्कालीन समस्याओं के सुधार के मार्ग भी बताये।

प्रेमचंद जी ने अपने उपन्यासों द्वारा चरित्र-प्रधान उपन्यासों की परम्परा आरम्भ की और पात्रों के चरित्रों का विकास दिखाया, इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि उनके द्वारा मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की परम्परा का सूत्रपात हुआ। परन्तु उनके उपन्यासों में कथा-वस्तु को प्राधान्य होने के कारण वे अपने पात्रों के चारित्र्यिक विशेषताओं पर अधिक ध्यान नहीं दे पाये उनका कहना था—

"उपन्यास के चरित्रों का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकासपूर्ण होगा उतना ही पढ़ने वालों पर उसका असर पड़ेगा,....कोई उपन्यास शुरू करने के लिए यदि हम उन चरित्रों का एक मानसिक चित्र बना लिया करें तो उनका विकास दिखाने में हमें सरलता होगी....अगर पाठक का यह भाव भी हो कि इस दशा में ऐसा नहीं होना चाहिये था तो इसका यह आशय हो सकता है कि लेखक अपने चरित्र को अंकित करने में असफल रहा। चरित्रों में कुछ न कुछ विशेषता भी रहनी चाहिये।"[1]

इससे स्पष्ट पता लगता है कि प्रेमचंद जी ने अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण पाठकों की समझ की शक्ति का भी ध्यान रखकर किया है। वे अपने उपन्यासों में पात्रों के चरित्रों का उतना विश्लेषण नहीं कर पाये। इसलिए वे अपने उपन्यास विषयक निबंध में भावी उपन्यास के बारे में इस प्रकार लिखते हैं—

"यों कहना चाहिये कि भावी उपन्यास जीवन-चरित होगा, चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। ....हाँ, वह चरित्र इस ढंग से लिखा जायगा कि उपन्यास मालूम हो। अभी हम झूठ को सच बनाकर दिखाना चाहते हैं, भविष्य में सच को झूठ बनाकर दिखाना होगा।...किसी किसान का चरित्र हो, या किसी देश-भक्त का, या किसी बड़े आदमी का, पर उसका आधार यथार्थ पर होगा। तब यह काम उससे कठिन होगा जितना अब है, क्योंकि ऐसे बहुत कम लोग हैं, जिन्हें बहुत से मनुष्यों को भीतर से जानने का गौरव प्राप्त हो।"[2]

इस तरह प्रेमचंद ने भविष्य के उपन्यासों के बारे में जो संकेत दिये हैं उनके अनुसार जैनेन्द्र कुमार, इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय आदि के उपन्यासों में 'मनुष्यों को भीतर से जानने' का प्रयत्न हुआ और उसे ही आधुनिक अर्थ में पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने की संज्ञा मिली।

जैनेन्द्र कुमार के 'सुनीता' (१९३६), 'त्यागपत्र' (१९३७), 'कल्याणी" (१९४०) आदि उपन्यासों में एक नई प्रवृत्ति का दर्शन मिलता है। प्रेमचंद ने 'कर्म-भूमि' तक के अपने उपन्यास विशेष सिद्धान्त को सामने रख कर ही लिखे हैं और 'गोदान" में वे अपने सिद्धान्तों से हट कर मनुष्य-स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने लगे परन्तु गोदान की कथावस्तु का विस्तार इतना था कि वे इस कार्य में उतने सफल न हो सके, परन्तु उनके बाद जैनेन्द्र ने प्रेमचंद की इस परम्परा को आगे बढ़ाया और अपने उपन्यासों की योजना की। जैनेन्द्र पर आधुनिक मानस-शास्त्र का प्रभाव है। जैनेन्द्र ने समाज को केवल देखा ही नहीं अपने अनुभव तथा सत्य के आधार पर

---

१. प्रेमचंद: 'कुछ विचार' तृ० सं०, १९४५, पृ० ५८-५९।
२. प्रेमचंद: 'कुछ विचार', तृ० सं०, १९४५, पृ० ६१।

सामने आई हुई समस्याओं के मूल की खोज की और नैतिक दृष्टि से उनकी व्याख्या भी की। उन्होंने अपने उपन्यासों द्वारा अनेक बातें ऐसे ढंग से कही है कि उनमें अधिकतर बातें अनुभव की मिलती हैं। वे थोड़ा कहते हैं और पाठक बहुत अधिक ग्रहण कर पाता है।

जैनेन्द्र के उपन्यासों की मुख्य समस्या है—नारी का सतीत्व। उन्होंने अपने 'कट्टो', 'सुनीता', 'मृणाल' और 'कल्याणी' इन चारों पात्रों के चार अलग-अलग रूप दिखाये हैं, किन्तु चारों की एक ही समस्या है। नारी की इस समस्या का हल करने में ही जैनेन्द्र की कला का रूप दिखाई पड़ता है। जैनेन्द्र एक बड़े दार्शनिक तथा कलाकार मालूम होते हैं। वे गांधीवाद तथा फ्रायड के सिद्धान्तों से प्रभावित हैं और जो सोचते हैं, वही सचाई के साथ कहते भी हैं। उनकी नारी में नवीनता है और साथ ही वह भी एक विशेष शक्ति का अनुभव करती है। इसलिए वह अपने त्याग और कष्ट-सहन के द्वारा अनैतिक पुरुषों को भी ठीक मार्ग पर ला सकती है। जैनेन्द्र जी नारी के इस व्यक्तित्व की गहराई में प्रवेश कर सके हैं। उनकी नारी में जागरूकता है, इसलिए जैनेन्द्र की नैतिक समस्या का उत्तर नारी के अनैतिक होने में नहीं, बल्कि अपने त्याग और बलिदान द्वारा अपने पुरुष को ठीक रास्ते पर ले आने में है। पात्रों की निम्नलिखित उक्तियों में जैनेन्द्र की नारी की जागरूकता तथा बलिदान की भावना का दर्शन मिल सकता है—

१. **(कट्टो बिहारी से कहती है)—"पहले एक थे, अब दो हो गये हैं। दो की सेवा करूँगी। मेरा तो काम और बढ़ गया है।"[१]**

२. **(कट्टो बिहारी से कहती है)—"बिहारी बाबू... बिहारी बाबू, क्या यही नहीं हो सकता? क्या हम भी दो ऐसे ही नहीं हो सकते? दूर, फिर भी बिलकुल पास। अलग-फिर भी अभिन्न। दो, फिर भी एक। एक ही उद्देश्य, एक ही जीवन लक्ष्य में पिरोये हुए? ....हम दोनों वैधव्य यज्ञ की प्रतिज्ञा में एक-दूसरे का हाथ लेकर आजन्म बँधते हैं। हम एक होंगे,—एक प्राण दो तन। कोई हमें जुदा नहीं कर सकेगा।"[२]**

३. **मृणाल स्त्री-धर्म की व्याख्या करती है—"जिसको तन दिया, उससे पैसा कैसे लिया जा सकता है यह मेरी समझ में नहीं आता। तन देने की जरूरत में समझ सकती हूँ। तन दे सकूंगी। शायद वह अनिवार्य हो। पर लेना कैसे? दान स्त्री का धर्म है। नहीं तो उसका और क्या धर्म है? उससे**

---

१. जैनेंद्र : 'परख तथा स्पर्धा' पृ० ८२।

२. जैनेंद्र : 'परख तथा स्पर्धा', पृ० ८४।

मन भी माँगा जायगा, तन भी माँगा जायगा। सती का आदर्श और क्या है? पर उसकी बिक्री—न, न यह नहीं होगा।"[1]

४. (सुनीता अपनी साड़ी अलग करके हरिप्रसन्न से कहती है)—"वह तो बाधा है, हरी! उसके रहते मुझे कैसे पाओगे? उसे उतर जाने दो, तब मुझे लेना!"[2]

उपर्युक्त उद्धरणों से जैनेन्द्र के नारी के आदर्शों की कल्पना की जा सकती है। जैनेन्द्र की नारी सामाजिक दृष्टि से चरित्रहीन है, परन्तु उसका वैयक्तिक आदर्श इतना ऊँचा है कि उसमें चिरंतन नारीत्व का आदर्श मिलता है। जैनेन्द्र ने जिन-जिन अनैतिक समस्याओं को अपनाया है उनमें नैतिकता का आदर्श उपस्थित करके नारी जाति का महत्व प्रदर्शित किया है। नारी के इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के पीछे जैनेन्द्र की उपन्यास-कला का दर्शन होता है। उन्होंने अपने उपन्यासों में कथा-वस्तु को कम महत्वपूर्ण स्थान देकर पात्रों की सृष्टि इस ढंग से की है कि हर एक पात्र के चरित्र का विश्लेषण होता है, परन्तु कथा-वस्तु का प्रभाव किसी पात्र पर दिखाई नहीं पड़ता। अपने उपन्यास के रचना-विधान के बारे में जैनेन्द्र ने 'सुनीता' उपन्यास की प्रस्तावना में इस प्रकार संकेत दिया है—

"पुस्तक में मैंने कहानी कोई लम्बी-चौड़ी नहीं कही है। कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य ही नहीं है। अतः तीन-चार व्यक्तियों से ही मेरा काम चल सकता है। इस विश्व के छोटे-से-छोटे खण्ड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं। उसके द्वारा हम सत्य के दर्शन कर भी सकते हैं। जो ब्राह्मांड में है, वह पिण्ड में भी है। इसलिए अपने चित्र के लिए बड़े बड़े कन्वास की जरूरत मुझे नहीं लगी। थोड़े में सब कुछ को क्यों न दिखाया जा सके?"[3]

जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में मनोविज्ञान-प्रधान प्रवृत्तियाँ मिलती हैं परन्तु उनके नैतिक-अनैतिक दृष्टिकोण के कारण पात्रों के चरित्र-चित्रण में जटिलता आई है इसलिए उनके पात्रों का मनोविश्लेषण स्पष्ट तथा प्रभावात्मक ढंग से नहीं हुआ है। परन्तु उनके उपन्यासों में पात्रों का जो अन्तर्द्वन्द्व मिलता है वहाँ तक जैनेन्द्रजी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं। इलाचंद्र जोशी के 'संन्यासी' के प्रकाशन के साथ अज्ञेय का 'शेखर: एक जीवनी' का प्रकाशन जैनेन्द्र की मनोविश्लेषण-वादी परम्परा को आगे ले गया है।

---

१. जैनेंद्र कुमार : 'त्यागपत्र' पाँचवी बार, १९५०, पृ० ५१।

२. जैनेंद्र कुमार : 'सुनीता', चौथा संस्करण, १९४९, पृ० १८१।

३. जैनेंद्र कुमार : 'सुनीता', चौथा संस्करण, १९४९, प्रस्तावना, पृ० ३-४।

इलाचंद्र जोशी की उपन्यास-कला का विकास उनके 'संन्यासी' (१९४१), उपन्यास में दिखाई देता है। उनके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रणाली का सूत्रपात उनके 'घृणामयी' (१९२९) और 'पर्दे की रानी' (१९४१) में दिखाई देता है और उसका विकसित रूप 'संन्यासी' (१९४१), 'प्रेत और छाया' (१९४१) 'निर्वासिता' (१९४६), आदि उपन्यासों में दिखाई देता है। जोशी जी के उपन्यास प्रेम-प्रधान हैं और उन्होंने अपने पात्रों के रूप में स्त्री और पुरुष की चेतन और अचेतन मानसिक अवस्थाओं का विश्लेषण ऐसे ढंग से किया है कि फ्रायड के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण उनके उपन्यासों में ढूंढ़ा जा सकता है।

मनुष्य के जीवन में काम-वासना को महत्वपूर्ण स्थान है जिसके द्वारा मनुष्य के जीवन के कार्य की दिशा समय-समय पर अपना मार्ग बदलती हुई दिखाई पड़ती है। मनुष्य के अन्तर्जगत् में पड़ी दमित कामवासना अवसर पाते ही हिंसक पशु की भाँति जो चाहे कर सकती हैं और उस समय मनुष्य अपने को रोक नहीं सकता। यह भी सिद्ध हो गया है कि मनुष्य का अन्तर्जगत् उसके बाह्यजगत् से अत्यन्त प्रभावशाली है और अधिकतर यह देखा गया है कि मनुष्य की सामाजिक तथा व्यक्तिगत समस्याओं के कारण वह अपने अन्तरमन की इच्छाओं को दबाता रहता है। इसलिए उसकी इच्छाओं की अभिव्यक्ति के लिए अवसर नहीं मिलता और इस कारण उस का अन्तर्जगत स्थिर तथा अक्षुण्ण रहकर अनेक कुण्टाओं तथा विकृत कार्यव्यापारों का निर्माण होता है। अतः उसके जीवन में नाना प्रकार के विकास स्पष्ट तथा अमूर्त चित्रों के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं और उसके मन पर प्रसन्नता तथा मलीनता की छाया दिखाई पड़ती है। इसी कारण मनुष्य का बाह्य तथा अन्तर्जगत रहस्यमय हो जाता है। मानव जीवन के इस रहस्यमय चरित्र पर प्रकाश डालने का कार्य आधुनिक उपन्यासकारों ने किया है और इसका ठीक संकेत प्रेमचंद ने भी दिया है। प्रेमचंद ने अपने 'उपन्यास' तथा 'कहानी-कला' शीर्षक लेखों में इस प्रकार लिखा है।

**"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्रमात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।"[१] ...**

**"उपन्यासों में पात्रों का केवल बाह्य रूप देखकर हम संतुष्ट नहीं होते। हम उनके मनोगत भावों तक पहुँचना चाहते हैं और जो लेखक मानवी हृदय के रहस्यों को खोलने में सफल होता है, उसी की रचना सफल समझी जाती है।"[२]**

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मानव चरित्र पर प्रकाश डालकर और उसके रहस्यों को खोलकर, मनोगत भावों तक पहुँचने की चरित्र-चित्रण की शैली का सूत्रपात

---

१—प्रेमचंद, 'कुछ विचार', तृ० सं०, १९४५, पृ० ४१

२—प्रेमचंद, 'कुछविचार,' तृ० सं०, १९४५, पृ० ३७

प्रेमचंद के उपन्यासों में हुआ था और उसका विकसित रूप जैनेन्द्र, इलाचंद्र जोशी आदि के उपन्यासों में मिलता है।

पात्रों के मनोविश्लेषण में उनके व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन की समस्याओं का संघर्ष दिखाई देता है। उनके व्यक्तिगत जीवन का अध्ययन उनके स्वप्नों, संभाषणों, भाव-भंगिमाओं आदि के बाह्य संकेतों द्वारा कर सकते हैं और वे जब अपनी व्यक्तिगत समस्याओं को लेकर व्यावहारिक क्षेत्र में आते हैं तब उनके अन्तर्जगत की अनेक इच्छा-आकांक्षाओं का स्वरूप दिखाई पड़ता। जोशी जी के उपन्यासों का धरातल भी इसी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से प्रभावित रहा है और उसका दर्शन उनके पात्रों द्वारा प्रदर्शित हुआ है। इस दृष्टि से उनके उपन्यास 'पर्दे की रानी', 'संन्यासी' और 'प्रेत और छाया' महत्वपूर्ण हैं।

जोशी जी ने 'पर्दे की रानी' में निरंजना का चित्र बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से रखकर उसके व्यक्तित्व का विश्लेषण किया है। वह अपने गुरूजी से कहती है—

**"पर गुरूजी, मैं केवल एक वेश्या की ही लड़की नहीं हूँ, बल्कि एक खूनी बाप की भी लड़की हूँ।"[१]**

निरंजना के अन्तर्जगत की यह समस्या उसके जीवन में एक भयंकर रूप लेती है और उपन्यास के अन्त में उसका विश्लेषण गुरूजी के भाषण में मिलता है। गुरूजी निरंजना को संबोधित करके कहते हैं—

**"—फिर भी मुझे ऐसा लगता है कि तुम्हारे भीतर तुम्हारे अज्ञान में प्रतिहिंसा की जो एक भयंकर भावना वर्षों से घर किये बैठी थी वह जन्मगत नहीं थी बल्कि जीवन की कुछ विशेष परिस्थितियों ने और समाज के उत्पीड़न ने उस प्रवृत्ति को तुम्हारे भीतर उकसाया। जो व्यक्ति तुम्हारा रक्षक बन कर भी भक्षक बनने पर उतारू था, तुम्हें एक वेश्या की बेटी समझकर अत्यंत हीन दृष्टि से देखता था और साथ ही तुम्हारे सौन्दर्य के प्रति आकर्षित होकर छल, बल और कौशल से तुम्हारा कौमार्य नष्ट करने की प्रबल इच्छा रखता था, उसके लड़के के भीतर लालसा की आग भड़का कर उसे जीवन भर अतृप्ति की आँच में तड़पाते रहने की प्रवृत्ति जान में या अनजान में तुम्हारे भीतर घर कर गयी थी। तुमने यही नहीं सोचा था कि जो आग तुमने प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर धधकाई है उसकी ज्वाला एक दिन स्वयं तुम्हें भी जलाकर छोड़ेगी।....तुम्हारे अचेत मन में उस (शीला) के भी विरुद्ध जो अज्ञात प्रतिहिंसा अंकुरित हो उठी थी उसका कारण मैं समझता हूँ कि वह तुम्हारे सामने तुम्हारी माता के प्रतीक रूप में आयी थी।...चूंकि अपनी माता के समान ही स्नेहशीला को तुम्हारे अन्तर्मन ने माता के प्रतीक के**

---

१. इलाचंद्र जोशी : 'पर्दे की रानी', संवत् १९९९, पृ० १५३।

**रूप में ग्रहण किया होगा इसलिए उसके विरुद्ध तुम्हारा वह विद्रोही मन और हिंसक भाव पूर्ण रूप से कारगर हुआ।"[१]**

जोशीजी ने उपर्युक्त उद्धरण के हरएक वाक्य द्वारा 'निरंजना' पात्र के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का सार दिया है। उससे स्पष्ट पता लगता है कि नारी जीवन की एक निश्चित समस्या सामने रखकर उसका विश्लेषण बिल्कुल ही वैज्ञानिक ढंग से किया गया है। कला के क्षेत्र में उसकी वैज्ञानिकता प्रशंसनीय हो सकती है, परन्तु उसका कलात्मक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने जोशी जी के उपन्यासों के बारे में ठीक ही लिखा है—

**"इलाचन्द्र भी क्रमशः समाज की व्यापक स्थितियों के चित्रण से अलग होकर अधिकाधिक सीमित भूमि पर आते जा रहे हैं, आश्चर्य तो यह है कि यह सब यथार्थवाद और वैज्ञानिक सत्य के नाम पर किया जा रहा है।"[२]**

बाजपेयी जी ने इसमें जोशीजी के उपन्यासों पर जो प्रकाश डाला है उसमें सत्यांश बहुत ही है। उनके उपन्यासों में विज्ञान के नाम पर जो पात्रों की हीन तथा निष्क्रिय भावनाओं का चित्रण हुआ है वह अत्यन्त ही कुवासनात्मक तथा गन्दा है। परन्तु जोशीजी ने आधुनिक उपन्यासों के बारे में इस प्रकार लिखकर अपने उपन्यासों के उद्देश्य की ओर संकेत किया है—

**"आधुनिक तम उपन्यासकार का उद्देश्य स्पष्ट है। आजकल के महत्वाकांक्षी, किन्तु मनोविकारग्रस्त, अपनी प्रतिभाशालिता के कारण जनता की आँखों के आगे धोखे का रंगीन जाल फैलाकर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के इच्छुक, घोर व्यक्तिवादी और आत्मकामी चरित्रों का पर्दा-फाश करना वह अपना कर्तव्य समझता है। उनकी चीर-फाड़ अपने निर्मम, किन्तु सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक, अस्त्र से करके उनका यथार्थ रूप जनता के आगे रखने का भार उनके ऊपर न्यस्त है। उसका ध्रुव विश्वास है कि इसी उपाय से समाज और व्यक्तियों की विकृतियों और जटिलताओं का उपचार हो सकेगा।"[३]**

जोशीजी के 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' और 'प्रेत की छाया' आदि में जितने मुख्य पात्र मिलते हैं उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण हुआ है परन्तु उनके अधिकतर पात्र कामवासना से प्रेरित हैं। एक पुरुष के साथ अनेक स्त्रियों का संपर्क बढ़ाकर उपन्यास में वातावरण की सृष्टि कुरुचिपूर्ण हुई है।

---

१. इलाचन्द्र जोशी, 'पर्दे की रानी', संवत् १९९९, पृ० २४८।

२. नन्ददुलारे वाजपेयी, 'नया साहित्य : नये प्रश्न' प्रथम संस्करण, १९५३, पृ० १७८।

३. इलाचन्द्र जोशी : 'विवेचना', प्रथम संस्करण, पृ० १०२।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में 'अज्ञेय' की 'शेखर : एक जीवनी' (१९४१) और 'नदी के द्वीप' (१९५१) महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। 'गोदान' के बाद 'शेखर : एक जीवनी' अपना एक विशेष स्थान रखता है। इसमें लेखक ने उपन्यास की जीवन-चरित शैली का उपयोग करके मनोवैज्ञानिक धरातल पर एक व्यक्ति का 'संपूर्ण अध्ययन' उपस्थित किया है। इस उपन्यास का नायक 'शेखर' है और उसके व्यक्तित्व में विद्रोह की भावना सर्वत्र दिखाई पड़ती है। वह विद्रोह करने जाता है पर उसे क्या बनना है इसका उसे पता नहीं। संघर्ष से उसका प्रेम होने के कारण वह बिगड़ता जाता है। 'सरस्वती', 'शशि' और 'शारदा' शेखर के जीवन में आती हैं और वह हरएक के प्रेम में बंध जाता है। वह यहाँ भी प्रेम के प्रति विद्रोह करता है। परन्तु उसका व्यक्तित्व शक्तिमान् होने पर भी उसकी प्रवृत्ति असामाजिक तथा व्यक्तिवादी रूप में परिणत होती है। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी के शब्दों में—

**'शेखर अपनी परिस्थितियों के परिणाम-स्वरूप, आदर्शों की अपूर्ति -स्वरूप एक असफल पात्र हैं जिस असफलता में सामाजिक प्राकृतिक प्रतिरोध ही कारण हैं। यदि इस संघर्ष का चित्रण यथाक्रम किया जाता, तो असफल होते हुए शेखर के प्रति हमारे हृदय में संवेदना जगनी चाहिये थी, और उत्तरोत्तर तीव्र होनी चाहिये थी, किन्तु लेखक तो असफल पात्र को, अपनी अतिरिक्त सहानुभूति द्वारा दूसरा रंग देना चाहता है, जो उसका मोह-मात्र है।"[1]**

लेखक ने 'शेखर' के जीवन के हरएक पहलू पर विचार किया है और उसके जीवन की वास्तविकता का यथार्थ रूप उपस्थित किया है। परन्तु लेखक की यह कृति एक प्रयोग के रूप में दिखाई पड़ती है। लेखक ने 'शेखर' का चरित्र-चित्रण ऐसे ढंग से किया है कि वह उसके (शेखर) साथ चलता हुआ दिखाई देता है। जहाँ कहीं 'शेखर' के जीवन में शिथिलता आती है वहाँ लेखक भी चुपचाप बैठ जाता है। इसलिए वह शेखर और शशि का जीवन सुखान्त नहीं कर सका। 'शेखर' के व्यक्तित्व का विकास दिखाने में लेखक अपनी दुर्बलता प्रकट करता है और साथ ही उसके व्यक्तित्व में अपने को मिलाता भी है। लेखक उपन्यास के कथा-प्रवाह में लिखता है—

**"मैं शेखर की कहानी लिख रहा हूँ, क्योंकि मुझे उसमें से जीवन के अर्थ के सूत्र पाने हैं, किन्तु एक सीमा ऐसी आती है, जिससे आगे मैं अपनी और शेखर की दूरी बनाए नहीं रख सकता—उस दिन का भोगनेवाला और आज का वृत्तकार दोनों एक हो जाते हैं, क्योंकि अन्ततः उसके जीवन का अर्थ मेरे ही जीवन का तो अर्थ है, और जो सूत्र मुझे पकड़ने हैं, खोजने हैं और उनके**

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी : 'आधुनिक साहित्य', प्रथम संस्करण, संवत् २००७, पृ० १७६।

प्रति में आसक्त नहीं हूँ, नहीं हूँ।... किन्तु यह साक्षी, यह ज्ञापना, अपने अपराध के धोने के लिए नहीं है, प्रायश्चित के लिए नहीं है। उस प्यार में अपराध भी डूब सकते थे इतना विशाल था वह— मैं शेखर का अपराध छोटा करके नहीं दिखाता, क्योंकि उसके पीछे शेखर के प्यार की तन्मयता थी, उस शेखर की जो मैं हूँ...."[१]

'अज्ञेय' ने 'शेखर' के चरित्र को विस्तृत रूप में प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया है परन्तु उपन्यास क्षेत्र में उनका यह पहला प्रयास था जिसमें प्रयोग के लिए पहले ही रचना-विधान की सीमित दृष्टि रखी गई थी। इसमें कथा का विकास किसी निश्चित दिशा में नहीं दिखाई पड़ता। कथानक में कथा के अनेक सूत्र मिलते हैं जिनमें कथा तक की सूक्ष्म-धारा मिलती है। इसलिए घटनाओं के उपस्थित होने में कोई संतुलन नहीं दिखाई देता। शेखर के अहं, उसका विद्रोह और उसके व्यक्तित्व का वातावरण सर्वत्र दिखाई पड़ता है परन्तु 'शेखर' के व्यक्तित्व का सुदृढ़ रूप उनके 'नदी के द्वीप' उपन्यास के डा० भुवन में मिलता है।

'अज्ञेय' का दूसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' उनके उपन्यास-काल का आदर्श उपस्थित करता है। उपन्यास के नामकरण में अनेक संकेत मिलते हैं। नदी प्रवाह का प्रतीक है इस प्रवाह की धारा में उपन्यास के छोटे-बड़े पात्र द्वीपों समान हैं। उपन्यास के मुख्य पात्र रेखा और भुवन अपनी-अपनी दृष्टि से 'द्वीपों' की व्याख्या करते हैं। रेखा भुवन से कहती है—

"....मैं तो समझती हूँ, हम अधिक से अधिक इस प्रवाह में छोटे-छोटे द्वीप हैं, उस प्रवाह से घिरे हुए भी, उससे कटे हुए भी, भूमि से बँधे और स्थिर भी, पर प्रवाह में सर्वदा असहाय भी—न जाने कब प्रवाह की एक स्वैरिणी लहर आकर मिटा दे, बहा ले जाय, फिर चाहे द्वीप का फूल पत्ते का आच्छादन कितना ही सुन्दर क्यों न रहा हो!"[२]

उपन्यास के अन्त में भुवन इसमें कुछ अलग ही अर्थ पाता है। वह लिखने बैठ गया—

"वह रूपक मेरा नहीं हैं, पर बारबार मुझे याद आता है और मैं पाता हूँ कि उसमें नया अभिप्राय है : हम सब नदी के द्वीप हैं, द्वीप से द्वीप तक सेतु हैं। सेतु दोनों ओर से पैरों के नीचे रौंदा जाता है, फिर वह दोनों को मिलाता है, एक करता है....गौरा, मैं तुम्हारी ओर हाथ बढ़ाता हूँ, अनुरोध के हाथ; क्या

---

१. 'अज्ञेय'—शेखर : एक जीवनी', द्वितीय सन् १९४७, पृ० २४६
२. 'अज्ञेय'—'नदी के द्वीप', प्रथम संस्करण, सन् १९५१ पृ० १९

**तुम भी अपने हाथ मेरी ओर बढ़ाओगी—वरद हाथ; कि इस प्रकार हम अेक सेतु बन सकें जिस पर ईश्वर अगर है तो उसका आसन है?"[१]**

उपन्यास के शीर्षक के आधार पर ही इस उपन्यास की रचना की है और एक द्वीप-समूह के रूप में सब पात्रों की सृष्टि हुई है। इसमें चरित्रवान्, सभ्य, चरित्रहीन आदि पात्रों का निर्माण हुआ है, दो द्वीपों के बीच में सेतु के द्वारा एकता लाने का प्रयत्न किया है। इसमें रेखा, भुवन, चन्द्रमाधव और गौरा समाज के भिन्न-भिन्न स्तर के लोग हैं और उनके चरित्रों का विकास वैज्ञानिक ढंग से हुआ है। रचना-विधान की दृष्टि से 'शेखर : एक जीवनी' की अपेक्षा 'नदी के द्वीप' अधिक कलात्मक उपन्यास है और यह हिन्दी उपन्यास-साहित्य की एक बेजोड़ कलाकृति है।

आधुनिक काल में मनोवैज्ञानिक उपन्यास अधिक संख्या में लिखे जा रहे हैं और उन पर जैनेन्द्र, 'अज्ञेय' आदि का उपन्यास-साहित्य का प्रभाव दिखाई दे रहा है। नरोत्तम प्रसाद नागर का 'दिन के तारे' डा० देवराज का 'पथ की खोज' और धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' आदि महत्वपूर्ण कृतियाँ सामने आई हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि पर गांधीवाद की व्याख्या 'दिन के तारे' उपन्यास में मिलती है। इस उपन्यास के मुख्य पात्र 'शशि' की यह आत्मकहानी है। धर्मवीर भारती का 'गुनाहों के देवता' एक 'प्लैटोनिक प्रेम की कहानी है। इसका मुख्य पात्र 'चन्दर' अपने अहं और उसकी परितृप्ति के लिए गुनाह पर गुनाह करता हुआ दिखाई देता है परन्तु वह भावनाओं के क्षेत्र में पराजित हुआ है। भारती ने उसका मनो-वैज्ञानिक चित्र इस रूप में उपस्थित किया है—

**"जीवन की समस्याओं के अन्तर्विरोधों में जब आदमी दोनों पक्षों को समझ लेता है तब उसके मन में एक ठहराव आ जाता है। वह भावना से पर उठकर स्वच्छ बौद्धिक धरातल पर जिन्दगी का विश्लेषण करने लगा। वह अब भावना से डरता था- भावना के तूफान में इतनी ठोकरें खाकर अब उसने बुद्धि की शरण ली थी और एक पलायनवादी की तरह भावना से भाग कर बुद्धि की एकांतिका में छिप गया। कभी भावुकता से नफरत करता था, अब वह भावना से ही नफरत करने लगा।"[२]**

इस प्रकार हिन्दी के अधिकतर सामाजिक, राजनीतिक आदि उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण मिलते हैं। इस दृष्टि से अश्क का 'सितारों का खेल', 'रांगेय राघव का 'घरौंदे' अमृतलाल नागर का 'महाकाल' आदि उपन्यास भी महत्वपूर्ण हैं।

---

१. **'अज्ञेय' : 'नदी के द्वीप' प्रथम संस्करण सन् १९५१ पृ० ४४३**

२. **डा० धर्मवीर भारती : 'गुनाहों का देवता' द्वितीय संस्करण, सन् १९५४, पृ० २९७।**

**समाजवादी उपन्यास**

हिन्दी में मार्क्सवादी सिद्धान्तों का प्रचार 'हंस' पत्रिका के द्वारा हुआ और 'शिवदान सिंह' के प्रकाशित लेखों द्वारा हिन्दी के क्षेत्र में उसका प्रवेश हुआ। प्रेमचन्द की अपूर्ण कृति 'मंगल-सूत्र' में समाजवादी धारा का सूत्रपात हुआ और आज उसका विकसित रूप यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, नागार्जुन, रांगेय राघव, भैरव प्रसाद आदि के उपन्यासों में मिलता है। मार्क्सवादी सिद्धान्तों के आधार पर ही समाजवादी विचारों का परिपोषण हुआ है और उसका प्रवेश हिन्दी के क्षेत्र में हुआ है। मार्क्सवाद के मूल में आर्थिक समानता को महत्वपूर्ण स्थान मिला है और भौतिक साधनों द्वारा उसमें प्रगति के लक्षण दिखाई देते हैं। अर्थ और काम के आधार पर ही मार्क्सवादी सिद्धान्तों की व्याख्या हुई। इसलिए भारतीय सिद्धान्तों से वह मेल नहीं खाता जिनका आदर्श अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष में मिलता है। परन्तु रूस में मार्क्सवाद प्रस्फुटित होने के कारण उसकी विचारधारा का प्रभाव विश्व के साहित्य पर पड़ा है और इस तरह हिन्दी के उपन्यास क्षेत्र में भी उसका प्रवेश हुआ है।

समाजवादी उपन्यासों में यशपाल के 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'पार्टी कामरेड', 'मनुष्य के रूप' आदि उपन्यास महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। 'दादा कामरेड' (१९४१) उपन्यास तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति से प्रभावित है और उसमें भारतीय राज्य-व्यवस्था का सुन्दर चित्रण मिलता है। लेखक ने उपन्यास की भूमिका में लिखा है—

> **"आचार और नैतिकता का प्रयोजन यदि मनुष्य को व्यवस्था और विकास की ओर ले जाना है तो मानना पड़ेगा कि यह उद्देश्य हमारी वर्तमान नैतिक तथा आचार संबंधी धारणा से पूरा नहीं हो रहता। मनुष्य की यह प्रवृत्ति उसे वासना के अंगारों पर सेक-सेक कर झुलसाये, सदा उसे अपराधी होने की भावना से क्लेशित करती रहे, इसका क्या कोई उपाय नहीं कर सकता?"**

उपर्युक्त उद्धरण से इस बात का भी संकेत मिलता है कि यशपालजी ने 'दादा कामरेड' की रचना केवल अपनी राजनीतिक विचारधारा का प्रचार करने के लिए ही नहीं की है परन्तु जैनेन्द्र ने 'सुनीता' द्वारा जिस 'नारी-समस्या' का चित्रण किया था उसका उत्तर भी इसमें दिया है। हिन्दी में राजनीतिक विचारधारा का प्रचार करने वाला यह पहला उपन्यास होकर भी इसमें 'शैला' और 'यशोदा' पात्रों द्वारा नारी जीवन का जो स्वरूप दिखाया है वह अत्यन्त कलात्मक है। जैनेन्द्र के 'सुनीता' उपन्यास में 'सुनीता' साड़ी खोल कर हरिप्रसन्न के मन में विकर्षण पैदा करती है और नारी शक्ति का अद्भुत परिचय देती है, परन्तु 'दादा कामरेड' में शैला अपनी साड़ी खोलकर स्त्री के आन्तरिक सौन्दर्य द्वारा 'हरीष' की इच्छापूर्ति करती है। इस प्रकार नारी-स्वभाव का भिन्न रूप लेकर यशपाल जी ने इस उपन्यास की रचना की है। इस उपन्यास के 'यशोदा' पात्र में भारतीय नारी का आदर्श मिलता है। 'यशोदा' और उसके

पति 'अमरनाथ' में भारतीय प्रेम का आदर्श दिखायी पड़ता है। उनके गार्हस्थ्य जीवन में भारतीय परम्परा का दर्शन मिलता है। 'यशोदा' एक आदर्श भारतीय नारी है और जब वह बाहर आकर कुछ राष्ट्र-कार्य करती है तब परिवार में उसका स्थान गिर जाता है। भारतीय स्त्री की पारिवारिक तथा सामाजिक दासता का सुन्दर चित्र उसके व्यक्तित्व के द्वारा दिखाया गया है। उसमें 'पतिप्रेम' और 'देशप्रेम' का संघर्ष दिखाकर एक भारतीय परिवार का वास्तविक चित्र उपस्थित किया गया है। यशपाल जी स्वयं राजनीतिज्ञ हैं, इसलिए उनके उपन्यासों में क्रान्तिकारी पात्रों का निर्माण होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार उनके 'देशद्रोही' (१९४३), 'पार्टी कामरेड,' 'मनुष्य के रूप' (१९४९) आदि उपन्यास में राजनीतिक विचार-धारा का प्रचार मिलता है। यशपाल के सब उपन्यासों में तत्कालीन सामाजिक समस्याओं का चित्रण राजनीतिक विचार-धाराओं के साथ चित्रित हुआ है। रोमांस और समाजवादी विचार-धाराओं का समन्वय यशपाल के उपन्यासों में मिलता है।

समाजवादी विचार-धाराओं का प्रचार रांगेय राघव के 'विषाद मठ,' नागार्जुन के 'बलचनमा' आदि उपन्यासों में मिलता है। 'विषाद मठ' में बंगाली जीवन को केन्द्र बनाकर अकाल के समय की बंगाली जनता की दरिद्रता तथा अकाल की विभीषिका के विभिन्न पहलुओं का चित्रण किया है। लेखक ने यहाँ राजनीतिक विचार-धाराओं के ऊपर उठकर बंगाली जनता की कारुणिकता का प्रभावात्मक चित्र खींचा है। 'बलचनमा' में भी समाजवादी विचारों का प्रचार मिलता है।

इस प्रकार समाजवादी उपन्यासों पर विचार किया जा सकता है। इनमें प्रचारवादी दृष्टिकोण मिलने के कारण भारतीय समाज का अस्वस्थ चित्र भी चित्रित किया गया है। विशेषतः कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं के रूप में जिन-जिन पात्रों का निर्माण किया है उनमें भारतीय दृष्टि से चारित्र्य की कमी दिखाई पड़ती है। परन्तु हमारा उपन्यास-साहित्य देश की राजनीतिक धारा से किस प्रकार प्रभावित हो सकता है, इसका दर्शन समाजवादी उपन्यासों में होता है।

**राजनीतिक उपन्यास**

भारत परतंत्र होने के कारण उसकी राजनीतिक समस्याओं का प्रभाव तत्कालीन उपन्यासों पर हुआ। प्रेमचंद जी के 'कर्मभूमि' (१९३२) में तत्कालीन भारतीय राजनीतिक समस्याओं का विश्लेषण हुआ है और यह परम्परा राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह का 'राम-रहीम' (१९३७), 'अंचल' का 'चढ़ती धूप' (१९४५), भगवती चरण वर्मा का 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' (१९४६), श्री गुरुदत्त का 'स्वाधीनता के पथ पर' आदि उपन्यासों में मिलती है। सन् १९४७ तक हमारी हरएक समस्या का संबंध भारत में अंग्रेजी राजनीति से आता था। इस लिए जहाँ कहीं सामाजिक प्रश्नों या समस्याओं का चित्रण होता था वहाँ राजनीतिक समस्याओं पर कुछ न कुछ लिखा जाता

था परन्तु 'चढ़ती धूप' या 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' जैसे कई उपन्यासमिलते हैं जिनमें तत्कालीन भारत के राजनीतिक विचारों का विश्लेषण बहुत ही प्रभावात्मक ढंग से ; आ है

प्रेमचंद ने अपने सामाजिक उपन्यासों द्वारा जिन राजनीतिक विचार-धाराओं का चित्रण उपस्थित किया था उसकी परम्परा को आगे बढ़ाने वाला अंचल का 'चढ़ती धूप' (१९४५) पहला उपन्यास है। प्रेमचंदजी ने देश के प्रगतिशील विचारों को सामूहिक शक्ति के रूप में साथ दिया था और यही विशेषता 'अंचल' के अधिकतर उपन्यासों में मिलती है। 'चढ़ती धूप' में एक गरीब युवक की आत्मकथा का दर्शन मिलता है। भारतीय राजनीति को चुनौती देने के लिए इस उपन्यास की रचना हुई है। मजदूरों की समस्या लेकर लिखे हुए इस उपन्यास में भारत के भविष्य के लिए भी एक महान् संदेश है। लेखक ने अपने उपन्यास के शीर्षक में एक अभिनव अर्थ व्यक्त किया है। लेखक उपन्यास के धाराप्रवाह में लिखता है—

**"उन्हें (नागपूर के मजदूरों को) लगता था यह समुद्र की तरह उमड़ा विराट जनसमूह—चढ़ती धूप सा यह मानवता का महानद उनका है.....एक एक पुरुष—एक-एक स्त्री—बच्चा-बच्चा उनके साथ है....उनकी माँगों को अपने कठोर स्वीकार के संकल्प से अपरिमेय बल प्रदान कर रहा है..... ।"[1]**

'चढ़ती धूप' प्रगतिशील राजनीतिक उपन्यास है जिसमें शोषण, अन्याय, आदि के विरुद्ध आन्दोलन करने की प्रेरणा मिलती है और साथ ही भारत की अनेक समस्याओं से सामना करने के लिए अधिक जागरूक तथा प्रयत्नशील रहने का संदेश मिलता है। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि भारत का सन् १९३२-३६ के बीच का राजनीतिक वातावरण है और हमारा सन् १९३२ का राष्ट्रीय आन्दोलन क्यों असफल रहा इस पर प्रकाश डालती है। इसका नायक मोहन एक राजनीतिक कार्यकर्ता है और लेखक ने उसके व्यक्तित्व के विविध पहलूओं पर प्रकाश डालने का उपक्रम किया है। लेखक ने भूमिका में मोहन पात्र के बारे में लिखा है—

**"आरम्भ से एक क्रान्तिकारी मानस-गठन को लेकर चलने वाले तरुण भारतीय विद्यार्थी और उसके हर्षविषाद, भूख-प्यास, अश्रु-हास और प्रेम-घृणा का चित्रण ही मेरा लक्ष्य रहा है।"[2]**

'मोहन' साम्यवादी विचारों से प्रभावित है। वह 'ममता' से विवाह करना चाहता है परन्तु वह उसके स्नेह को त्यागकर कानपुर के मजदूर आन्दोलन का नेतृत्व करता है। 'अज्ञेय' के व्यक्तिवादी 'शेखर' के समान 'मोहन' निष्फल विद्रोही नहीं, उसका अपना निश्चित ध्येय है और जीवन की सबसे प्रिय वस्तु 'ममता' की ममता को

---

१. 'अंचल' : 'चढ़ती धूप', पृ० ३२६

२. अंचल : 'चढ़ती धूप', भूमिका, पृ० ५,

त्यागकर अपने ध्येय की पूर्ति के लिए अविवाहित रहना चाहता है। प्रेमचंद के उपन्यासों में सामूहिक संस्कारों का दर्शन मिलता है और युग के संस्कारों से ऊपर उठकर सामूहिक क्रान्ति का जयनाद कराने की प्रेरणा 'चढ़ती धूप' में मिलती है। 'चढ़ती धूप' की परम्परा में उनका दूसरा उपन्यास 'नई इमारत' (१९४५) आता है।

राजनीतिक उपन्यासों की परम्परा में भगवती चरण वर्मा का 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' (१९४६) बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें भारतीय परिवार की एक असफल कहानी मिलती है और उसके द्वारा सन् १९३० के आसपास की भारतीय राजनीति के टेढ़े-मेढ़े रास्तों का अध्ययन किया जाता है। रामनाथ तिवारी के तीन लड़के—दयानाथ, उमानाथ, प्रभानाथ तत्कालीन भिन्न-भिन्न राजनीतिक विचार-धारा के प्रतिनिधि हैं। दयानाथ गाँधीवादी है, उमानाथ कम्युनिस्ट है और प्रभानाथ आतंकवादी (क्रान्तिकारी) है। परन्तु इनमें से एक भी पुत्र ने रामनाथ तिवारी का अनुकरण नहीं किया। उनके तीनों ही लड़के तत्कालीन राजनीतिक विचारों से प्रभावित थे और पिता की विचार-धारा के अनुसार चल नहीं सके। रामनाथ ने अपने तीनों लड़कों को अपनी विचार-धारा में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया और इसमें असफल रहे और किसी भी पुत्र का जीवन सुधार न सके। परन्तु उपन्यासकार ने उसका चरित्र अत्यन्त सजीव तथा शक्तिमान् बनाया है। वे अपने पुत्र दयानाथ से कहते हैं—

> **"तुम चुनाव में हारे और चुनाव में हार कर तुम में निराशा पैदा हो गई। तुम कायर की तरह कहाँ से भाग रहे हो। तुम बाहर से पराजित नहीं हुए—आज चुनाव में हारे हो, कल चुनाव में जीत भी सकते हो, वह सब तो परिस्थितियों पर निर्भर था तुम पराजित हुए हो अपने ही अन्दर से! मुझे इस बात का दुःख है।. . .तुमने मेरे यहाँ लौटकर गलती की। जीवन का क्रम आगे बढ़ता है. . पीछे लौटना असंभव है! मेरे यहाँ तुम्हें स्थान नहीं है दया—तुम समझदार हो, मेरी बात समझ ही गए होगे।"[1]**

इस उपन्यास में रामनाथ तिवारी तत्कालीन सामंतशाही का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनके छोटे भाई श्यामनाथ तिवारी अंग्रेजी नौकरशाही के प्रतीक हैं। वे भी अपने बड़े भाई के साथ समझौता नहीं कर सके। इस प्रकार इस उपन्यास के पाँच मुख्य पात्र तत्कालीन राजनीतिक विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस प्रकार एक परिवार पर भारतवर्ष की तत्कालीन राजनीति किन-किन भिन्न रूपों में अपना प्रभाव डालती हैं उसका सजीव चित्र इसमें मिलता है। राजनीतिक उपन्यास की श्रेणी में आनेवाला श्री गुरुदत्त एम० एस-सी० का 'स्वाधीनता के पथ पर' है। इसमें राजनीतिक विचारों का संघर्ष मिलता है और मूल समस्या के रूप में गांधीवाद और आतंकवाद की अच्छाई-बुराई पर इसमें विचार

---

१. **भगवती चरण वर्मा : 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' प्रथम संस्करण, १९४६, पृ० ५४३**

किया है। इसके मुख्य पात्र मधुसूदन तथा पूर्णिमा हैं। पूर्णिमा आतंकवादी है और मधुसूदन गांधीवादी। फिर भी इन दोनों में आकर्षण बढ़ता ही रहा है। मधुसूदन जेल से भाग जाता है। इसी बात पर जोर देकर पूर्णिमा उससे विवाह नहीं करती और वह पागल हो जाता है। राजनीतिक विचार-धाराओं से प्रभावित इन प्रेमियों की कहानी का अन्त बहुत ही दुःखपूर्ण है। इस तरह यह प्रेम-कहानी भी तत्कालीन राजनीतिक विचार-धाराओं के कारण असफल रही है। इस प्रकार इस काल के उपन्यासों में तत्कालीन राजनीतिक विचारों का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

**ऐतिहासिक उपन्यास**

हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा का सूत्रपात बंगला के बंकिमचंद, रमेशचंद दत्त, राखाल बन्दोपाध्याय आदि के अनूदित उपन्यासों द्वारा हुआ। उनके बाद किशोरीलाल गोस्वामी के 'तारा' (१९०२), 'मल्लिका देवी' (१९०५), 'लखनऊ की कब्र' (१९०६), 'रजिया बेगम' (१९१५) आदि उपन्यास मिलते हैं। सन् १९३६ के पहले वृन्दावनलाल वर्मा का 'गढ़कुंडार', भगवती, चरण वर्मा का 'चित्रलेखा', जयशंकर प्रसाद का 'इरावती' आदि महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास मिलते हैं। इनमें 'इरावती' अपूर्ण रूप में उपलब्ध है। चित्रलेखा में ऐतिहासिक वातावरण का आभास मिलता है। इस काल में वृन्दावनलाल वर्मा, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव, चतुरसेन शास्त्री, सेठ गोविन्ददास आदि के ऐतिहासिक उपन्यास मिलते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि निर्माण करनी पड़ती है। इसलिए उपन्यासकारों को बहुत ही कौशल के साथ काम करना पड़ता है। इनमें ऐतिहासिक वातावरण तो होता है परन्तु पात्रों की जो सृष्टि मिलती है उनका चित्रण तत्कालीन समाज की विशेषताओं के साथ करना पड़ता है। अतः उस काल के आदर्श, रीति-रिवाज, विचार-धारा, नैतिक-आदर्श आदि की भी व्याख्या की जाती है। ऐतिहासिक उपन्यास लिखते समय लेखकों को तत्कालीन जीवन का सर्वांगीण ज्ञान होना चाहिए और इस प्रकार के उपन्यास लिखने के लिए किसी विशेष ध्येय से उसे प्रेरित होना चाहिए। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने में लेखक का अपना कोई विशेष ध्येय होता है। एक अंग्रेज विद्वान ने कहा है—

**"The historical novel is not merely history, it is rather magnatized history in which every fact is quiveringly tendent toward some focal pole of unity."**[1]

---

1 Fracis Hovey Stoddard—'Evolutian of the Enghish Norvel—1916, Page 102

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट दिखाई देता है कि ऐतिहासिक उपन्यास में केवल ऐतिहासिक विवरण नहीं होना चाहिए। उसमें हरएक घटना का निर्देश किसी न किसी महत्व की बात की ओर होना चाहिए। हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास का प्रारंभिक रूप किशोरीलाल गोस्वामी के ऐतिहासिक उपन्यासों में मिलता है। परन्तु उनमें असत्य घटनाओं तथा पात्रों का विवरण मिलता है। भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' उपन्यास में ऐतिहासिक वातावरण की अपेक्षा तत्कालीन जीवन का आभास मिलता है।

इस काल-विभाग में अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास प्रसिद्ध हुए और उनमें जयशंकर प्रसाद जी का 'इरावती', वृन्दावनलाल वर्मा का 'विराटा की पद्मनी' (१९३६), यशपाल का 'दिव्या' (१९४५), डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का "बाणभट्ट की आत्मकथा' ( १९४६ ), वृन्दावनलाल वर्मा के 'झांसी की रानी' (१९३६), 'कचनार' ( १९४८ ), चतुरसेन शास्त्री का 'वैशाली की नगरवधू' (१९४८), सेठ गोविन्ददास का 'इन्दुमती', वृन्दावनलाल वर्मा का 'मृगनयनी' (१९५०) और राहुल सांस्कृत्यायन के अनेक उपन्यास उल्लेखनीय हैं।

जयशंकर प्रसाद जी का 'इरावती' अपूर्ण रूप में उपलब्ध है और भाव और भाषा की दृष्टि से उत्तम रचना है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक बहुत ही महत्व-पूर्ण उपन्यास है। आत्मकथा के रूप में लिखा हुआ यह पहला हिन्दी का ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें अनेक कल्पित ऐतिहासिक पात्रों की सृष्टि की गई है और 'बाणभट्ट', 'निपुणिका', 'भट्टिनी', 'महामाया' आदि पात्रों का चरित्र-चित्रण बहुत ही सुन्दर ढंग से हुआ है। इनमें 'निपुणिका' का पात्र द्विवेदी जी की अमर कलाकृति है। उन्होंने हर्ष-वर्धनकालीन समाज का चित्रण किया है। इन सब बातों में द्विवेदी जी की अप्रतिम प्रतिभा, संस्कृत का साहित्य-प्रेम, और अनुसंधानात्मक शक्ति की झलक मिलती है। उन्होंने भाषा की शैली कादम्बरी के ढंग पर रखकर बाणभट्ट के महत्व की ओर भी इशारा किया है।

बौद्धकालीन युग का वातावरण लेकर यशपाल ने 'दिव्या' (१९४५) तथा चतुरसेन शास्त्री ने 'वैशाली की नगर वधू' (१९४८) शीर्षक उपन्यास लिखे हैं। यशपाल की 'दिव्या' बहुत ही महत्वपूर्ण कृति हैं। उन्होंने अपने 'दादा कामरेड' आदि उपन्यासों में भी पुरुष और स्त्री के संबंधों का विश्लेषण किया है। इस उपन्यास की नायिका उच्च कुल के ब्राह्मण की पुत्री है परन्तु वह एक दास-पुत्र से प्रेम करती है और वाद में वह कुमारी माता होती है। गर्भवती होने के कारण समाज द्वारा उसका तिरस्कार हुआ। त्रिभुवनसिंह के शब्दों में उसकी कहानी इस प्रकार उपस्थित की जा सकती है—

**"ब्राह्मण श्रेष्ठ धर्मस्थ की पौत्री 'दिव्या' का प्रेमी हृदय जाति-बन्धन का तिरस्कार कर दास-पुत्र पृथुसेन की ओर बढ़ जाता है। परन्तु समाज-निर्मित मिथ्या मान्यताओं के कारण उसका गर्भ उसकी लज्जा का विषय बनता है। समाज की थोथी मान्यताओं के कारण किस प्रकार उसे संघ तथा राज्य के द्वारों से निराश लौट कर दासी जीवन की यंत्रणाओं को सहना पड़ा, इस प्रकार के प्रसंगों की व्यवस्था करके उपन्यासकारने तत्कालीन धार्मिक आडम्बर, वर्णभेद एवं दासी के क्रय-विक्रय आदि कुप्रथाओं को सजीव रूप में चित्रित किया है।"[1]**

इस उपन्यास की यह भी एक विशेषता है कि इसमें नारी के चिरंतन सौन्दर्य तथा आकर्षण देश, काल, व्यक्ति आदि का भेद नहीं मानता यह दिखाया है। 'दिव्या' के समान चतुरसेन शास्त्री की 'वैशाली की नगरवधू' अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है।

राहुल सांकृत्यायन जी के 'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय' आदि ऐतिहासिक उपन्यास उल्लेखनीय हैं। सेठ गोविन्ददास का 'इन्दुमती' नामक बहुत ही बड़ा उपन्यास मिलता है। इसकी रचना भारत के राष्ट्रीय आन्दोलनों की पृष्ठभूमि पर हुई है। "इस उपन्यास का आरम्भ—"विश्व में निज का व्यक्तित्व ही सब कुछ है। जो अपने को ही केन्द्र मान, सब कुछ अपने लिये करता है, संसार की समस्त वस्तुओं को अपने आनन्द के लिए साधन मानता है, उसी का जीवन सुखी और सफल होता है"—यह मुख्य समस्या पाठकों के सामने रखता है और मुख्य पात्र 'इन्दुमती' के अनुभवों द्वारा उसकी व्याख्या की जाती है। भारतीय राजनीतिक वातावरण का सुन्दर चित्रण इसमें मिलता है।

ऐतिहासिक उपन्यासों में वृन्दावन लाल वर्मा की कृतियों को बहुत ही ऊँचा स्थान दिया गया है। उनके 'झाँसी की रानी' (१९४६) और 'मृगनयनी' (१९५०) महत्वपूर्ण उपन्यास हैं। 'झाँसी की रानी' में लेखक ने ऐतिहासिक सामग्री का इतना उपयोग किया है कि उसमें 'रानी' की जीवनी मिल सकती है। सन् १८५७ के विप्लव का वर्णन इसमें अत्यन्त विस्तृत रूप में किया है। इसमें सर्वत्र रानी के प्रभावशाली व्यक्तित्व की आभा दिखाई पड़ती है। वर्माजी 'मृगनयनी' उपन्यास में एक इतिहासकार के रूप में दिखाई पड़ते हैं। 'मृगनयनी' का चरित्र अत्यन्त सजीव तथा शक्तिशाली बनाया है। वर्माजी ने 'मृगनयनी' में एक कलाकार की आत्मा का ही रूप देखा है। वह जब अपना अपूर्ण चित्र मानसिंह को दिखाती है तब मानसिंह उसे वह चित्र पूर्ण करने को कहता है। तब मृगनयनी उस चित्र की ओर देखकर उससे कहती है—

---

१. त्रिभुवनसिंह : 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद', प्रथम संस्करण वि० सं० २०१२, पृ० १७७

"संकल्प और भावना जीवन-तखड़ी के दो पलड़े हैं। जिसको अधिकार भाव से लाद दीजिये वही नीचे चला जायगा। संकल्प कर्तव्य है और भावना कला। दोनों के समान समन्वय की आवश्यकता है। न तो अभी कला का अंश पूरा हुआ है और न कर्तव्य का। तखड़ी के दोनों पलड़े तुले हुए हैं न इस चित्र में।"[1]

इस प्रकार के अनेक महत्वपूर्ण अंश इस उपन्यास में मिलते हैं। हिन्दी में वृन्दावन लाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों का महत्वपूर्ण स्थान है। इनमें बुंदेलखंडी संस्कृति का भी दर्शन मिलता है। उनके साहित्य में भारतीय रोमान्स का वास्तविक रूप मिलता है।

इस प्रकार हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों पर विचार किया जा सकता है। हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रारम्भ बहुत बाद में हुआ है परन्तु आज का उपन्यास साहित्य अपनी विकसित गति के साथ आगे बढ़ता है। किसी भी साहित्य में ऐतिहासिक कथा-साहित्य के द्वारा उस देश की संस्कृति, सभ्यता, आचार-विचार आदि का विचार किया जा सकता है। कुछ ऐसे भी ऐतिहासिक पात्र होते हैं कि उनके जीवन की झलक भविष्य के लिए मार्ग प्रदर्शक होती है। इस दृष्टि से ऐतिहासिक उपन्यासों के महत्व का कलात्मक संकेत —'विराटा की पद्मिनी' उपन्यास के अन्तिम पैराग्राफ में इस रूप में मिलता है—

"अभी अभी, थोड़े ही देर पहले, किसी की ऊंगली की अंगूठी ने सूर्य की किरणों से होड़ लगाई थी। अभी अभी थोड़े ही देर पहले उस जलराशि पर 'छम्म' से कुछ हुआ था। किसी अलौकिक सौन्दर्य का उस शब्द के साथ संबंध था, और लहरों पर, पवन में वह गीत गूंज रहा था—

"उड़ गए फुलवा, रह गई बास"

इस काल के उपन्यासों में शिल्प की दृष्टि से अनेक परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। पहले उपन्यास पढ़ा जाता था और आज उस पर सोचना भी पड़ता है। जैनेन्द्र का कहना है—'कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य नहीं।' उपन्यासकार अपनी कृतियों की कथावस्तु की अपेक्षा पाठकों को और कुछ देना चाहता है। इस काल में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का निर्माण अधिक संख्या में हुआ है और पाठक भी उपन्यासकारों को सिखाना चाहता है।

'कला कला के लिए' आन्दोलन की छाया इस काल के उपन्यासों पर होने के कारण उपन्यास के बाहरी ढाँचे में परिवर्तन हुआ है और उपन्यासकार मनमाने पात्रों की सृष्टि अपने उपन्यासों में करने लगे हैं। मनोविज्ञान की उन्नति होने के कारण चरित्रप्रधान उपन्यास की मांग होना स्वाभाविक है। इसलिए पात्रों के मनो-

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'मृगनयनी', द्वितीय संस्करण, सन् १९५२, पृ० ४८७

वैज्ञानिक विश्लेषण पर ही अधिक जोर दिया गया है। चरित्रप्रधान उपन्यासों में घटनाओं का बाहुल्य नहीं मिलता है। इसलिए कथा का अंश कम हुआ और पात्रों के चरित्र के विश्लेषण पर ध्यान दिया गया। 'शेखर: एक जीवनी' जैसा उपन्यास दो भागों में लिखा गया, लेकिन उसमें कथा का सूत्र ठीक रूप में नहीं रखा गया।

इस काल के 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'सुनीता', 'कल्याणी' आदि उपन्यासों में पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मिलता है, इसलिए किसी पात्र के बारे में यदि विचार करना हो तो उस पर पड़े हुए संस्कारों पर ही विचार करना पड़ता है। हरएक पात्र किसी न किसी मानसिक विकृति से पीड़ित होने के कारण लेखक को उसके जीवन के हर एक पहलू पर प्रकाश डालकर उसकी समस्याओं का परिचय अपने पाठकों को देना पड़ता है।

इस काल के उपन्यासों में भाषा और भावों को प्रकट करने की शक्ति दिखाई पड़ती है। मनुष्य स्वभाव के सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव का चित्रण इसमें होने लगा और मनुष्य के अज्ञात भावों को भी व्यक्त करने की शक्ति भाषा में दिखाई देने लगी। इस प्रकार की भाषा का नमूना 'गुनाहों के देवता' उपन्यास में इस रूप में मिलता है—

> "औरत अपने प्रति आने वाले प्यार और आकर्षण को समझने में चाहे एक बार भूल कर जाय, लेकिन वह अपने प्रति आने वाली उदासी और उपेक्षा को पहचानने में कभी भूल नहीं करती। वह होठों के स्पर्श के गूढ़तम अर्थ समझ सकती है, वह आपके स्पर्श में आपकी नसों में चलती हुई भावना पहचान सकती है। वह आपके वक्ष से सर टिका कर आपके दिलकी धड़कनों की भाषा समझ सकती है, यदि उसे थोड़ा सा भी अनुभव है और आप उसके हाथ पर हाथ रखते हैं तो स्पर्श की अनुभूति से ही जान जायगी कि आप उससे कोई प्रश्न कर रहे हैं? क्षमा माँग रहे हैं? स्वागत कर रहे हैं? या विदा दे रहे हैं? यह पुलक का स्पर्श है या उदासी का? चाव और नशे का स्पर्श है या खिन्नता और बेमनी का?"[१]

किसी व्यक्ति की अस्पष्ट स्थिति का वर्णन करने की शक्ति भाषा में दिखाई पड़ती है। किसी के वर्णन करने में भी भावुकता का दर्शन भाषा में होने लगा। उषादेवी ने अपने 'सोहिनी' उपन्यास की नायिका का वर्णन बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है

> "संध्या की पीत चोली में स्वप्न की छाया पड़ चुकी थी। लता-गुल्मों के झुरमुटों में मुट्ठी-मुट्ठी अंधेरी जम रही थी, सोहिनी माधवी लता के नीचे इजी चेअर पर अधलेट पाठ याद कर रही थी, उसके पले हुई गिलहरी के जोड़े पुस्तक के पन्ने और साड़ी को लेकर खेल रहे थे।"

---

१. धर्मवीर भारती—'गुनाहों का देवता', द्वि० सं०, सन् १९५२, पृ० ४८७

भाषा का परिमार्जित तथा गठित रूप अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' में मिलता है। अंग्रेजी भाषा-शैली का आदर्श इसमें दिखाई पड़ता है। सजीव तथा भावपूर्ण भाषा के रूप का नमूना 'नदी के द्वीप' में इस प्रकार पाया जाता है—

**"सम्पर्क के क्षण? हाँ विरह के क्षण, किन्तु सम्पृक्त क्षण; पत्र अभी गया नहीं है, उत्तर की प्रतीक्षा न जाने कितनी लम्बी होगी, लेकिन उत्तर आयेगा; क्या उत्तर आयेगा; क्या उत्तर आयेगा यह भी वह जानता है—वह परीक्षा करेगा, जैसे कि गौरा भी प्रतीक्षा करेगी.....क्योंकि प्रतीक्षाएँ भी अजस्र अनाद्यन्त काल की नदी में स्थिर, शिलित समय के द्वीप हैं।'[1]**

सन् १८७२ से सन् १९५० तक के उपन्यास-साहित्य पर दृष्टि डालने से उसके क्रमिक विकास की अनेक दिशाएँ मिलती हैं और हरएक दिशा में अनेक नव्यतर प्रवृत्तियों का दर्शन मिलता है। केवल अस्सी वर्ष के समय में हिन्दी उपन्यास की इतनी वृद्धि हो गयी है कि आठ-दस वर्ग के बाद हिन्दी उपन्यास साहित्य विश्व-साहित्य में स्थान पा सकता है। इस छोटे-से कालावधि में हिन्दी के उपन्यासों की भाषा, शैली, रचना-विधान, उद्देश्य आदि में परिवर्तन होते होते आज का उपन्यास-साहित्य जन-शिक्षा का माध्यम बन रहा है।

हिन्दी उपन्यास के आरम्भिक युग में शिक्षा-प्रचार की दृष्टि से कई रचनाओं का निर्माण हुआ था। कई ऐसी रचनाएँ भी मिलती हैं कि उनके निर्माण का उद्देश्य नैतिक-आदर्श की स्थापना था। परन्तु उस प्रकार की उद्देश्य प्रधान रचनाएँ जनता में प्रचलित नहीं हो सकीं। जनता के मनोरंजन की दृष्टि से उपन्यास लिखे गए। इनमें घटना-प्रधान उपन्यासों की संख्या बहुत थी। इसलिए लोकरुचि के अनुसार उनमें अश्लील वर्णन तथा अस्वाभाविक वातावरण को महत्वपूर्ण स्थान मिलने लगा। प्रेमचंद के आविर्भाव के कारण हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में नये युग का आरम्भ हुआ और यथार्थवाद के धरातल पर चरित्र-प्रधान उपन्यासों का निर्माण होने लगा। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में पात्रों की वैयक्तिक समस्याओं के साथ सामाजिक समस्याओं का भी चित्रण होने लगा और समाज की आशा-आकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब पात्रों के चरित्र-चित्रण में मिलने लगा। हिन्दी का उपन्यास साहित्य प्रारम्भ से ही बंगला, अंग्रेजी, मराठी उपन्यासों से प्रभावित होने के कारण उपन्यास में नई-नई प्रवृत्तियों का दर्शन दिखाई पड़ने लगा और रचना-विधान की दृष्टि से प्रयोग होते रहे। इस दृष्टि से 'परीक्षा गुरु' (१८८२), 'चन्द्रकान्ता' (१८९१), 'सौन्दर्योपासक' (१९१८), 'सेवासदन' (१९२१), 'परख' (१९२९), 'तितली (१९३४), 'चित्रलेखा' (१९३४), 'सुनीता' (१९३६), 'गोदान' (१९३६), 'संन्यासी' (१९४१), 'पर्दे की रानी' (१९४१), 'दादा कामरेड'

---

१. **'अज्ञेय' : 'नदी के द्वीप', १९५१, पृ० ४४४**

(१९४१), 'शेखर: एक जीवनी' (१९४१), 'चढ़ती धूप' (१९४५), 'दिव्या' (१९४५) 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९४६), 'झांसी रानी' (१९४६), 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' (१९-४६), 'मनुष्य के रूप' (१९४९), 'गुनाहों का देवता' (१९४९), 'मृगनयनी' (१९५०), 'नदी के द्वीप' (१९५१) आदि कृतियाँ हिन्दी उपन्यास कला के क्रमिक विकास का चित्र पाठकों के सामने रखती हैं। हिन्दी के उपन्यासों में भारत की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि की घटनाओं का इतिहास ढूंढा जा सकता है। हिन्दी उपन्यास का भविष्य बहुत उज्जवल है और उसमें भारतीय जीवन की मर्यादा, आशा-आकांक्षा आदि का चित्रण मिलेगा। हिन्दी साहित्य के प्रौढ़ लेखक पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भविष्य के हिन्दी उपन्यासकारों के उत्तरदायित्व के प्रति इस प्रकार का संकेत किया है—

> **"यथार्थवाद के आधार पर यदि जीवन की सच्ची समीक्षा होगी, तो उससे जीवन का सच्चा गौरव प्रकट होगा और तब नवआदर्श की प्रतिष्ठा होगी। उपन्यासकारों के लिए जो काम सब से अधिक स्पृहणीय हो सकता है, वह प्रचार का नहीं, निर्माण ही हो सकता है। वे ऐसे ही चरित्रों का निर्माण करें, जिनसे पाठकों को चिरंतन स्फूर्ति, आनन्द, उत्साह और दीप्ति की प्रेरणा हो।"[१]**

---

१. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी : 'हिन्दी कथा-साहित्य', पहली बार, १९५४, पृ० २५०।

# अध्याय ४

# कहानी

आधुनिक हिन्दी कहानी-साहित्य का इतिहास लगभग पचास वर्ष का है। मुद्रण-यंत्र तथा पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार से हिन्दी कहानी का आरम्भ तथा विकास हुआ। उसकी विकसित अवस्था की परम्परा का मूल भारतीय कथा-साहित्य में ढूंढ़ा जा सकता है और उसका रूप कथा, दन्तकथा, आख्यायिका, वार्ता, आख्यानक, लोक-कथा आदि में देखा जा सकता है। भारत का कथा-साहित्य पुराना है और उसका विस्तार वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में मिलता है। वैदिक-साहित्य में आर्यों और दस्युओं एवं 'उर्वशी-पुरुरवा' जैसे उपाख्यान मिलते हैं। वेदों के बाद ब्राह्मणों और उपनिषदों का काल आता है। इन दोनों में भी यत्रतत्र कहानियाँ और उपाख्यान मिलते हैं। कहानी का यह पुराना रूप आख्यायिकाएँ, आख्यानक, जातक कथाएँ, पौराणिक-कथाएँ, दंतकथाएँ, लोककथाएँ आदि रूपों में मिलता है और इनमें किसी गंभीर तत्व की मीमांसा की जाती है या उनके द्वारा नीति और धर्म की शिक्षा दी जाती है।

कहानी का प्रारंभ उपनिषदों की रूपक-कथाओं, महाभारत के उपाख्यानों और बौद्ध-साहित्य की जातक-कथाओं में दिखाई देता है। उपनिषदों में आत्मा, परमात्मा आदि की चर्चा मिलती है और महाभारत के 'शकुन्तलोपाख्यान', 'सावित्री उपाख्यान' आदि में आर्य जाति का इतिहास, संस्कृति, धर्म आदि का सुन्दर विश्लेषण मिलता है। भगवान् बुद्ध की पूर्वजन्म की कथा का संग्रह जातक-कथाओं में मिलता है और ये कथाएँ एक दृष्टि से धार्मिक कथाएँ हैं जिनका निर्माण इनके लेखकों और धर्मोपदेशकों ने बुद्ध की महिमा प्रदर्शित करने के लिए किया था। ये कथाएँ बौद्ध-धर्म के प्रचारार्थ लिखी गई थीं और उनमें बौद्ध-कालीन भारत का धार्मिक, भौगोलिक, राजनैतिक तथा लौकिक जीवन संपूर्ण रूप में चित्रित हुआ है। इन जातक कथाओं की यह एक विशेषता है कि इनमें एक स्वतंत्र कथा से अनेक उपकथाओं का जन्म होता है और इस प्रकार की परम्परा संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथ कथा-सरित्सागर, पंचतंत्र आदि में मिलती है।

संस्कृत के लोकप्रिय कथा-साहित्य में गुणाढचकृत 'बृहत्-कथा' एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है और इसके आधार पर बुद्धस्वामी कृत 'बृहत् कथा श्लोक संग्रह' आदि की रचना हुई। 'बृहत् कथा श्लोक-संग्रह' में 'पंचतंत्र' और 'वैताल पंचविशंतिका' की कथाएँ

संग्रहित हैं। 'पंचतंत्र' की भांति 'हितोपदेश' नीति ग्रंथ है जिसमें अनेक छोटी-छोटी कथाएँ मिलती हैं। 'पंचतंत्र' तथा 'हितोपदेश' की कथाएँ विशुद्ध रूप से नीतिकथाएँ तथा शिक्षा-कथाएँ हैं और संस्कृत कथा-साहित्य में नीति-ग्रंथ के रूप में अमर हैं। इस प्रकार इनमें भारतीय कथा-साहित्य की परंपरा मिलती है। परन्तु आज की कहानियाँ पश्चिमी साहित्य से प्रेरणा ले रही हैं और उनमें विषय, शैली, उद्देश्य आदि में नवीनता दिखाई पड़ती है तथा आधुनिक पश्चिमी कहानी से प्रभावित है। हिन्दी कहानी का इतिहास पुराना नहीं है फिर भी उसके विकास में एक परंपरा मिलती है। हिन्दी कहानी-साहित्य के उद्‌गम और विकास का अध्ययन उसके साहित्य के निम्नलिखित काल-विभाग को मान कर किया जा सकता है:—

**काल-विभाग**

| | | |
|---|---|---|
| १. आरंभिक-काल | सन् १८०० ई० से | सन् १९०० ई० तक। |
| २. शैशव-काल | सन् १९०० ई० से | सन् १९१० ई० तक। |
| ३. निर्माण-काल | सन् १९१० ई० से | सन् १९२७ ई० तक। |
| ४. विकास-काल | सन् १९२७ ई० से | सन् १९३७ ई० तक। |
| ५. आधुनिक-काल | सन् १९३७ ई० से | सन् १९५० ई० तक। |

**आरम्भिक-काल (सन् १८०० ई० से सन् १९०० ई० तक)**

उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध हिन्दी कहानी की पूर्वपीठिका के रूप में माना जा सकता है। सन् १८०० से सन् १८१० के बीच में लल्लूलाल का 'प्रेम-सागर', सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' तथा इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' की रचना हुई। 'प्रेमसागर' तथा 'नासिकेतोपाख्यान' में कथा-साहित्य का कोई मौलिक रूप नहीं मिलता, परन्तु 'रानी केतकी की कहानी' का निर्माण एक मौलिक कृति के रूप में हुआ है और इसमें आधुनिक हिन्दी कहानी का रूप दिखाई देता है।

इंशा ने अपनी इस कहानी का निर्माण एक विशेष प्रतिज्ञा या उद्देश्य के साथ किया है। उन्होंने कहानी का प्रारंभ ही इस ढंग से किया है:—

यह वह कहानी है कि जिसमें हिन्दी छुट।
और न किसी बोली का मेल है न पुट॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि इंशा ने अपनी यह रचना भाषा के एक स्वतंत्र रूप को प्रस्तुत करने के लिए लिखी। उन्होंने इस रचना का नाम 'उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी' रखकर इसकी शैली के बारे में भी संकेत किया। 'उदय-भान चरित' नाम से इसमें चरितात्मक शैली का संकेत मिलता है और 'रानी केतकी की कहानी' नाम से इसमें कथातत्व का भी संकेत मिलता है। इस 'कहानी' में आधुनिक कहानी की 'कथा-वस्तु', 'वातावरण', 'कथोपकथन', 'शैली' आदि विशेषताएँ मिलती हैं। इसका कथानक मौलिक है और उसमें लौकिक प्रेम का काव्यात्मक शृंगार मिलता

है। इसमें अलौकिक घटनाओं को स्थान मिलने पर भी कथा के वातावरण में सजीवता है। इसमें एक प्रकार का वेग मिलता है और भाषा में भी आधुनिक शैली की सरसता मिलती है। जहाँ वार्तालाप की शैली मिलती हैं वहाँ भाषा का रूप सजीव दिखाई पड़ता है। इसकी भाषा की धारा निम्नलिखित रूप में उपस्थित हुई है और उसमें आधुनिकता की झांकी दिखाई देती है :—

**"बीचो बीच उन सब घरों के एक आरसी धाम बना था जिसकी छत और किवाड़ और आँगन में आरसी छुट कहीं लकड़ी, ईंट, पत्थर की पुट एक उंगली के पोर बराबर न लगी थी। चाँदनी सा जोड़ा पहने जब रात घड़ी एक रह गई थी, तब रानी केतकी सी दूल्हन को उसी आरसी भवन में बैठा कर दूल्हा को बुला भेजा। कुँवर उदैभान कन्हैया सा बना हुआ सिर पर मुकुट धरे सेहरा बाँधे उसी तड़ावे और जमघट के साथ चाँद सा मुखड़ा लिए जा पहुंचा। जिस जिस ढब से बाम्हन और पंडित कहते गए और जो जो महाराजों में रीतें होती चली आई थीं, उसी डौल से उसी रूप में भंवरी गंठजोड़ा हो लिया।"[१]**

उपर्युक्त उद्धरण में वर्णन करने की जो स्वाभाविकता दिखाई पड़ती है वह बहुत ही अभिनव है। एक सौ पचास साल पहले भी इस प्रकार का स्वाभाविक तथा दिलचस्प वर्णन इस कहानी में हुआ है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इन तीन कथात्मक रचनाओं के अलावा कोई विशेष रचना नहीं दिखाई पड़ती। मुद्रण-यंत्र का प्रचार होने के कारण कई सस्ती तथा मनोरंजक कहानियों की किताबें जनता के हाथ में आने लगीं और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य काल में 'किस्सा तोता मैना', 'किस्सा साढ़े तीन यार', 'छबीली भठियारिन', 'किस्सा हातिमताई', 'दास्तान अमीर हमजा' आदि कहानियों का प्रचार जनता में होने लगा। जनता की कुतूहल वृत्ति को तृप्त करने की सामग्री इसमें थी। इनकी रचना अक्षर-ज्ञान रखने वाले लोगों के लिए ही की जाती थी, इसलिए उनमें मनबहलाव के लिए मनोरंजक तथा आश्चर्यजनक घटनाओं को ही प्राधान्य दिया जाता था। इनमें लोक प्रचलित तथा लौकिक प्रेमकथाओं का सुन्दर चित्रण होने के कारण जनता में इनका प्रचार था।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'कविवचन-सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगेजीन', 'सार-सुधानिधि', 'हिन्दी-प्रदीप', 'आनंदकादंबिनी' आदि साहित्यिक पत्रिकाओं का प्रकाशन होने के कारण साहित्य के विभिन्न रूपों का प्रचलन लोगों में होने लगा। इन पत्र-पत्रिकाओं में स्वप्नचित्र, गप्पाष्टक, हास्य-चित्र व्यंगचित्र, स्फुट-चित्र आदि गद्य-रूपों का प्रकाशन होता रहा। 'हरिश्चंद्र मैगेजीन' में प्रकाशित 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' शीर्षक निबंध एक स्वप्न-चित्र के रूप में पाठकों के सामने उपस्थित हुआ है।

---

१. सं० श्यामसुन्दरदास : 'रानी केतकी की कहानी' तृ० आ० २००२, पृ० ३८

इंग्लैंड का प्रसिद्ध पत्र 'लंडन पंच' की शैली पर 'हिन्दी प्रदीप', 'भारत मित्र' आदि पत्रिकाओं में छोटी-छोटी व्यंग्यात्मक कहानियाँ प्रकाशित होती थीं और उनके द्वारा पाठकों का मनोरंजन होता था। इन कहानियों में कथा का थोड़ा रूप रहता था और उसके द्वारा वह एक व्यंगचित्र के रूप में पाठकों के सामने उपस्थित होता था। ये व्यंग्यात्मक चित्र हास्य-चित्रों के रूपों में हिन्दी संसार में आये और हिन्दी-प्रदीप में उन्हें 'गप्पाष्टक' की संज्ञा दी गई। सन् १८७६ में प्रकाशित 'हिन्दी-प्रदीप' में एक हास्य-चित्र का नमूना इस प्रकार मिलता है:—

**"एक बूढ़ा कमर झुकाए लाठी लिए बाजार में चला जाता था। राह में किसी ने पूछा कि यह कमान तुमने कितने में लिया है उसने उत्तर दिया कि थोड़े दिन सबर करो यह तुम्हें आप से आप मिल जायगा।"[1]**

उपर्युक्त हास्य-चित्र में कहानी का एक अस्पष्ट रूप है और उसमें हास्य की अवतारणा हुई है। इसी प्रकार सन् १८९७ के 'हिन्दी-प्रदीप' में प्रकाशित 'पढ़े लिखे बेकार की एक नकल' शीर्षक स्फुट-लेख में कहानी की कथावस्तु की स्वतंत्र धारा का रूप मिलता है। यह रचना एक लेख के रूप में प्रकाशित हुई थी। इसके प्रारंभिक अंश में कहानी की कथा-वस्तु का भी संकेत इस रूप में दिया है:—

**"जिन्होंने अपना जीवन केवल किताब और पुस्तकों में ही बिताया और जिनके सीधे सरल चित्त में संसार की बुराई भलाई ने स्थान पाया ही नहीं उनको कालेज छोड़ने पर ऊंची नीची दशा में पड़ कैसा सुख दुख झेलना पड़ता है उसी का एक चित्र (हमारे) इस लेख का लक्ष्य है—"[2]**

इससे स्पष्ट मालूम होता है कि पाश्चात्य संस्कृति तथा शिक्षा का प्रभाव तत्कालीन भारतीय जीवन पर पड़ा और उसकी प्रतिक्रिया स्वप्न-चित्र, व्यंग्य-चित्र आदि रूपों में प्रकाशित होने लगीं और उन्हें कथा का रूप मिलने लगा। इन स्वप्न-चित्रों और स्वप्न-कल्पनाओं द्वारा कथा का मनोरंजक रूप पाठकों के सामने रखा गया। सन् १९०० के 'हिन्दी प्रदीप' में बा० पुरुषोत्तम टंडन द्वारा संपादित 'भाग्य का फेर' (एक मनोहर कहानी)[3] का प्रकाशन हिन्दी कहानी-साहित्य के नए युग के प्रारंभ का संकेत देता है। इसी वर्ष के जनवरी में काशी से 'सुदर्शन' और प्रयाग से 'सरस्वती' का प्रकाशन आरंभ हुआ और उनमें आधुनिक कहानी की शैली में कहानी या आख्यायिका के रूप में कथात्मक रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं।

---

१. हिन्दी प्रदीप, अप्रैल १८७६, पृ० ४२ ('हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास', डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, पृ० ५१ से उद्धृत)

२. 'हिन्दी प्रदीप' : अप्रैल, मई, जून, १८५७, पृ० ३-४

३. हिन्दी प्रदीप' : अप्रैल, मई, जून, १८५७, पृ० १७

**शैशव-काल** (सन् १९०० ई० से सन् १९१० ई० तक)

हिन्दी कहानी का सूत्रपात 'सुदर्शन' तथा 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ-साथ हुआ। 'सुदर्शन' पत्रिका के संपादक पं० माधवप्रसाद मिश्र थे और उन्होंने बंगला गल्प के अनुसार अनेक कहानियाँ लिखीं। उनकी 'मन की चंचलता' शीर्षक कहानी 'सुदर्शन' में सन् १९०१ में प्रकाशित हुई। "माधव मिश्र निबंध माला' के 'निवेदन' में इस कहानी के बारे में लिखा है:—

**"हिन्दी में छोटी आख्यायिका या कहानी (बंगला गल्प के ढंग की) लिखने के समारंभ मिश्रजी ही थे। 'मन की चंचलता' उनकी पहली कहानी है, जो सुदर्शन के दूसरे भाग की दूसरी संख्या (फरवरी सन् १९०१) में प्रकाशित हुई थी।"[१]**

इस संग्रह में उनकी 'पुरोहित का आत्मत्याग', 'जापानी मारवाड़ी', 'यक्ष युधिष्ठिर संवाद' और 'बड़ा बाजार' शीर्षक कहानियाँ मिलती हैं। उनकी कहानियों में आख्यायिका की शैली का रूप मिलता है। 'पुरोहित का आत्मत्याग' कहानी का आरंभ इस प्रकार हुआ है:—

**"सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में एक दिन दो क्षत्रिय राजकुमार उदयपुर के जंगल में जी बहला रहे थे, दोनों ही मृगया (शिकार) खेलने में चतुर और दोनों ही आकृति में प्रायः एक से थे। दोनों के हाथों में भाले चमक रहे थे। कमरों पर तलवारें लटक रही थीं और पीठ पर ढाल तथा धनुर्बाण शोभा दे रहे थे। दोनों ही अश्वारूढ़ थे। दोनों का शरीर सुन्दर, सुडौल, फुरतीला और तेजस्वी था। अंग अंग से वीरता प्रकट होती थी। पाठक ! यह दोनों युवा वीर महाराणा उदयसिंह के पुत्र थे। एक का नाम प्रतापसिंह और दूसरे का शक्तिसिंह था।"**

'सुदर्शन' में प्रकाशित अधिकतर कहानियाँ आख्यायिका ढंग की हैं। सन् १९०३ में उसके बंद होने पर कहानी-साहित्य के प्रकाशन का कार्य केवल 'सरस्वती' पत्रिका ही के द्वारा होने लगा और अनेक आख्यायिकाएँ पाठकों के सामने उपस्थित हुईं।

'सरस्वती' पत्रिका के उद्देश्य और विषय के बारे में जो कुछ लिखा गया है उसमें कहानी के स्वतंत्र अस्तित्व के बारे में निर्देश नहीं मिलता तथा 'सरस्वती' की विषय-सूचियों में केवल आख्यायिकाओं के ही नाम मिलते हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि आख्यायिका के रूप में कहानी का आरंभ इस काल में हुआ। इस काल की कहानी का मूल निम्नलिखित रचनाओं में ढूंढ़ा जा सकता है:—

---

**३. सं० चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा; 'माधव प्रसाद निबंधमाला' संवत् १९९२; निवेदन पृ० ४**

१. शेक्सपीयर के नाटकों का आख्यायिकाओं के रूप में मर्मानुवाद।

२. संस्कृत के नाटक और 'कादंबरी' का मर्मानुवाद।

३. बंगला से अनूदित कहानियाँ।

४. जीवन का यथार्थ रूप चित्रित करने वाली कहानियाँ। जैसे—'दुलाईवाली'।

५. काल्पनिक तथा कलात्मक भाव-कथाएँ।

बंगला कहानी का प्रभाव हिन्दी कहानी पर पड़ा है। बंकिमचंद तथा रवींद्रनाथ की कहानियों के कारण बंगला कहानी के इतिहास में नए युग का आरंभ हुआ। जब हिन्दी कहानी का जन्म ही नहीं हुआ था तब बंकिमचंद, महर्षि देवेन्द्रनाथ की सुपुत्री स्वर्णकुमारी देवी ने अच्छी-अच्छी कहानियाँ लिखीं। बंगला में कहानी को गल्प कहा जाता है और ये गल्पें अनूदित रूप में हिन्दी में प्रकाशित होने लगीं। बंगला कहानी पर अंग्रेजी कहानी-साहित्य का प्रभाव था। अतः यह प्रभाव बंगला की अनूदित कहानियों द्वारा हिन्दी में आने लगा।

'सरस्वती' के प्रथम चार अंकों में महाकवि शेक्सपीयर रचित तीन नाटकों का आख्यायियाकाओं के रूप में मर्मानुवाद हुआ। इन आख्यायिकाओं के आरंभ, मध्य, अन्त तथा रचना-विधान में भारतीय पद्धति की राजा-रानी कहानी की शैली मिलती है। पाश्चात्य साहित्य परंपरा को भारतीय रूप-विधान में आत्मसात् करने का यह प्रयत्न बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार 'रत्नावली' तथा 'मालविकाग्निमित्र' नाटकों का आख्यायिकाओं में अनुवाद किया गया। 'रत्नावली' की आख्यायिका का आरंभ इस प्रकार हुआ है:—

**'कौशाम्बि नगरी में आज मदनोत्सव की धूमधाम मची हुई है। वसन्त ऋतु के आने से नगर-निवासी जन बड़े उमंग के संग कामदेव की पूजा की तयारी कर रहे हैं। ऐसे समय में कोशाम्बि के अधिपति महाराज उदयन (वत्सराज) भी अपने मित्र वसन्तक के साथ राजप्रासाद की सब से ऊंची छत पर बैठे हुए नगर निवासियों के उत्साह और कुतूहल को देख रहे हैं।"[१]**

इस आख्यायिका का अन्त बहुत ही भावपूर्ण है:—

**"उस उत्सव में वह 'रत्नमाला' जो बसन्तक को सुसंगता ने दी थी, बसन्तक ने पुरस्कार में पाई और आनन्दध्वनि से सारा राजप्रासाद गूंज उठा"[२]**

इसी प्रकार हिन्दी कहानी का प्रारंभ अंग्रेजी तथा संस्कृत के नाटकों के भावानूदित आख्यायिकाओं के द्वारा हुआ। इनमें भारतीय कथा-शैली का उपयोग किया है परन्तु बाद में बंगला की अनूदित कहानियों द्वारा विदेशी साहित्य की परंपरा का

---

१. **'सरस्वती' : जनवरी, १९०१, पृ० २६.**

२. **'सरस्वती' : फरवरी, १९०१, पृ० ५७**

प्रभाव भी हिन्दी कहानी-साहित्य पर पड़ने लगा। एक दृष्टि से यह काल हिन्दी कहानी का प्रयोग काल है और उसमें कहानी की वर्णनात्मक, भावात्मक और आत्मकथात्मक शैली का दर्शन होता है।

वर्णनात्मक शैली में लिखी हुई कहानियों में किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती', आचार्य रामचंद्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' बंग महिला कृत 'दुलाईवाली' आदि कहानियाँ आती हैं। इनमें अधिकतर कहानियाँ घटना-प्रधान हैं और उनमें संयोगात्मक घटनाओं का स्वाभाविक विकास मिलता है। इन कहानियों में विदेशी नाटकों का कथा-सौन्दर्य, भारतीय कथा-साहित्य की परंपरा और बंगला गल्पों की रसात्मकता मिलती है।

हिन्दी कहानी के विकास क्रम में किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' और आचार्य रामचंद्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' कहानियाँ महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। डा० श्रीकृष्ण लाल के अनुसार 'इन्दुमती' हिन्दी की प्रथम कहानी मानी गई है परन्तु डा० लक्ष्मीनारायण लाल के अनुसार 'ग्यारह वर्ष का समय' हिन्दी की प्रथम कहानी है। हिन्दी कहानी के विकास-क्रम के अनुसार 'इन्दुमती' कहानी को प्रथम स्थान दिया जा सकता है यद्यपि इस पर 'टेम्पेस्ट' नाटक की छाया स्पष्ट है। इस कहानी पर भारतीय कथा-शैली का प्रभाव दिखाई पड़ता है और बीच-बीच में भारतीय कथा-शैली का वाक्यविन्यास भी मिलता है। कहानी के बीच में लेखक पाठक से इस प्रकार बातें करता है:—

> **"पाठक! देखिए ये लोग क्या क्या बातें करते हैं? अहा! यह देखिए! इन्दुमती का पिता एक चटाई पर बैठा है और सामने दस बारह और भी हाथ बाँधे जमीन पर बठे हैं।"**

'इन्दुमती' के समान 'ग्यारह वर्ष का समय' की रचना आख्यायिका की शैली पर हुई है और इसका लेखक इस बात का संकेत कहानी के बीच में इस प्रकार देता है:—

> **"इस आख्यायिका में यही ज्ञात होना शेष है कि चन्द्रशेखर मिश्र के पुत्र की क्या दशा हुई।"[1]**

इससे भी स्पष्ट हो जाता है अभी तक आख्यायिका की शैली पर ही कहानियाँ लिखी जाती थीं और इस काल की कहानियों का नामकरण आख्यायिकाओं के रूप में हो रहा था।

इस काल में व्यंकटेशनारायण त्रिपाठी कृत 'एक अशरफी की आत्म-कहानी', यशोनंदन अखौरी कृत 'इत्यादि की आत्मकहानी', महेन्दुलाल गर्ग कृत 'पेट की आत्म-

---

१. **'सरस्वती', सितम्बर, १९०३, पृ० ३१५**

कहानी' आदि कहानियाँ 'आत्मकहानी' की शैली में रची गईं। इन कहानियों में कौतूहल की मात्रा अधिक है और कथा वस्तु का प्रवाह भी मिलता है। इसी प्रकार सन् १९०६ में प्रकाशित लाला पार्वतीनंदन कृत, 'मेरा पुनर्जन्म' और 'एक के दो दो', बंगमहिला कृत 'कुम्भ में छोटी बहू' आदि कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। इनमें 'मेरा पुनर्जन्म' कहानी प्रसिद्ध है। इसका लेखक अपनी इस कृति को ठीक रूप भी नहीं दे पाया और वह निवेदन के रूप में कहानी के बीच में लिखता है:—

> **"कथा अधिक बढ़ाने का साहस नहीं होता.....मेरी दुःखपूर्ण आख्यायिका बहुत लम्बी है।.....परन्तु पाठक महाशय मेरी कहानी को उपन्यास मात्र न समझिएगा।"[1]**

सरस्वती के संपादक द्वारा लेखक के इस निवेदन का उत्तर टिप्पणी के रूप में इस प्रकार दिया गया है:—

> **"तुम यदि अपनी कहानी इससे चौगुनी कर देते तो भी हम उसे काट कर तुम्हारे शरीर से खून निकालने का पाप अपने सिर न लेते।"[2]**

इस रचना के बारे में लिखते समय लेखक ने इसके रूप का प्रयोग 'आख्यायिका' और 'कहानी' के शीर्षक में किया है। उसी प्रकार संपादक महाशय ने भी इसे 'कहानी' ही समझा है। यह कहानी एक मौलिक रचना के रूप में सामने आई है और लेखक ने अपने अनुभवों के आधार पर ही इसे लिखा है।

'मेरा पुनर्जन्म' शीर्षक कहानी के बाद सत्यदेव कृत 'कीर्तिकालिमा' बंगमहिला कृत 'दुलाईवाली', मधुमंगल कृत 'भूत ही कोठरी', वृन्दावनलाल वर्मा की 'राखीबंद भाई' आदि महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं। इनमें अधिकतर कहानियाँ बंगला तथा अंग्रेजी कहानियों के आधार पर लिखी गई हैं जिनमें कहानी-कला का कोई ठीक रूप-विधान दिखाई नहीं पड़ता। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में प्रकाशित कहानियों में कहानी-कला के प्रयोग मिलते हैं।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के उत्तरार्ध में कहानी-कला की प्रयोगावस्था का दर्शन 'दुलाईवाली', 'भूत ही कोठरी', 'राखीबन्द भाई', 'तातार और एक वीर राजपूत' आदि कहानियों में मिलता है। 'दुलाईवाली' एक मनोरंजक तथा घटना-प्रधान कहानी है और उसमें एक घटना का रहस्य खोला गया है। यह बात 'भूत ही कोठरी' में भी मिलती है। लेखक ने इस कहानी में एक ऐसे वातावरण की सृष्टि का निर्माण किया है कि तिलस्मी का एक रूप सामने उपस्थित हो जाता है। इसमें लोकमत तथा लोक-भाव के अज्ञान पर प्रकाश डालकर लेखक ने इस कहानी द्वारा यह सिद्ध किया है

---

१. 'सरस्वती: फरवरी, सन् १९०६, पृ० ६०

२. 'सरस्वती:—फरवरी, १९०६, पृ० ६०

कि हरएक घटना के पीछे छिपे रूप में एक वास्तविक सत्य भी रहता है और जो बात बाहर से आश्चर्यजनक लगती है उसका आधार जीवन की एक साधारण घटना पर होता रहा है। इसमें कुतूहल और रोमांच की भावना है और एक घटना के द्वारा 'भूत ही कोठरी' का रहस्य पाठकों के सामने उपस्थित किया है। लोग जिसको 'भूत ही कोठरी' कहते थे उसमें एक ऐतिहासिक घटना का सुन्दर विकास दिखाई देता है। अलीकुली खाँ ने अपने-अपने सोने और चाँदी के सिक्के इस कोठरी में ऐसे ढंग से रखे थे कि कि इस कोठरी में एक भूत के अस्तित्व का आभास लोगों को हो जाय। परन्तु कहानीकार ने एक ऐतिहासिक घटना को इस ढंग से चित्रित किया है कि उसके रहस्य पर प्रकाश पड़ जाने से लोकभावना के अज्ञात को एक धक्का बैठ जाता है।

शैशव-काल की कहानियों में वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'तातार और एक वीर राजपूत' (१९१०) में कहानी की प्रयोगावस्था का दर्शन मिलता है। सन् १९०९ में प्रकाशित उनकी 'राखीबंद भाई' कहानी में उनकी कहानी-कला का प्रारंभिक रूप मिलता है। वर्माजी की यह कहानी विपद् में फंसी हुई निस्सहाय क्षत्राणी की दुःखपूर्ण कथा है। इसमें घटनाओं के द्वारा प्रेम का संघर्ष बहुत ही कौशल के साथ दिखाया है। 'तातार और एक वीर राजपूत' में भी उनकी ऐतिहासिक कहानी का प्रारंभिक रूप मिलता है। कहानी-साहित्य की इस प्रयोगावस्था में उनकी कहानियों में आधुनिकता के लक्षण स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। 'तातार और एक वीर राजपूत' कहानी का आरंभ बहुत ही सुन्दर ढंग से हुआ है :—

> **"इस समय दिन के कोई दस बजे होंगे। बादलों के छोटे छोटे टुकड़े आकाश में लड़ रहे हैं। मन्द मन्द पवन बह रहा है। उसके झोकों से पहाड़ी के नीचे अवस्थित एक उद्यान लहरा रहा था"**[1]

कहानी का यह आरंभ कहानी की आधुनिकता का संकेत दे रहा है। इस प्रकार एक युवक के मुख से कहा गया—"सुकेशी, सौन्दर्य का रूप बड़ा मधुर, पर स्पर्श बड़ा कठोर होता है"—वाक्य इस कहानी की कथोपकथन-शैली में भाव-सौन्दर्य निर्माण करता है और इसकी मधुरिमा पाठक के हृदय को हिला देती है।

इस प्रकार हिन्दी कहानी के शैशवकाल में अनेक कहानियों का प्रकाशन हुआ। इन कहानियों में बंगला से अनूदित कहानियों की संख्या अधिक मिलती है तथा अंग्रेजी और बंगला की कहानी-शैली पर उनका निर्माण हुआ है। भारतीय कथा-साहित्य का प्रभाव इन कहानियों पर स्पष्ट दिखाई देता है और उनकी रचना 'आख्यायिकाओं' के रूप में हुई है। हिन्दी-कहानी-साहित्य के विकास में 'सरस्वती' पत्रिका ने बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य

---

१. **'सरस्वती' : अक्टूबर, १९१०, पृ० ४५७**

किया और 'इन्दु' पत्रिका के प्रकाशन के कारण हिन्दी कहानी की प्रगति की दिशा में परिवर्तन दिखाई देने लगा।

**निर्माण-काल** (सन् १९१० ई० से सन् १९२७ ई० तक)

कहानी-साहित्य के विकास में 'इन्दु' (१९०९) पत्रिका का प्रकाशन बहुत महत्वपूर्ण घटना है। 'सरस्वती' के प्रकाशन के कारण अनेक कहानियों का प्रकाशन हो रहा था परन्तु 'इन्दु' के प्रकाशन द्वारा इसको और अधिक बल मिला। धीरे-धीरे 'गृहलक्ष्मी' (१९१०), 'कन्या मनोरंजन' (१९१२), 'हिन्दी गद्यमाला' (१९१८), 'माधुरी' (१९२३), 'चाँद' (१९२३) आदि साहित्यिक पत्रिकाओं का प्रकाशन होने लगा और अनेक प्रकार की कहानियाँ पाठकों के सामने आने लगीं। हिन्दी की आधुनिक कहानियों के विकास क्रम में इन पत्रिकाओं का अपना विशेष स्थान है।

हिन्दी कहानी-साहित्य के इतिहास में सन् १९१० से सन् १९२७ ई० तक का काल अपना विशेष महत्व रखता है। इस काल विभाग में अनेक कहानीकारों ने कहानी लिखना आरंभ किया और उच्च कोटि की कहानियों का निर्माण किया। 'इन्दु' में प्रकाशित जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' (१९१०) कहानी आधुनिक कहानी के नए युग का सूत्रपात करती है। इस कहानी का प्रारंभ ही ऐसे ढंग से किया है कि अब कहानी में नई दिशा के सब लक्षण स्पष्टतया दिखाई पड़ते हैं। 'ग्राम' कहानी का आरंभ इस रूप में हुआ है:—

**"टन! टन! टन! स्टेशन पर घंटी बोली।**

**श्रावण मास की संध्या भी कैसी मनोहारिणी होती है, मेघमाला विभूषित गगन की छाया, सघन रसाल कानन में पड़ रही है, अंधियारी धीरे धीरे अपना अधिकार पूर्वगगन में जमाती हुई, सुशासनकारिणी महाराणी के समान बिहंग प्रजागन के सुख निकेतन नीड़ में शयन करने की आज्ञा दे रही है।"[1]**

कहानी के प्रारंभिक अंश को देखकर यह स्पष्ट दिखाई देता है कि वह अब अपने स्वतंत्र अस्तित्व का अन्वेषण कर रही है और उसमें जीवन की वास्तविकता का चित्रण होने लगा है। अब उसका निर्माण मनुष्य जीवन से संबंधित घटनाओं, पात्रों आदि द्वारा होने लगा और आधुनिक कहानी का रूप सामने आने लगा। डा० श्रीकृष्ण-लाल ने आधुनिक कहानी के उद्गमों के बारे में इस प्रकार लिखा है:—

**"आधुनिक कहानियों का प्रारम्भ दो उद्गमों से होता है। एक ओर सामयिक और तत्कालीन जीवन के प्रतिदिन की आकस्मिक घटनाओं और करुण, हास्यमय, विस्मययुक्त तथा अद्भुत परिस्थितियों के आधार पर यथार्थवादी वातावरण के आवरण में सुसज्जित नई कहानियों की सृष्टि होने लगी, दूसरी ओर प्राचीन**

---

१. 'इन्दु' कला २, किरण, २, संवत् १८६७, पृ० ६१

**खंडकाव्यों, नाटकों, और आख्यानक गीतियों तथा प्रबंध काव्यों के आधार पर कल्पना-प्रसूत कथानक गद्य में नाटकीय कहानियों के साँचे में ढाले जाने लगे। प्रथम उद्गम से यथार्थवादी कहानियों का प्रारम्भ हुआ। और द्वितीय उद्गम से आदर्श-वादी और कवित्वपूर्ण कहानियों का।"[1]**

उपर्युक्त उद्धरण में प्रेमचन्द तथा प्रसाद की कहानियों की ओर ही संकेत मिलता है। इस काल में प्रेमचंद और प्रसाद जी ने अपनी विविध प्रकार की कहानियों द्वारा हिन्दी कहानी-साहित्य को समृद्ध किया।

सन् १९१० से सन् १९१६ तक का समय हिन्दी कहानी साहित्य के निर्माण की पहली सीढ़ी है। इन छः वर्षों में हिन्दी की प्रारंभिक तथा मौलिक कहानियों का दर्शन हुआ और 'उसने कहा था', 'पंच परमेश्वर' आदि उच्च कोटि की कहानियाँ इसी काल में लिखी गईं।

जयशंकर प्रसाद जी ने अपनी 'ग्राम' शीर्षक भाव-कहानी के द्वारा हिन्दी कहानी साहित्य में प्रवेश किया। 'ग्राम' भारत के ग्रामीण जीवन की एक दुःखपूर्ण कहानी है। इसमें महाजन के अत्याचारों से पीड़ित एक भारतीय परिवार का चित्र उपस्थित किया गया है। लेखक ने आकस्मिक घटनाओं और संयोगों द्वारा करुणार्द्र परिस्थितियों की योजना की है। उनकी दूसरी महत्वपूर्ण कहानी 'रसिया बालम'[2] (१९१२) में प्रसाद जी की भावुकता तथा काल्पनिकता का पता लगता है। प्रेमाख्यान की शैली पर लिखी हुई प्रसादजी की यह कहानी हिन्दी में काव्यात्मक कहानी का श्रीगणेश करती है। इस प्रकार 'इन्दु' में प्रकाशित श्री राधिका रमण सिंह कृत 'कानों में कंगना' (१९१३), तथा पं० पारसनाथ त्रिपाठी कृत 'सुख की मौत' (१९१३) कहानियों द्वारा हिन्दी में भावपूर्ण कहानियों की परंपरा आगे बढ़ी।

'कानों में कंगना' अपने ढंग की एक महत्वपूर्ण तथा अनूठी कहानी है। उसका आरंभ ही एक कौशल पूर्ण वार्तालाप द्वारा होता है और पाठक के मन में एक प्रकार का कुतूहल तथा गुदगुदी जागृत करता है। कहानी का आरंभ इस प्रकार हुआ है:—

**"किरण! तुम्हारे कानों में क्या है?**
**उसने कानों से चंचल लट को हटाकर कहा "कंगना"।**
**सचमुच दो कंगन कानों को घेर कर बैठे थे।**
**"अरे! कानों में कंगना?"**
**"हाँ—तब कहाँ पहनूं?"**

---

१. सं० डा० श्रीकृष्णलाल : 'हिन्दी कहानियाँ'; 'चतुर्थ संस्क० १९४९, पृ० ३०

२. 'इन्दु' : अप्रैल, १९१२

**"गुलेरी जी की 'उसने कहा था' कहानी बहुत ही अधिक स्थान और समय घेरती है और कहानी के नवीन-प्रतिमानों को देखते हुए विराट या महा-काव्य (Epic story) कही जा सकती है। लम्बी कहानियाँ प्रसादजी ने भी लिखी हैं और प्रेमचंद जी ने भी, इन दोनों की कहानियों में 'उसने कहा था' की सी बोझिल विशालता नहीं है।"[1]**

वाजपेयीजी ने 'उसने कहा था' में कहानी की जो 'बोझिल विशालता' देखी है यह एक महत्वपूर्ण संकेत है। सन् १९१५ में प्रकाशित अधिकतर कहानियों में आख्यायि-काओं की शैली पर लिखी हुई कहानियाँ प्रकाशित हुईं। गुलेरी जी ने अपनी इस चौदह पृष्ठ की कहानी की विशेषताओं पर ही अधिक ध्यान दिया और उसे मौलिक रूप में लिखते-लिखते वह इतनी बड़ी हो गई कि उसमें एक 'बोझिल विशालता' का दर्शन होने लगा।

कहानी का शीर्षक 'उसने कहा था' पाठक का मन आकृष्ट करता है। इसके आरंभ में अमृतसर के बम्बू कार्ट वालों का जो वर्णन दिया है वह बहुत ही सजीव तथा यथार्थ है। उसी प्रकार कहानी का अन्त बहुत ही भावपूर्ण वाक्य में किया है:—

**'कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—फ़्रांस बेलजियम—६८वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।'**

कहानी के अन्त को देखकर यह लगता है कि लेखक कहानी को बहुत ही जल्दी पूर्ण करना चाहता है। इसमें कहानी की कथा-वस्तु, देशकाल का वर्णन तथा पात्रों का चरित्र-चित्रण कहानी की संकुचित सीमाओं को लांघकर एक आदर्श तथा विस्तृत कथा का रूप लेता है—यह एक आदर्श प्रेम की प्रणय-कथा है जिसमें लहनासिंह और सुबेदारनी का चरित्र-चित्रण प्रेम और कर्तव्य के विशाल तथा व्यापक आदर्श को पाठकों के सामने उपस्थित करता है। प्रेम और कर्तव्य की वेदी पर अपना बलिदान करने वाले लहनासिंह का चरित्र-चित्रण बहुत ही प्रभावशाली हुआ है और कहानीकार भी इस चरित्र से इतना प्रभावित हुआ है कि उसकी लेखनी द्वारा कहानी का अन्त बहुत अर्थपूर्ण तथा भावपूर्ण किया गया है।

गुलेरी ने अपनी कहानियों द्वारा कहानी का एक स्वतंत्र रूप लोगों के सामने रखा। उनके सामने हिन्दी कहानी का कोई आदर्श रूप नहीं था। 'सरस्वती' और 'इन्दु' में जो कहानियाँ छपती थी उनमें अधिकतर भावपूर्ण कहानियाँ रहती थीं। उनके काल में वृन्दावनलाल वर्मा, पारसनाथ त्रिपाठी, जयशंकर प्रसाद, 'कौशिक', 'विश्वम्भरनाथ जिज्जा', ज्वालादत्त शर्मा, कुमार राधिकारमण सिंह आदि लेखक अपनी कहानियाँ प्रकाशित कर रहे थे। इन लेखकों की कहानियों द्वारा कहानी के

---

१. सं० नन्ददुलारे बाजपेयी: 'हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ', तृ० संस्क० सन् १९५१ (भूमिका से)

भिन्न-भिन्न आदर्श पाठकों के सामने रखे गए और भविष्य की कहानी के लिए रास्ता दिखाया गया। इस दृष्टि से प्रेमचंद का हिन्दी कहानी-साहित्य में प्रवेश होना एक क्रान्तिकारी घटना है जिसके द्वारा हिन्दी का कहानी-साहित्य विकास की गति में आगे बढ़ता गया। उनकी 'पंचपरमेश्वर' (१९१६) शीर्षक रचना कहानी-कला का आदर्श उपस्थित करती है।

आधुनिक हिन्दी कहानी के विकास पर लिखते समय डा० श्रीकृष्ण लाल ने हिन्दी कहानी-साहित्य में प्रेमचंद के आविर्भाव का मूल्यांकन बहुत ही स्पष्ट शब्दों में किया है—

"आधुनिक कहानियों में विकास का प्रथम और प्रमुखतम सूत्र प्रेमचंद की देन है। उन्होंने पहले पहल कहानियों को बाह्य घटनाओं के जाल से छुड़ाकर मानव-जीवन के अन्तः रहस्यों के उद्घाटन का साधन बनाया......जहाँ पहले कहानियों में भीतर-बाहर सभी जगह इन्हीं आकस्मिक घटनाओं और संयोगों की प्रधानता थी वहाँ प्रेमचंद ने कथानक के बाह्य रूप-रेखा के लिए आकस्मिक घटनाओं और संयोगों का तो पूरा-पूरा उपयोग किया, परन्तु उसकी अंतः रूप-रेखा का विकास मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण द्वारा ही किया।......प्रेमचंद के इस आविष्कार ने मानव-चरित्र नाम की एक अद्भुत पिटारी खोल दी जिसके आश्चर्यो का कोई अंत ही नहीं। मनुष्य का मान-अभिमान, स्नेह-प्यार, ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट, घृणा-ग्लानि, वैर-विरोध कब क्या रूप लेते हैं, उनमें कब क्या-क्या परिवर्तन होते हैं यह वास्तव में अद्भुत है।"[१]

हिन्दी-कहानी-साहित्य में प्रेमचंद का एक निश्चित स्थान है और उनकी रचनाओं द्वारा आधुनिक कहानी बहुत प्रभावित है। उनकी 'पंचपरमेश्वर' का निर्माण ऐसे समय में हुआ जब नाटक, उपन्यास आदि में भी विकसित परम्परा के दर्शन हो रहे थे। इस कहानी के प्रकाशन के समय पं० ज्वालादत्त शर्मा की 'अनाथ बालिका', 'भावपरिवर्तन', और 'विरक्त विज्ञानवाद'; पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'झलमला' आदि कहानियाँ प्रकाशित हुई। सन् १९१६ में प्रकाशित इन कहानियों के लेखकों में अधिकतर नये कहानीकार मिलते हैं और बाद में समय की गति के अनुसार अनेक कहानीकारों ने अपनी कहानियाँ प्रकाशित कीं। प्रेमचंद के आविर्भाव के समय कहानी-साहित्य में निम्नलिखित परिवर्तन के लक्षण दिखाई पड़ने लगे—

१. हिन्दी कहानियों ने आख्यायिका का रूप छोड़कर आधुनिक कहानी का रूप धारण किया और धीरे-धीरे आख्याओं की संख्या कम दिखाई पड़ने लगी।

---

१. सं० डा० श्रीकृष्णलाल: 'हिन्दी कहानियाँ', चतुर्थ संस्करण, १९४९, पृ० ३२-३३,

२. लेखकों का ध्यान मौलिक कहानियों की रचना की ओर आकृष्ट हुआ और अनूदित कहानियों की संख्या कम दिखाई पड़ने लगी।

३. कहानी यथार्थ की भावभूमि पर आने लगी और उसमें जीवन की यथार्थ समस्याओं का चित्रण होने लगा। इस तरह लेखक अपनी कहानियों द्वारा जीवन के यथार्थ प्रश्नों को सुलझाने लगे।

४. कहानी में सामान्य चरित्रों को भी स्थान मिलने लगा और उनके द्वारा मानव-चरित्र का विश्लेषण होने लगा।

५—कहानी में आकस्मिक तथा बाह्य घटनाओं का उपयोग पात्रों के मानसिक भावों का स्पष्ट चित्र खींचने में होने लगा।

प्रेमचंद ने 'पंच परमेश्वर' के बाद अनेक कहानियाँ लिखीं और उनकी संख्या तीन सौ के आसपास है। लेकिन प्रेमचंद पहले उर्दू के कहानीकार थे और बाद में वे हिन्दी में कहानियाँ लिखने लगे। इसलिए उनकी कहानियों पर उर्दू कथा-साहित्य का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। केवल रचना-विधान की दृष्टि से प्रेमचंद जी की कहानियों का मूल्यांकन करना नहीं चाहिये। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि समस्याओं को सामने रखकर अपनी कहानियाँ लिखीं और हिन्दी कहानी के विकास की गति को आगे बढ़ाया।

इस काल विभाग में प्रेमचंद की सन् १९२७ तक की कहानियाँ आती हैं और उनमें 'पंच परमेश्वर' (१९१६), 'सज्जनता का डंड' (१९१६), 'बलिदान' (१९१८), 'पुत्र प्रेम' (१९२०), 'सुहाग की साड़ी' (१९२२), 'शतरंज के खिलाड़ी' (१९२२), 'सभ्यता का रहस्य' (१९२५), 'ऐक्ट्रेस' (१९२७) आदि महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं।

प्रेमचंद जी ने अपनी कहानियों में ग्रामीण समाज का चित्रण करके तत्कालीन समस्याओं पर प्रकाश डाला है। भारतीय ग्रामीण जीवन को यदि देखना हो तो उनकी कहानियाँ सामने रखी जा सकती हैं। उन्होंने अपनी कहानियों के द्वारा ग्रामीणों की तत्कालीन आशा-आकांक्षाओं का अच्छा चित्रण किया है। उन्होंने ऐसे अमर पात्रों की सृष्टि की है कि उनमें मनुष्य जीवन की अवस्थाओं और भावनाओं का चित्रण मिलता है। प्रेमचंद जी के अनुसार उत्तम कहानी का आदर्श इस प्रकार है—

> "सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो!"[1]

प्रेमचंद जी के काल में ग्रामीण जीवन में अनेक समस्याओं का निर्माण हुआ था। इन समस्याओं पर प्रकाश डालते समय उन्होंने अपनी कहानियों के पात्रों

---

१. प्रेमचंद : 'कुछ विचार', तृ० संस्करण, १९४५, पृ०३२।

के जीवन का चित्रण इस ढंग से किया कि उनमें मानव जीवन की अनेक कमजोरियों का रूप सामने उपस्थित करके मानवीय आदर्श के गुणों की भी स्थापना की। उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग मनुष्य स्वभाव का वैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिए किया। उन्होंने अपनी कहानियों के प्रत्येक पात्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके मानव जीवन के साधारण से साधारण पहलू पर प्रकाश डाला है। उन्होंने अपने चारों ओर जो कुछ देखा था उसका सूक्ष्म चित्रण अपनी कहानियों के पात्रों तथा घटनाओं के द्वारा पाठकों के सामने रखा। उनकी प्रसिद्ध कहानी 'पंचपरमेश्वर' में उनकी कहानी-कला के निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं—

१. इसका कथानक ग्रामीण जीवन की अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं की ओर संकेत करता है।
२. इसके सब पात्र साधारण ग्रामीण हैं और उनमें मित्रप्रेम, ईमानदारी, न्यायप्रियता आदि मनुष्योचित आदर्शों की स्थापना हुई है।
३. कहानी का कथानक यथार्थ जीवन की वास्तविकता को लेकर पाठकों के सामने उपस्थित होता है।
४. जुम्मन शेख और अलगू चौधरी के भावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर तत्कालीन हिन्दू-मुस्लिम एकता की ओर भी संकेत किया है।
५. कहानी का कथानक ऐसे ढंग से संचालित किया है कि उसको अनेक मोड़ मिलते हुए भी कहानी अपने उद्देश्य तक ठीक पहुँचती है।
६. कहानी में प्रेमचंद की सुधारवादी वृत्ति का दर्शन मिलता है। इसलिए इससे शिक्षा तथा उपदेश मिल सकता है।

इस प्रकार इस कहानी में अनेक विशेषताएँ पाई जा सकती हैं। इस कहानी द्वारा प्रेमचंद ने मानव जीवन के विविध रूपों को पाठकों के सामने रखकर उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। प्रेमचंद जी मनुष्य जीवन का मनोवैज्ञानिक चित्र खींचने में बड़े सिद्धहस्त थे। उन्होंने 'बूढ़ी काकी' कहानी में बूढ़ी काकी का मनोवैज्ञानिक चित्र बहुत ही कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है—

"बूढ़ी काकी में जिह्वा-स्वाद के सिवा और कोई चेष्टा न थी और न अपने कष्टों की ओर आकर्षित करने का रोने के अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा ही। समस्त इंद्रियाँ, नेत्र, हाथ और पैर जवाब दे चुके थे। पृथ्वी पर पड़ी रहतीं और जब घरवाले कोई बात उनकी इच्छा के प्रतिकूल करते, या भोजन का समय टल जाता, उसका परिमाण पूर्ण नहीं होता, अथवा बाजार से कोई वस्तु आती और उन्हें नहीं मिलती तो रोने लगती थीं। उनका रोना-सिसकना साधारण रोना न था, वह गला फाड़-फाड़ कर रोती थीं।"

प्रेमचंद जी एक साधारण से साधारण पात्र का भी मनोवैज्ञानिक चित्रण ऐसे ढंग से उपस्थित करते थे कि उसका पूर्ण-चित्र उसकी कमजोरियों के साथ उपस्थित हो जाता था। कहानी के पात्रों द्वारा मनुष्य की विविध मनस्थितियों का विश्लेषण करने की प्रेमचंद की कला अभिनव है।

प्रेमचंदजी के पहले कहानियाँ अधिकतर घटना-प्रधान रहती थीं परन्तु प्रेमचंद ने चरित्र-प्रधान कहानियों की परम्परा आरम्भ की। कभी-कभी प्रेमचंद की कहानियों में अप्रासंगिक तथा आकस्मिक घटनाओं का चित्रण होता है, परन्तु जहाँ कहानी का मध्यबिन्दु आता है वहाँ पात्रों की विशेषता ही कहानी की दिशा निर्धारित करती है।

प्रेमचंद की कहानी में उनकी सुधारवादी प्रवृत्ति का दर्शन मिलता है। वे अपने साहित्य द्वारा जनता में नवजागरण की भावना निर्माण करना चाहते थे, इसलिए वे जीवन का यथार्थ-चित्रण इस ढंग से चित्रित करते थे कि उसके द्वारा भारत की तत्कालीन समस्याओं का ज्ञान सर्वसुलभ हो जाय और उससे जनक्रान्ति की सुधारवादी धारा का निर्माण हो जाय। उनके यथार्थोन्मुख आदर्शवाद का दर्शन उनकी अधिकतर कहानियों में मिलता है। वे अपनी कहानियों की घटनाओं तथा पात्रों द्वारा यथार्थ जीवन का चित्रण सामने रखकर अपने मन के अनुसार उसमें आदर्शवाद की स्थापना करते थे। वे भारतीय जीवन में एक विशेष प्रकार की सामाजिक तथा राजनीतिक क्रान्ति की आवश्यकता पर जोर देते थे और कहीं मौका मिलते ही वे सरकार, धनिक वर्ग, सुशिक्षित समाज आदि की आलोचना करते थे।

प्रेमचन्द की कहानियों के पात्रों में विविधता के दर्शन मिलते हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में किसान, सुशिक्षित, अशिक्षित, अछूत, चोर, डाकू, देशभक्त आदि का चरित्र-चित्रण बहुत ही वैज्ञानिक ढंग से किया है। उन्होंने अपनी कहानियों का वातावरण अधिकांश देहाती समाज तक ही सीमित रखकर ग्रामीण समाज की संस्कृति, धर्म, आदर्श आदि पर प्रकाश डाला है। गांधी जी के सुधारवादी सिद्धान्तों का प्रचार इनकी कहानियों में मिलता है।

इस काल-विभाग में प्रेमचंद जी की 'सप्तसरोज' कहानी-संग्रह से 'प्रेम द्वादशी' कहानी-संग्रह तक में प्रकाशित कहानियाँ आती हैं। इनमें अधिकतर कहानियों का आकार बड़ा है। उनमें जीवन की विविधता का भी चित्रण हुआ है। उनकी प्रारंभिक कहानियों में उनका आदर्शवादी दृष्टिकोण मिलता है और कहानी का ढाँचा बिलकुल इतिवृत्तात्मक रहा है। इन कहानियों में भारत की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि समस्याओं का चित्रण होने के कारण कथानक में विस्तार मिलता है। 'पंच-परमेश्वर', 'बड़े घर की बेटी', 'आत्माराम', 'बूढ़ी काकी', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'पंडित मोटेराम शास्त्री की डायरी', 'कुसुम' आदि कहानियों में उनकी कहानी-कला का आदर्श दिखाई पड़ता है।

प्रेमचंद की कहानियों के साथ-साथ प्रसादजी की भावपूर्ण कहानियाँ प्रकाशित हो रही थीं। प्रसादजी प्रकृति से कवि थे। इसलिए उनकी कहानियों में भी करुणा, सौन्दर्य, प्रेम, आनन्द आदि का दर्शन मिलता है। प्रसादजी का जीवन-दर्शन ही भिन्न था। इसलिए उनकी कहानियों में जीवन की दार्शनिकता और काव्यात्मकता का पूरा दर्शन होता है। उन्होंने अपनी कहानियों द्वारा चरित्र-प्रधान तथा वातावरण-प्रधान कहानियों की परम्परा आगे बढ़ाई। उनकी कहानियों में कथातत्व की अपेक्षा काव्यतत्व की मात्रा अधिक होने के कारण बीच-बीच में गद्य-काव्य की मधुरिमा का दर्शन मिलता है। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने प्रसादजी की कहानियों का मूल्यांकन इस प्रकार किया है—

**"'प्रसाद' की कहानियों में वातावरण का चित्रण 'विशुद्ध' कहानी के लिए कुछ अधिक हो जाता है, किन्तु अतीत के वे कल्पना-चित्र विशुद्ध कहानी हैं भी नहीं। 'प्रसाद' की कहानियों में 'कहानी' की अपेक्षा वस्तु-अंकन की प्रवृत्ति अधिक है, जिसके कारण उनकी कहानियों में आवश्यक गत्वरता नहीं आ सकी है। अतीत को सजीव करने की चिन्ता में प्रसाद घटना-सूत्र के साथ शीघ्र गति से आगे नहीं बढ़ते, पाठकों को बिलमाते चलते हैं। उनकी कहानियाँ, इसलिए, काव्यत्व के साथ उपस्थित होती हैं।"[१]**

प्रसादजी के कहानी-साहित्य का विस्तार आधुनिक हिन्दी कहानी के जन्मकाल से सन् १९३७ तक है। इसलिए उनकी कहानियों में विकास की विविध प्रणालियाँ मिलती हैं। उनकी प्रारम्भिक कहानियाँ केवल भाव-कथाओं के रूप में उपस्थित हुई हैं। प्रसादजी बौद्ध और शैवमत द्वारा प्रभावित हैं, तथा भारत की संस्कृति से बहुत प्रेम रखते हैं। इसलिए उनकी कहानियों में स्नेह, दया, करुणा, त्याग आदि मानवोचित भावनाओं का चित्रण हुआ है।

इस काल-विभाग में प्रसादजी के 'छाया' (१९१२), और 'प्रतिध्वनि' (१९२६), शीर्षक दो कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए। इन संग्रहों की अधिकतर कहानियों में भावुकता दिखाई देती है। प्रसादजी की सौन्दर्यवादी प्रवृत्ति का दर्शन इन कहानियों में दिखाई देता है। इनमें 'प्रतिध्वनि' संग्रह की 'प्रतिभा' (१९२१), 'खंडहर की लिपि' (१९२१), 'उस पार का योगी' (१९२१), 'अघोरी का मोह' (१९२२), 'चक्रवर्ती का स्तंभ' (१९२२), 'प्रसाद' (१९२५), आदि महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं। इनमें बीच-बीच में गद्यगीत मिलते हैं और इसी कारण 'गीतांजलि' की गीत शैली का दर्शन इन कहानियों

---

१. नन्ददुलारे बाजपेयी : 'आधुनिक साहित्य' प्र० सं०, सं० २००७, पृ० १९८।

में मिलता है। उनकी 'प्रसाद' शीर्षक कहानी इस शैली का पूर्ण परिचय दे सकती है। उनकी 'प्रतिमा' कहानी में भी निम्नलिखित गद्य-गीत मिलता है:—

**"मैं अनन्त काल तक तरंगों का आघात, वर्षा, पवन, धूप, धूल से तथा मनुष्यों के अपमान-श्लाघा से बचने के लिये गिरिगर्भ में छिपा पड़ा रहा, मूर्ति मेरी थी या स्वयं मूर्ति था, यह संबंध व्यक्त नहीं था। निष्ठुर लौह-अस्त्र से जब काटकर मैं अलग किया गया तब किसी प्राण ने अपनी समस्त सहृदयता मुझे अर्पण की, उसकी चेतावनी मेरे पाषाण में मिली, प्रतिभा सजीव हुई, जब तक यह भाव, यह कोमल विश्वास, आत्मानुभव की तीव्र वेदना यह सब मुझे मिलते रहे, मुझमें विभ्रम था, विलास था, शक्ति थी। अब तो पुजारी भी वेतन पाता है और मैं भी उसी के अवशिष्ट से अपना निर्वाह......"[१]**

इस प्रकार के गद्य-गीतों द्वारा कहानी में काव्यात्मकता आती है और उसका कथानक वास्तविकता से दूर भागता हुआ दिखाई देता है। परन्तु इस प्रकार के काव्यात्मक वातावरण में पाठक को मुग्ध करने की शक्ति होती है। प्रसाद जी की कहानियों के बारे में डा० श्रीकृष्ण लाल ने इस प्रकार लिखा है:—

**"कवित्वपूर्ण वातावरण, कवित्वपूर्ण भावना और नाटकीय तथा आदर्शवादी परिस्थितियों की सृष्टि करने में जयशंकर प्रसाद अद्वितीय हैं, उनकी कला कवित्व-पूर्ण और स्वच्छन्दवादी है।"[२]**

'प्रतिध्वनि' संग्रह की कहानियों में उनकी कवित्वपूर्ण तथा स्वच्छंदवादी प्रकृति का आभास मिलता है। इन कहानियों में कथानक का विकास नहीं मिलता। किसी घटना या विषय का विश्लेषण इन कहानियों में हुआ है। कवि-हृदय की भावधारा का माधुर्य सर्वत्र दिखाई देता है। कुछ ऐसा भी कहा जा सकता है कि 'छाया' संग्रह की कहानियाँ कथा-प्रधान थीं, और उनकी विकसित परंपरा का रूप 'प्रतिध्वनि' कहानी-संग्रह की कहानियों में भाव-प्रधान हुआ है।

प्रेमचंदजी और प्रसादजी की कहानियों द्वारा हिन्दी कहानी-साहित्य को एक विकसित परंपरा मिली और उसमें अनेक नव्यतर प्रवृत्तियों का दर्शन होने लगा। इन दो महान् कलाकारों का स्थान हिन्दी कहानी-साहित्य में महत्वपूर्ण है। इनकी कहानियाँ तत्कालीन समस्याओं से प्रभावित रही हैं परन्तु जीवन की ओर देखने का दृष्टिकोण उनमें अलग-अलग होने के कारण उनकी कहानियों का रचना-विधान, भाषा आदि के बारे में भेद दिखाई पड़ता है। फिर इन लेखकों की शैली पर कहानियाँ

---

१. जयशंकर प्रसाद: 'प्रतिध्वनि', सं० २००२, पृ० ६१-६२।

२. सं० डा० श्रीकृष्णलाल: 'हिन्दी कहानियाँ', चतुर्थ संस्करण, १९४९

लिखने वाले लेखक हैं जिन्होंने अपनी कहानियों द्वारा हिन्दी कहानी-साहित्य को समृद्ध किया है।

प्रेमचंदजी एक यथार्थवादी कलाकार थे और वे अपनी कहानियों द्वारा समाज में नये नये आदर्शों की स्थापना करना चाहते थे। इसलिये उन्होंने अपनी कहानियों में ग्रामीण जीवन को महत्वपूर्ण स्थान देकर ग्राम्य-जीवन की आशा-आकांक्षाओं को चित्रित किया। उन्होंने अपनी कहानियों के पात्रों का मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण करके मनुष्य की विविध मानसिक अवस्थाओं के रहस्यों को खोल दिया। उनकी कहानियों में तत्कालीन जीवन का चित्र उपस्थित हुआ है।

प्रेमचंदजी ने जिस आदर्श को सामने रखकर कहानियाँ लिखीं उनका अनुकरण पं० गोविंदवल्लभ पंत, सुदर्शन, 'कौशिक' आदि लेखकों ने किया और अनेक कहानियाँ लिखीं।

प्रसाद जी स्वच्छन्दवादी कलाकार थे और उन्होंने प्रेम का संघर्ष चित्रित करने वाली अनेक कहानियों का निर्माण किया। उनकी हरएक कहानी में कवि-हृदय की भावुक धारा का प्रवाह दिखाई पड़ता है। उन्होंने अपनी कहानियों में जीवन की भावपूर्ण प्रवृत्तियों को चित्रित कर प्रेम के अनेक आदर्शों पर भी प्रकाश डाला। उनकी कहानी-कला का अनुकरण करने वालों में चतुरसेन शास्त्री, राय कृष्णदास, विनोदशंकर व्यास, पाण्डेय बेचन शर्मा आदि मुख्य हैं। इस प्रकार प्रसादजी की कहानी-शैली का विकास इन लेखकों की कहानियों में दिखाई पड़ने लगा।

प्रेमचंद जी के यथार्थवादी दृष्टिकोण को लेकर विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने 'ताई' (१९२०), 'शान्ति' (१९२०), 'पगली' (१९२१), 'पत्नी' (१९२३), 'पुरस्कार' (१९२८), 'काकी' (१९३०), 'न्याय' आदि कहानियाँ लिखीं। उनकी प्रथम कहानी 'रक्षाबंधन' है जिसमें उनकी कहानी-कला का प्रारंभिक रूप मिलता है। परन्तु उनकी 'ताई' शीर्षक कहानी के कारण उन्हें हिन्दी कहानी-साहित्य में एक महत्वपूर्ण स्थान मिला है। प्रेमचंद जी के समान अपने पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्र खींचने में वे सिद्धहस्त थे। उन्होंने 'ताई' शीर्षक कहानी में 'रामेश्वरी' पात्र का चित्र बहुत ही कलात्मक ढंग से उपस्थित किया है।

**"यद्यपि रामेश्वरी को माता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था, तथापि उनका हृदय एक माता का हृदय बनने की पूरी योग्यता रखता था। उनके हृदय में वे गुण विद्यमान तथा अंतर्निहित थे, जो एक माता के हृदय में होते हैं परन्तु उनका विकास नहीं हुआ था। उनका हृदय उस भूमि की तरह था, जिसमें बीज तो पड़ा हुआ है, पर उसको सींचकर और इस प्रकार बीज को प्रस्फुटित करके भूमि के ऊपर लानेवाला कोई नहीं। इसीलिए उनका हृदय उन बच्चों की ओर खिंचता**

**तो था, परन्तु जब उन्हें ध्यान आता था कि ये बच्चे मेरे नहीं, दूसरे के हैं, तब उनके प्रति द्वेष उत्पन्न होता था, घृणा पैदा होती थी।"[1]**

उन्होंने रामेश्वरी के मातृत्व-भाव का जो मनोवैज्ञानिक चित्र खींचा है वह अत्यंत भावपूर्ण तथा मानवीय है। उसके चरित्र के एक मनोवैज्ञानिक सत्य को लेकर उसकी मानसिक अवस्था का विश्लेषण किया है जिसकी भित्ति पर कहानी की कथा-वस्तु का विस्तार हुआ है। 'कौशिक' जी ने अपनी कहानियों में तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्रण करके अपने पाठकों को यह भी दिखाया कि मनुष्य अपने सामने विशेष आदर्श रखकर ही अपनी सफलता में सुख और समाधान पाता है।

'प्रेमचंद' जी के समान 'सुदर्शन' जी भी उर्दू से हिन्दी में आए और उन्होंने 'कवि की स्त्री' (१९२३), 'हार की जीत' (१९२५), 'सदासुख' (१९२९-३०), 'एथेन्स का सत्यार्थी' (१९३१), 'सूरदास' (१९३१), 'संसार की सबसे पहली कहानी' (१९३३) आदि कहानियाँ लिखकर प्रेमचंद की यथार्थोन्मुख आदर्शवादी कहानियों की परंपरा को आगे बढ़ाया। 'हार की जीत' में बाबा भारती का जो चित्र खींचा है वह बहुत ही मनोवैज्ञानिक है। उनकी 'अँधेरी दुनिया' में स्त्री-हृदय का भावपूर्ण चित्र इस रूप में उपस्थित हुआ है:—

**"स्त्री की कई स्थितियाँ हैं। वह बेटी है, बहन है, स्त्री है। परन्तु जो प्रेम उसमें माँ बन कर उत्पन्न होता है उसकी उपमा इस नश्वर संसार में न मिलेगी। मुझे माता-पिता से प्रेम था, पति पर श्रद्धा। उनको देखने के लिए मैं कभी-कभी अधीर हो उठती थी। परन्तु उस अधीरता की इस नई अधीरता के साथ कोई तुलना न थी, जो अपने बच्चे का मुख चूमते समय, उसकी आँखों पर हाथ फेरते समय, उसे हृदय से लगाते समय, मेरे नारी-हृदय में उत्पन्न हो जाती थी।"[2]**

इसमें एक स्त्री द्वारा नारी के मातृ-हृदय का जो विश्लेषण किया गया है वह मनोवैज्ञानिक है। उनकी अधिकतर कहानियाँ मानव-जीवन की दैनिक परिस्थितियों का विश्लेषण करती हैं और उनमें वातावरण का गांभीर्य, चरित्रों का आत्मविश्लेषण आदि बातें मिलती हैं।

प्रसादजी की भावधारा का परिचय चतुरसेन शास्त्री की 'जीजाजी' (१९२३), 'खूनी' (१९२४), 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' (१९२७) आदि कहानियों में

---

१. सं० डा० श्रीकृष्ण लाल: 'श्रेष्ठ कहानियाँ', चतुर्थ संस्करण, १९४९, 'ताई' शीर्षक कहानी, पृ० ६२।

२. सं० विजयशंकर मल्ल: 'आधुनिक कहानियाँ', प्रथम संस्करण १९५२, पृ० ६६।

मिलता है। उनकी कहानी-कला का आदर्श 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' शीर्षक कहानी में दिखाई पड़ता है।

'कला के लिए कला' का साहित्यिक आदर्श सामने रखकर राय कृष्णदास ने अपनी कहानियों की सृष्टि की। उनकी कहानियों में 'रमणी का रहस्य', 'प्रसन्नता की प्राप्ति', 'अन्तःपुर का आरंभ', 'माँ की आत्मा', 'गहुला' आदि कहानियाँ महत्व-पूर्ण हैं। उनकी कहानियों के चरित्रों का निर्माण बहुत ही भावुकता के साथ हुआ है।

चंडीप्रसाद 'हृदयेश' ने अपनी पांडित्यपूर्ण तथा चमत्कारपूर्ण शैली में 'साधना' (१९२१), 'करुण कथा' (१९२४), 'प्रायश्चित' (१९२५), 'समर्पण' (१९२६) आदि गिनी-चुनी कहानियाँ लिखी हैं। संस्कृत के गद्य की परंपरा का दर्शन उनकी कहानियों में मिलता है। उनकी कहानियों का निर्माण काव्यात्मक वातावरण में हुआ है और उसमें प्रकृति-चित्रण की सौन्दर्यवादी भावधारा का दर्शन मिलता है। उनकी 'उन्मादिनी', 'शान्ति निकेतन', 'पर्यवसान' आदि कहानियाँ हैं। 'पर्यवसान' कहानी का अन्त जयशंकर प्रसाद जी की 'समुद्र संतरण' कहानी से मेल खाता है:—

**'समुद्र संतरण' शीर्षक कहानी का अंत:—**

> **"धीवर बाला ने कहा—आओगे ?**
>
> **लहरों को चीरते हुए सुदर्शन ने पूछा—कहाँ ले चलोगी ?**
>
> **पृथ्वी से दूर जल-राज्य में, जहाँ कठोरता नहीं केवल शीतल, कोमल और तरल अलिंगन है, प्रवंचना नहीं सीधा आत्मविश्वास है, वैभव नहीं सरल सौन्दर्य है।"[१]**

**'पर्यवसान' शीर्षक कहानी का अन्त:—**

> **"तापस कुमार—अच्छा रत्नमाले, वहीं जाता हूँ, जहाँ प्रेम का अक्षय साम्राज्य है, जहाँ रस का अविरल स्रोत प्रवाहित होता है, जहाँ विच्छेद का भय नहीं, व्यथा की आशंका नहीं, जहाँ मेरे हृदय की अधीश्वरी राजकुमारी जयन्ती के मधुर हास्य का प्रोज्ज्वल प्रकाश है, वहीं जाता हूँ रत्नमाले।"[२]**

इस काल में वृन्दावन लाल वर्मा ने अपनी 'राखीबंद भाई' (१९१०), 'सफे-जिस्ट की पत्नी' (१९१४) आदि महत्वपूर्ण कहानियाँ लिखीं। उनकी 'शरणागत' (१९३०) कहानी बहुत प्रसिद्ध है। उनकी अधिकतर कहानियाँ ऐतिहासिक हैं। उनकी कहानियों में एक निश्चित उद्देश्य रहता है और उसकी व्याख्या जीवन के किसी महान् आदर्श के द्वारा की जाती है।

सन् १९१० से सन् १९२७ तक प्रकाशित कहानियों में विकासक्रम की अनेक

---

**१—जयशंकर प्रसाद: 'आकाशदीप', तृ० सं० २००२ वि० पृ० ११६।**

**२—चंडीप्रसाद: 'हृदयेश' कृत 'पर्यवसान' कहानी से।**

सीढ़ियाँ मिलती हैं और उन्हें शुद्ध तथा कलात्मक रूप मिलता रहा है। 'सरस्वती' तथा 'इन्दु' पत्रिकाओं के द्वारा कहानी-साहित्य का संवर्धन हुआ और अनेक मौलिक, अनूदित तथा रूपांतरित कहानियों का प्रकाशन हुआ। आधुनिक कहानी का आरंभ 'जयशंकर प्रसाद', कुमार राधिकारमण सिंह, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचंद आदि लेखकों की कहानियों द्वारा हुआ और उनमें यथार्थवादी जीवन का चित्रण होने लगा। इन यथार्थवादी कहानियों में आदर्शवाद की स्थापना प्रेमचंद द्वारा हुई और उनमें भाव-पक्ष को प्रस्थापित करने का कार्य जयशंकर प्रसाद और 'हृदयेश' जी की कहानियों द्वारा हुआ।

हिन्दी की प्रारंभिक कहानियों में दैवी-घटना तथा संयोग को महत्वपूर्ण स्थान मिला था और घटनाओं के आधार पर पात्रों के चरित्र में परिवर्तन के गुण दिखाए जाते थे। परन्तु प्रेमचंद की कहानियों द्वारा पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डाला गया और चरित्र-प्रधान कहानियों की परंपरा का प्रारंभ हुआ। प्रेमचंद ने मानव जीवन पर प्रकाश डालकर उनके रहस्यों को पाठकों के सामने उपस्थित किया। इसलिये घटना-प्रधान कहानी के स्थान पर चरित्र-प्रधान कहानियों की परंपरा आगे बढ़ने लगी। प्रसाद जी ने अपनी काव्यात्मक कहानियों द्वारा जीवन के सौन्दर्य पक्ष का चित्र उपस्थित कर अपने पात्रों में प्रेम, दया, स्नेह, त्याग, करुणा आदि मानवीय भावनाओं का आदर्श रूप चित्रित किया। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, सुदर्शन आदि की कहानियों द्वारा वातावरण-प्रधान तथा कार्य-प्रधान कहानियों की परंपरा का सूत्रपात हुआ। प्रेमचंद की चरित्र-प्रधान कहानी की शैली का प्रभाव इस काल की कहानियों पर पड़ा है। चरित्र-प्रधान कहानी की विकसित परंपरा मनोवैज्ञानिक कहानियों में मिलती है, इसलिए प्रेमचंद का स्थान इस काल के कहानीकारों में सर्वोच्च है।

कहानी की भाषा, देशकाल का चित्रण, शैली आदि में परिवर्तन के लक्षण दिखाई देते हैं और कहानी के धरातल का आदर्श बदलता जा रहा है। हरएक कहानीकार अपनी प्रकृति के अनुसार अपनी कहानी में भाषा, उद्देश्य, शैली आदि में नवीनता का रूप दिखाता है। प्रेमचंदजी ने भारत की तत्कालीन समस्याओं का चित्रण करके उनके सुधार के मार्ग भी बतलाये हैं। प्रसादजी ने अपनी सौन्दर्य-भावना के द्वारा भावुक-हृदय की आत्मा का विश्लेषण करके प्रेम का आदर्श रूप अपने पाठकों के सामने रखा है। प्रेमचंद और प्रसादजी की कहानी-कला की विकसित परंपरा को सहयोग देने का कार्य 'कौशिक', 'सुदर्शन', 'राय कृष्णदास', 'चतुरसेन शास्त्री', 'चंडीप्रसाद 'हृदयेश', पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', 'विनोद शंकर व्यास' आदि की घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, वातावरण प्रधान और कार्य-प्रधान कहानियों द्वारा हुआ। इस काल की कहानियों की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है कि उनमें पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की परंपरा का सूत्रपात हुआ और उसका विकसित रूप भविष्य की कहानियों में दिखाई देने लगा।

इस काल की कहानियों के रचना-विधान में अनेक परिवर्तन हुए हैं और कहानी का विषय, उद्देश्य आदि में नवीनता दिखाई देती है। सन् १९१० तक कहानी का अपना कोई स्वतंत्र रचना-विधान या शैली नहीं थी और उसका रूप बँगला कहानी के प्रभाव से बदलता रहा। परन्तु इस काल में कहानी एक विकसित परंपरा में आगे बढ़ती हुई दिखाई देती है। इस काल की अधिकतर कहानियाँ घटना-प्रधान और चरित्र-प्रधान हैं उनमें मनुष्य जीवन का यथार्थ चित्र खींचने का प्रयत्न किया गया है।

प्रसाद और प्रेमचंद जी द्वारा विविध प्रकार की कहानियाँ लिखी गईं और चरित्र-प्रधान कहानियों का सूत्रपात प्रेमचंद द्वारा हुआ। घटना-प्रधान कहानियों की संख्या कम होने लगी और चरित्र-प्रधान कहानियों में पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने की परंपरा आगे बढ़ी तथा नए-नए कहानीकार आगे आए और अपनी कहानियों द्वारा हिन्दी कहानी-साहित्य को समृद्ध किया।

### विकास-काल (सन् १९२७ से सन् १९३७ ई० तक)

हिन्दी कहानी-साहित्य का यह काल-विभाग प्रेमचंद तथा प्रसादजी की कहानियों से सीमित है। इन दो लेखकों की अन्तिम कहानियाँ इस काल विभाग में प्रकाशित हुई हैं। उसी तरह उनके अलावा प्रतापनारायण श्रीवास्तव, भगवती प्रसाद वाजपेयी, भगवती चरण वर्मा, जैनेंद्र, इलाचन्द्र जोशी, 'अज्ञेय' आदि की भी कहानियाँ इस काल में प्रकाशित हुई हैं। इनमें भी अधिकतर कहानियाँ उन नए लेखकों की प्रारंभिक कृतियाँ हैं। इसलिये इनमें उनकी कहानी-कला का विकसित रूप नहीं दिखाई देता। निर्माण-काल में चरित्र-प्रधान कहानियों की संख्या अधिक मिलती है। अब मनोवैज्ञानिक कहानियों का युग आरंभ हुआ है और उनमें प्रेमचंद तथा प्रसादजी की कहानियाँ भी अपना विशेष स्थान रखती हैं।

इस काल में प्रेमचंदजी अपनी कहानी-कला की चरम सीमा पर आये हैं। उनके आदर्शवादी दृष्टिकोण में परिवर्तन होने लगा और वे यथार्थवाद की पृष्ठभूमि पर अपनी कहानियों की रचना करने लगे। इस काल में उनकी 'मोटेराम शास्त्री' (१९२८), 'मजहबी पागलपन' (१९२८), 'अलग्योझा' (१९२९), 'स्वप्न' (१९३०), 'कफन' (१९३६) आदि कहानियों में उनकी कहानी-कला का चरम आदर्श मिलता है। प्रेमचंद ने इन कहानियों में जीवन का वास्तविक चित्र खींचकर मनुष्य के जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर पहलू का विश्लेषण करने के लिए मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का सहारा लिया, इसलिए इन कहानियों में चरित्र-प्रधान कहानियों की संख्या अधिक मिलती है और उनके पात्रों के मानसिक भावों का मनोवैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण हुआ है।

इस काल में प्रसादजी की अन्तिम कहानियाँ लिखी गईं और उनकी कहानियों के 'आकाश-दीप' (१९२९), 'आँधी' (१९३१) और 'इन्द्रजाल' (१९३६), शीर्षक

कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए। प्रसादजी की कहानियों के ये तीन कहानी-संग्रह उनकी कहानी-कला के अलग-अलग आदर्श उपस्थित करते हैं।

'आकाश दीप' कहानी-संग्रह की 'आकाश दीप', 'ममता', 'समुद्र-संतरण', 'देवदासी', 'बिसाती' आदि कहानियाँ उच्च कोटि की हैं और उनमें 'प्रेम' और 'कर्तव्य' का संघर्ष दिखाया गया है। इस दृष्टि से 'आकाश दीप' कहानी अत्यंत उच्च कोटि की है। इस कहानी की नायिका चम्पा बुद्धगुप्त को प्यार करती है, परन्तु बुद्धगुप्त से उसके पिता की हत्या की गई थी। इसलिए वह उससे घृणा भी करती है। वह बुद्धगुप्त से कहती है:—

**"मैं तुम्हें घृणा करती हूँ फिर भी तुम्हारे लिये मर सकती हूँ। अन्धेर है जलदस्यु! तुम्हें प्यार करती हूँ।"[1]**

इस प्रकार भावात्मक कहानियों का सुन्दर विकास इन कहानियों में हुआ है। इनमें सर्वत्र स्वच्छन्द वातावरण, भावुक पात्रों की काल्पनिक भाव-प्रवणता तथा समस्या का विश्लेषण, उनके घात-प्रतिघात आदि का विश्लेषण मिलता है। इनमें अधिकतर कहानियाँ संवेदात्मक हैं और उनमें विशुद्ध रूप का चित्रण हुआ है। 'बनजारा' कहानी में एक गद्य-गीत के रूप में एक युवक की भावुकता का दर्शन इस प्रकार हुआ है:—

**"मैं बार-बार लाभ की आशा से लादने जाता हूँ; परन्तु हे उस जंगल की हरियाली में अपने यौवन को छिपाने वाली कोलकुमारी! तुम्हारी वस्तु बड़ी महँगी है! मेरी सब पूंजी भी उसको क्रय करने के लिये पर्याप्त नहीं। पूंजी बढ़ाने के लिये व्यापार करता हूँ, एक दिन धनी होकर आऊँगा; परन्तु विश्वास है कि तब भी तुम्हारे सामने रंक ही रह जाऊँगा!"[2]**

इसी प्रकार प्रसादजी ने 'बिसाती' कहानी में प्रेम की भावुकतापूर्ण मनोवृत्ति का अनुपम चित्र उपस्थित किया है। पात्रों के आन्तरिक भावों का विश्लेषण करने में प्रसादजी का कौशल अद्भुत है। इसलिए उनकी कहानियों में काव्यात्मक वातावरण की मधुरिमा सर्वत्र मिलती है। प्रकृति का काव्यात्मक वर्णन, संवादों की सांकेतिक भाषा, प्रेम की विविध वृत्तियों का विश्लेषण, वातावरण की गंभीरता और गूढ़-गुंजनात्मक आत्मानुभूति की संवेदना की कलात्मकता के कारण इस संग्रह की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं।

'आंधी' और 'इन्द्रजाल' कहानी-संग्रहों की कहानियाँ यथार्थ की भावभूमि पर चित्रित की है। इन कहानियों का कथानक कुछ विस्तृत तथा यथार्थवादी है। उनमें जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश डालकर उनकी मार्मिक व्याख्या की गई है। प्रसाद-जी ने 'मधुआ' तथा 'बेडी' शीर्षक कहानियों में जीवनके यथार्थ चित्रण द्वारा अपनी कहानी

---

१. जयशंकर प्रसाद : 'आकाशदीप तृ० सं० २००२ पृ० १३
२. " " : " " " " पृ० १२४

कला का आदर्श दिखाया है। 'सालवती' कहानी का विस्तार बहुत हुआ है। फिर भी कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण, देश-काल का वर्णन आदि की दृष्टि से इन संग्रहों की कहानियाँ महत्वपूर्ण हैं। 'गुंडा' और 'इन्द्रजाल' शीर्षक कहानियों में प्रसादजी की कहानी-कला का निखरा हुआ रूप दिखाई देता है।

प्रेमचंद और जयशंकर प्रसाद की परंपरा को आगे बढ़ाने का कार्य अनेक कहानी-कारों ने किया और इससे हिन्दी का कहानी-साहित्य समृद्ध हुआ है। प्रेमचंद जी ने जिन आदर्शों को सामने रखकर कहानियों का निर्माण किया उनकी परंपरा की विकसित धारा अनेक नव्यतर प्रवृत्तियों के साथ आगे बढ़ायी और नवीन प्रकार की कहानियाँ सामने आने लगीं।

सन् १९३० के आसपास का काल भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण है। इस काल में देश की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों में ऐसे परिवर्तन होने लगे कि समाज का रूप बदलने लगा और पाश्चात्य शिक्षा तथा सभ्यता के प्रचार के कारण व्यक्ति के जीवन में भी अनेक समस्याओं का निर्माण हुआ। उनका प्रभाव तत्कालीन साहित्य में भी दिखाई देने लगा। इस काल की कहानियों में राष्ट्रीय-भावना, गांधीवाद, स्त्री-भावना आदि पर भी विचार होने लगा। मनोविज्ञान-शास्त्र की प्रगति होने के कारण कहानीकार मनुष्य की मानसिक अवस्थाओं का चित्रण मनोवैज्ञानिक ढंग से करने लगे और धीरे-धीरे कहानी का आदर्श मनोवैज्ञानिक हुआ और चरित्र-प्रधान कहानियों का युग पुराना हुआ। इस तरह जैनेंद्रकुमार, इलाचंद्र जोशी, 'अज्ञेय' आदि की मनोवैज्ञानिक कहानियाँ सामने आने लगीं। इसी प्रकार चंद्रगुप्त विद्यालंकार, 'निराला', भगवती चरण वर्मा, सियाराम शरण गुप्त, कमलाकान्त वर्मा, कमला देवी चौधरी, श्रीमती होमवती, ऋषभचरण जैन आदि लेखकों ने भी विविध प्रकार की कहानियाँ लिखीं।

'निराला' और 'सुदर्शन' ने अनेक कहानियाँ लिखकर तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों का चित्रण पाठकों के सामने उपस्थित किया। प्रेमचंदजी ने अपनी कहानियों द्वारा ग्रामीण जीवन की जिन समस्याओं का चित्रण किया था उनकी परंपरा का विकसित रूप 'निराला' की कहानियों में भी मिलता है। 'निरालाजी' ने 'स्त्री-शिक्षा', 'विधवा-विवाह', 'अन्तर्जातीय-विवाह' आदि की समस्याओं को लेकर 'ज्योतिर्मयी', 'श्यामा', 'प्रेमिका-परिचय', 'हिरनी', 'चतुरी चमार' आदि कहानियाँ लिखीं। उनकी कहानियाँ अपढ़ तथा शिक्षित जनता की अनेक सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डालती हैं। सुदर्शन की अधिकतर कहानियाँ नैतिक शिक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने अपनी उद्देश्य-प्रधान कहानियों द्वारा जीवन के मानवीय सत्यों का उद्घाटन करके मनुष्य में उदात्त भावनाओं को जगाने का कार्य किया।

प्रेमचंद के समान उनकी कहानियों में जीवन की व्यापकता का दर्शन नहीं दिखाई देता परन्तु भाषा तथा रचना-विधान का चातुर्य उनकी कहानियों में मिलता है।

बेचन शर्मा 'उग्र' ने हिन्दु-मुस्लिम-एकता, त्याग, देशप्रेम आदि राजनीतिक विषयों को लेकर अपनी कहानियों द्वारा समाज में फैली हुई कुरीतियों, भ्रष्टाचारों का चित्रण बहुत ही सचाई के साथ किया। पूंजीवादी सामन्तशाही के विरुद्ध इनके मन में इतना आक्रोश है कि उनकी कहानियों की भाव धारा एक विशेष प्रकार की क्रान्ति करने की प्रेरणा देती है। उनकी 'जल्लाद', 'देशभक्त' आदि कहानियाँ महत्वपूर्ण हैं। भारत की सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं का प्रभाव नए लेखकों पर कैसा पड़ रहा है इसका उदाहरण उनकी 'देशभक्त' शीर्षक कहानी द्वारा उपस्थित किया जा सकता है। इस कहानी का अन्त तत्कालीन देशभक्त की देशसेवा का मूल्यांकन इस रूप में प्रस्तुत करती है:—

**"देव मंडल के बीच में बैठी हुई माता मनुष्यता की गोद में बैठकर देश भक्त ने और साथ ही त्रिशंकोटि देवताओं ने देखा, पंचतत्व के एक पुतले को अत्याचार के उपासकों ने तोप से उड़ा दिया !**

**उस पुतले के एक-एक कण को देवताओं ने मणि की तरह लूट लिया, बहुत देर तक देवलोक 'देशभक्त की जय !' से मुखरित रहा !"[१]**

भाषा की जिन्दादिली का आदर्श भगवतीचरण वर्मा की कहानियों में मिलता है। 'इन्स्टालमेण्ट' संग्रह की कहानियों में उच्च कोटि का व्यंग्य मिलता है। 'दो बांके' कहानी संग्रह की 'दो बांके' कहानी में झूठा ज्ञान और निरे ढोंग का व्यंग्यपूर्ण चित्र उपस्थित किया गया है। इसमें लखनऊ शहर का जो स्वाभाविक वर्णन मिलता है उसमें वर्माजी की स्थानीय रंग भरने की कला का परिचय मिलता है। इस कहानी में वर्माजी शोहदों के बारे में लिखते हैं:—

**"हाँ तो लखनऊ शहर में रईस हैं, तवायफें हैं और इन दोनों के साथ शोहदे भी हैं। बकौल लखनऊ वालों के, ये शोहदे ऐसे-वैसे नहीं हैं। ये लखनऊ की नाक हैं। लखनऊ की सारी बहादुरी के ये ठेकेदार हैं और ये जान लेने तथा जान दे देने पर आमादा रहते हैं। अगर लखनऊ से ये शोहदे हटा दिये जायँ, तो लोगों का यह कहना 'अजी लखनऊ तो जनानों का शहर है,' सोलह आने सच्चा उतर जाय। जनाब, इन्हीं शोहदों को लखनऊ वाले 'बाँके' कहते हैं।"**

वर्मा जी अपनी कहानियों का प्रारंभ एक विशिष्ट शैली में करते हैं और कहानी का उद्देश्य और विषय के बारे में भी संकेत देते हैं। उनकी कहानियों में चरित्र-चित्रण तथा कथानक दोनों पर ही समान दृष्टि रखी गई है।

---

१. सं० डा० श्रीकृष्णलाल, 'हिन्दी कहानियाँ' चतुर्थ संस्करण, १९४९, पृ० १५५।

मनोविज्ञान-शास्त्र की प्रगति होने के कारण उसका प्रभाव इस काल के कहानीकारों पर हुआ। इस युग में कहानी ने अपना कथा-तत्व त्याग कर पात्रों के चरित्र-चित्रण द्वारा उनकी व्यक्तिगत समस्याओं का उद्‌घाटन करना आरंभ किया और आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार स्त्री-पुरुषों के संबंधों की व्याख्या होने लगी। फ्रायड ने हमारी हरएक मनस्थिति का संबंध यौन-भावना से जोड़ा और उसे केन्द्र मान-कर नीति-अनीति की व्याख्याएँ कहानियों द्वारा उपस्थित होने लगीं। इसके साथ ही मार्क्स के अनुसार साहित्य के उद्देश्य की व्याख्याएँ होने लगीं और तत्कालीन कहानीकारों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कहानियों में जीवन-दर्शन के अलग-अलग रूप उपस्थित किये। इस प्रकार कहानियों में व्यक्तिगत या सामूहिक समस्याओं का संघर्ष दिखाने की प्रवृत्ति आरंभ हुई और कहानियों में अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण होने लगा।

प्रेमचंद ने अपनी कहानियों द्वारा मानव जीवन का वैज्ञानिक चित्र उपस्थित किया, पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने की परंपरा आरंभ की और उसको आगे ले जाने का कार्य जैनेंद्र, इलाचंद्र जोशी, 'अज्ञेय' आदि कहानीकारों ने अपनी रचनाओं द्वारा किया।

जैनेंद्र ने अपनी कहानियों द्वारा नारी जीवन के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालकर स्त्रियों की व्यक्तिगत समस्याओं का विश्लेषण किया है। उन्होंने मनोविज्ञान के आधार पर नारी की व्यक्तिगत तथा सामाजिक समस्याओं का अध्ययन करके उसकी उन्नति की दृष्टि से भी मार्ग बतलाये हैं। युग की माँग के अनुसार वे नारी का आदर्श रूप चित्रित करते हैं और उस समय उनके सामने नीति-अनीति का प्रश्न गौण हो जाता है। जैनेंद्र ने अपनी कहानियों में ऐसी नारियों का चित्र उपस्थित किया है जो समाज के नीति-बन्धनों को तोड़ कर आत्मनिर्णीत नीति के अनुसार अपने जीवन के प्रश्नों को सुलझाती हैं। उनकी 'रात' कहानी में ऐसी ही एक नारी का चित्र उपस्थित किया गया है। जैनेंद्र जी ने नारी के पत्नी रूप में देवर की आवश्यकता का संकेत 'भाभी' कहानी में इस प्रकार दिया है:—

**"भाभी को कोई देवर प्राप्त नहीं था और देवर स्त्री के जीवन में आवश्यक वस्तु है। एक देवर चाहिए, जिसको अवसर बनाकर, हंसी, खेल-कूद, प्रमोद-विनोद की स्त्री की चपल सुलभ आमोदात्मक वृत्तियाँ खिल-खिलाकर, तृप्ति लाभ करें। पति के साथ स्त्री एक उत्तरदायिनी, भारवाहिनी, कर्तव्य और अधिकारों की झंझटों के बीच प्रतिष्ठित, धीर, गंभीर गृहस्थिन है। जीवन का निर्द्वन्द्व आमोदमय अंश पति के साथ पूर्ण आत्मलाभ नहीं पाता, इसलिये भारतीय गार्हस्थ्य में देवर का विशिष्ट स्थान बन गया है। वह स्थान अपना अलग है। उसके बिना स्त्री के जीवन में एक अभाव विद्यमान रहता ही है।"[१]**

---

१. जैनेंद्र कुमार 'वातायन' कहानी-संग्रह से 'भाभी' कहानी, पृ० १८१।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट पता लगता है कि जैनेन्द्रजी नारी की व्यक्तिगत उन्नति की आकांक्षा रखकर ही उसकी समस्याओं को हल करना चाहते हैं। नारी के जीवन में देवर को स्थान मिलने पर उसके वैवाहिक जीवन पर कुछ भी असर नहीं पड़ता इसका विश्लेषण उनके 'त्यागपत्र' उपन्यास में इस प्रकार मिलता है—

**"विवाह की ग्रन्थि दो के बीच की ग्रन्थि नहीं है वह समाज के बीच की भी है। चाहने से ही क्या वह टूटती है? विवाह भावुकता का प्रश्न नहीं, व्यवस्था का प्रश्न है। वह प्रश्न क्या यों टाले टल सकता है? वह गाँठ है बंधी कि खुल नहीं सकती, टूटे तो टूट भले ही जाय। लेकिन टूटना कब किसका श्रेय है?"[१]**

जैनेन्द्र जी का नारी पर बहुत विश्वास है। जैनेन्द्र की दृष्टि से "पुरुष कुछ नहीं बनाता-बिगाड़ता, जो कुछ बनाती बिगाड़ती है, स्त्री ही।"[२] ऐसा लगता है जैनेन्द्र जी की दृष्टि में पुरुष की व्यक्तिगत उन्नति में नारी सब कुछ है। वह जो चाहे कर सकती है और समाज की बागडोर उसी के हाथ में है। जैनेन्द्र की नारी अपनी जिम्मेदारी का भी अनुभव करती है। जैनेन्द्र ने 'त्यागपत्र' के मृणाल द्वारा यह बात इस रूप में सामने उपस्थित की है। मृणाल कहती है—

**"मैं समाज को तोड़ना फोड़ना नहीं चाहती हूँ। समाज टूटा कि फिर हम किसके भीतर रहेंगे? या कि किसके भीतर बिगड़ेंगे? इसलिये मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलकांक्षा में खुद ही टूटती रहूँ।"[३]**

इस प्रकार नारी के बारे में जैनेन्द्र का अपना दर्शन है और उसी के अनुसार उनकी कहानियों में नारी-चित्रण हुआ है। उन पर गांधीवाद का भी प्रभाव है, परन्तु उनका व्यक्ति सर्वत्र एक दार्शनिक के रूप में दिखाई पड़ता है। 'खेल' (१९२८), 'अंध का भेद' (१९२९-३०), 'साधु का हठ' (१९३३), 'हत्या' (१९३३), 'एक रात' (१९३३), 'कुछ उलझन' (१९३६), 'पत्नी' (१९३६), 'चिड़िया की बच्ची' (१९३७) आदि कहानियों द्वारा उनकी कहानी-कला का अध्ययन किया जा सकता है।

जैनेन्द्र की कहानियों के पात्र जीवन की परिस्थितियों तथा वातावरण से असंतुष्ट हैं। उनके अधिकतर पात्र परिस्थितियों से लड़ते-झगड़ते हैं परन्तु उनकी विजय नहीं हो पाती। जैनेन्द्र के अधिकतर स्त्री-पात्रों में सहनशीलता, आत्मसमर्पण आदि का आदर्श दिखाया गया है परन्तु नारी के इन अच्छे गुणों को समझने वाले पुरुष कम दिखाई देते

---

१. जैनेंद्र कुमार: 'त्यागपत्र' प्रथम बार, १९३७, पृ० २२।
२. " 'परख तथा स्पर्धा' १९२९, पृ० ४०।
३. " 'त्यागपत्र' १९३७, पृ० ६०।

हैं। जैनेन्द्र की 'पत्नी' कहानी में 'सुनन्दा' पात्र का चरित्र-चित्रण बहुत ही मार्मिक ढंग से किया गया है। उनके पति 'कालिन्दी चरण' भारत माता की स्वतंत्रता की प्राप्ति के बारे में बहस करते हैं। परन्तु उन्होंने अपनी पत्नी को समझने की कोशिश कभी नहीं की। वे 'खाना कोई भी नहीं खायगा' कहकर अपने मित्र के साथ बाहर चले जाते हैं। परन्तु उन्होंने सुनन्दा के बारे में कुछ भी नहीं सोचा, परन्तु उसपर सुनन्दा को गुस्सा नहीं आता। जेनेन्द्र जी ने उसका स्त्री-सुलभ मार्मिक चित्र इस रूप में उपस्थित किया है—

**'हठात् यह उसके मन को लगता ही है कि देखो, उन्होंने एक बार भी नहीं पूछा कि तुम क्या खोओगी ? क्या मैं यह सह सकती थी कि मैं तो खाऊँ और उनके मित्र भूखे रहें, पर पूछ लेते तो क्या था ? इस बात पर उसका मन टूटता-सा रहा है। मानो उसका जो तनिक सा मन था, वह भी कुचल गया है, पर वह रह रह कर अपने को स्वयं अपमानित कर लेती हुई कहती है कि छिः छिः, सुनन्दा तुझे ऐसी जरासी बात का अब तक ख्याल होता है। तुझे तो खुश होना चाहिये कि उनके लिये एक रोज भूखे रहने का तुझे पुण्य मिला। मैं क्यों उन्हें नाराज करती हूँ। अब से नाराज न करूँगी; पर वह अपने तन की भी सुध तो नहीं रखते। यह ठीक नहीं है। मैं क्या करूँ?"[१]**

'सुनन्दा' का यह मनोवैज्ञानिक चित्र बहुत ही कलात्मक है और इसके द्वारा भारतीय नारी की मानसिक स्थिति का विश्लेषण किया गया है। भारतीय नारी का आदर्श सेवा-भाव ही है और उसे आत्म-समर्पण की साधना करनी पड़ती है जिसमें उसे कोई व्यक्तिगत लाभ नहीं है। दूसरे के लिये ही मर मिटना भारतीय स्त्रियों का आदर्श है और उसका विश्लेषण इस कहानी में हुआ है। इसमें 'सुनन्दा' के मन में जो अन्तर्द्वन्द्व दिखाया गया है इसमें जैनेन्द्रजी की कहानी-कला का आदर्श मिलता है।

प्रभाकर माचवे ने जैनेन्द्र के कथा-साहित्य का मूल्यांकन इस रूप में प्रस्तुत किया है—

**"हिन्दी के घटना-प्रधान कथा-साहित्य को पात्र-प्रधान बनाने का श्रेय जैनेंद्र जी को ही है। पात्र दो ही चार चुनकर उनके अन्तर्द्वन्द्वों में पैठने की शैली हिन्दी में अपने ढंग की एक ही है। उनके बाद के सभी कहानीकारों तथा उपन्यासकारों ने कम-अधिक परिमाण में उसे ग्रहण किया है।"[२]**

जैनेन्द्र की कहानियों का मूल्यांकन अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है। जैनेन्द्र ने मनुष्य के बाह्य तथा आन्तरिक जीवन की समस्याओं का विश्लेषण किया है

---

१. जैनेन्द्र कुमार . 'पत्नी' विशाल भारत, मार्च १९३६, पृ० १७७।

२. साहित्य संदेश, अक्टूबर, १९४५।

और मानस-शास्त्र के आधार पर मनुष्य के भाव जगत् की संवेदनाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बहुत ही सचाई के साथ किया है। परन्तु हरएक कहानी में उनका कलाकार असाधारण मनुष्य की भी मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया का विश्लेषण करता हुआ दिखाई देता है। उन्होंने हिन्दी कहानी का स्तर बहुत ऊँचा उठाया है। कहानी के बारे में उनका निर्णय इस प्रकार है—

**"कहानी तो भूख है जो निरंतर समाधान पाने की कोशिश करती है। हमारे सामने अपने सवाल होते हैं, शंकाएँ होती हैं और हमीं उनका उत्तर, उनका समाधान खोजने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। उदाहरणों और मिसालों की खोज होती रहती है। कहानी उस खोज के प्रयत्न का एक उदाहरण है। वह निश्चित उत्तर नहीं देती। पर यह अलबत्ता कहती है कि शायद उसे रास्ता मिले। वह सूचक होती है, कुछ सुझा देती है और पाठक अपने चिन्तन क्रिया के सहारे उस सूझ को ले लेते हैं।"[१]**

उपर्युक्त उद्धरण में जैनेन्द्र की कहानियों को समझने का सूत्र मिल सकता है। जैनेन्द्र ने अपनी कहानियों द्वारा एक नूतन प्रवृत्ति का प्रवेश हिन्दी कथा-साहित्य में कराया। प्रेमचंद ने चरित्र-प्रधान कहानियाँ लिखकर मनोवैज्ञानिक कहानियों की परम्परा का सूत्रपात किया। जैनेन्द्रजी ने प्रेमचंदजी की इस परम्परा को आगे बढ़ाकर पात्रों की व्यक्तिगत मानसिक अवस्थाओं का मनोवैज्ञानिक चित्रण करके मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को समझने का प्रयत्न किया। इसलिए उनकी कहानियों में कथातत्व की अपेक्षा पात्र-परिचय अधिक मिलता है और कहानी की मार्मिक तीक्ष्णता का अनुभव पाठक को होता है।

मनोवैज्ञानिक कहानियों में 'अज्ञेय' तथा 'इलाचन्द्र जोशी' की कहानियाँ महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। स्वभाव से कवि होने के कारण अज्ञेय की कहानियों में मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण के साथ कथा में भी भावपक्ष का दर्शन होता है। जैनेन्द्र के समान इनकी कहानियों की संख्या अधिक नहीं हैं परन्तु उनकी अधिकतर कहानियाँ विशुद्ध मनोवैज्ञानिक ढंग की हैं और उनमें व्यक्ति-चरित्र के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की परम्परा मिलती है। 'खेल' (१९२८), 'हारिति' (१९३३), 'अमरवल्लरी' (१९३३), 'पहाड़ी जीवन' (१९३४), 'कड़ियाँ' (१९३५), 'शान्ति हंसी थी' (१९३५), 'प्रतिध्वनियाँ' (१९३६), 'ताज की छाया में' (१९३६), 'नई कहानी का प्लाट' (१९३७), 'विपथगा' (१९३७), 'सिगनलर' (१९३७) आदि उनकी महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं।

'अज्ञेयजी' ने अनेक कष्ट झेलकर जो कुछ सीखा था उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया उनकी कहानियों में दिखाई देती है। उनकी हरएक कहानी में सामाजिक या राजनीतिक

---

१. 'जैनेंद्र के विचार'—पृ० २७३।

क्रान्ति की घोषणा स्पष्ट दिखाई देती है। उनका विद्रोही मन किसी न किसी अन्याय का प्रतिरोध करने की भावना रखता है।

उनका मन अतीत की घटनाओं में रमता हुआ दिखाई पड़ता है। इसलिए कहीं उन्हें ऐसी चीज मिल जाती है कि उसके द्वारा कहानी का एक ढाँचा तैयार हो जाता है और किसी चरित्र को केन्द्रबिन्दु मानकर उनकी कहानी का निर्माण होता है। 'पुलिस की सीटी' कहानी का निर्माण कुछ इसी रूप में हुआ है। इस कहानी का नायक केवल कहीं से सीटी की आवाज सुन कर बिलकुल निश्चेष्ट होकर सड़क पर खड़ा हो जाता है। 'अज्ञेय' जी ने उसका मनोवैज्ञानिक चित्र इस रूप में उपस्थित किया है—

**"सीटी फिर बजी।**

**"सत्य के हाथ-पैर काँपने लगे, टाँगें लड़खड़ा-सी गईं, उसे जान पड़ा, मानों अभी संसार अँधेरा हो जायेगा, पृथ्वी स्थानाच्युत हो जायगी—उसने सहारे के लिए हाथ आगे बढ़ाया। हाथ कुछ थाम नहीं सका। मुट्ठी भर उड़ती हुई हवा को अँगुलियों में से फिसल जाने देकर खाली ही रह गया, तब सत्य ने समझ लिया कि वह गिरेगा, गिरकर ही रहेगा। उसने आँखें बन्द कर लीं।"[1]**

कहानी का प्रारम्भ इस ढंग से करके 'सत्य' पात्र का मनोवैज्ञानिक चित्र बहुत ही कलात्मक ढंग से चित्रित किया है। उनकी हरएक कहानी के पात्र में उसके जीवन के बाह्य-संघर्ष की अपेक्षा अन्तःसंघर्ष का चित्रण मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है। पीड़ित तथा शोषत वर्ग की आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, आदि का मार्मिक तथा सहानुभूतिपूर्ण चित्रण इनकी कहानियों में हुआ है। उनकी कहानियों में उनका कवि-हृदय उनकी चारों ओर की वस्तुओं में आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, सुख-दुख आदि की छाया देखता है। इसी कारण उनकी कहानियों में कहानी की वैज्ञानिक प्रणाली का भाव-विश्लेषण मिलता है। उन्होंने समाज की राजनीतिक, आर्थिक आदि समस्याओं के रहस्य का अध्ययन मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है और इसी कारण उनकी कहानियों में उनकी दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है। उनकी कहानी कला की यह एक बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने देश-काल के अनुसार जीवन की विविध परिस्थितियों का चित्रण किया है।

जैनेन्द्र ने अपनी कहानियों के पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व दिखाकर प्रेमचंदजी की चरित्र-प्रधान कहानियों की परम्परा को आगे बढ़ाया और 'अज्ञेय' जी ने इसी परम्परा को अपनी कहानियों में विकसित किया। 'अज्ञेय' जी ने अपनी कहानियों में व्यक्तिगत जीवन के किसी विशिष्ट भाग के रहस्य का मनोवैज्ञानिक चित्र खींचकर अपनी कहानियों

---

१. सं० विजय शंकर मल्ल : 'आधुनिक कहानियाँ', प्रथम संस्करण, १९५२, पृ० १६५।

का निर्माण किया। इसलिए उनकी अधिकतर कहानियाँ चरित्र-प्रधान हैं। व्यक्तिगत जीवन के आधार पर अपने अनुभवों द्वारा मनुष्य की भावनाओं का चित्रण करना इनकी कहानी कला का आदर्श है। 'रोज', 'हरसिंगार', 'विपथगा' आदि कहानियों में उनकी अतीत कालीन मधुर स्मृतियों का चित्रण मिलता है। 'अज्ञेय' जी की कहानी के रचना विधान का केन्द्र-बिन्दु चरित्रों के निर्माण में है और इनका मूल उनके व्यक्तिगत अनुभवों में ढूँढ़ा जा सकता है।

'अज्ञेय' जी के समान इलाचंद्र जोशी ने भी मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखी हैं। जोशीजी फ्रायड के सिद्धान्तों से प्रभावित हैं और उनके आधार पर ही उन्होंने अपनी कहानियों का धरातल मनोवैज्ञानिक रखा है। उनकी पहली कहानी 'सजनवा' (१९२०) हिन्दी गल्पमाला में छपी थी और बाद में उन्होंने अनेक कहानियाँ लिखीं। जोशीजी साहित्य के कलावादी पक्ष की घोषणा करने वाले लेखक हैं। इसलिए उनकी कहानियों में कहानी का कलागत सौन्दर्य मिलता है। 'उपेक्षिता' (१९२८), 'चरणों की दासी' (१९२९), 'जीत या हार' (१९३१) आदि कहानियाँ उनकी कहानी कला का आदर्श उपस्थित करती हैं।

उन्होंने अपनी कहानियों के लिए सामाजिक धरातल चुन लिया है और मध्यम वर्ग तथा निचले श्रेणी के लोगों की समस्याओं पर प्रकाश डाला है। उनकी हरएक कहानी में किसी न किसी नैतिक आदर्श की व्याख्या मिलती है। जोशीजी ने अपनी कहानी में मनुष्य के अहं को स्थान दिया और उसी को केन्द्र मान कर सुशिक्षित वर्ग की समस्याओं की अहं-वृत्ति का विश्लेषण किया। उनमें समाजवादी साहित्य के लिये प्रेम नहीं है। इसलिए प्रगतिवादी साहित्य की कड़ी से कड़ी आलोचना उनके द्वारा हुई है। उनकी कहानियों में किसी न किसी पात्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बहुत ही गहराई के साथ मिलता है। हरएक पात्र के चरित्र का विश्लेषण इस ढंग से किया गया है कि उसमें कहीं भी अस्वाभाविकता दिखाई नहीं पड़ती। 'मैं,' 'मेरी डायरी के दो नीरस पृष्ठ' आदि कहानियाँ इस दृष्टि से प्रसिद्ध हैं। उनकी हर एक कहानी एक व्यक्ति के अध्ययन से परिपूर्ण है और उस व्यक्ति की समस्याओं का मूल्यांकन नैतिकता के आधार पर हुआ है। उनकी कहानी में रचना-विधान की जटिलता नहीं है और उन्होंने कभी किसी चरित्र को चढ़ा-बढ़ा कर नहीं लिखा। उनकी कहानियों में कथा-तत्व पूर्णरूप में मिलता है, और कहानी की शैली में किसी विशेष प्रकार के प्रयोग के प्रति आग्रह नहीं है। उनकी कहानी-कला की आत्मा उनके पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में मिलती है।

इलाचंद्र जोशी और 'अज्ञेय' की कहानियाँ जैनेन्द्र की कहानियों से भिन्न हैं यद्यपि इन तीनों की कहानियों का धरातल मनोवैज्ञानिक है। जैनेन्द्रजी प्रेमचंदजी से प्रभावित हैं और उन्होंने मनुष्य की समस्याओं का निरीक्षण कर के अपने अनुभवों द्वारा उनका विश्लेषण मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। 'अज्ञेय' और इलाचंद्र जोशी

फ्रायड से अधिक प्रभावित हैं और उन्होंने मानव जीवन के सत्य को मनोवैज्ञानिक ढंग से जाँचने का प्रयत्न किया, इसलिए उनके पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व का संघर्ष अधिक मात्रा में रहता है। जैनेन्द्र ने अपनी कहानियों में आदर्शवाद का सहारा लेकर मनुष्य की उच्चतर मानसिक भूमि पर उसकी चारित्र्यिक विशेषताओं तथा मानवीय गुणों का विश्लेषण किया है। उन्होंने अपनी कहानियों के लिए उच्चतर मानवीय आदर्शों का माध्यम लेकर मनुष्य जीवन की महत्वपूर्ण समस्याओं पर प्रकाश डालकर किसी न किसी नैतिक आदर्श की स्थापना की, परन्तु अज्ञेय और जोशीजी की कहानियों का केन्द्र बिन्दु मनुष्य का अहं होने के कारण उनके जीवन का असामाजिक तथा अनैतिक पक्ष का ही विश्लेषण हुआ और फ्रायड के सिद्धान्तों के अनुसार वे मनुष्य की मनोवृत्तियों का चित्रण करने लगे। इसलिए उनकी कहानियों में मानसिक विकृतियों का विश्लेषण अधिक मात्रा में हुआ और पाठकों के मन में उनकी कहानियों के प्रति कोई विशेष रुचि निर्माण न हो सकी। जैनेन्द्र अपनी कहानियों द्वारा मानवीय गुणों का आदर्श उपस्थित करते हैं पर अज्ञेय तथा जोशीजी की कहानियों में उनका विश्लेषण मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है। इसलिए इन तीन कहानीकारों ने अपनी कहानियों का निर्माण एक ही भाव-पृष्ठभूमि के धरातल पर करने पर भी उनमें समानता के लक्षण बहुत कम मिलते हैं। इलाचंद्र जोशी ने अपनी कहानियों के रचना-विधान का कभी ख्याल नहीं किया परन्तु 'अज्ञेय' जी की कहानियों में कहानी के रचना-विधान पर अधिक ध्यान रखा गया है।

इस काल-विभाग में अधिकतर मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखी गई हैं। प्रेमचंद-जी और प्रसादजी की अन्तिम कहानियों का निर्माण इस काल में हुआ है। प्रेमचंदजी की 'कफन', प्रसादजी की 'सालवती' आदि कहानियाँ इसी काल में लिखीं गईं। परन्तु जैनेन्द्र, 'अज्ञेय', इलाचंद्र जोशी, 'उग्र', चन्द्रगुप्त विद्यालंकार आदि कहानीकारों की कहानियाँ महत्वपूर्ण हैं।

प्रेमचंदजी ने अपनी चरित्र-प्रधान कहानियों द्वारा मनोवैज्ञानिक कहानी का सूत्रपात किया था। उसका विकास इस काल के 'जैनेन्द्र', इलाचंद्र जोशी, 'अज्ञेय' आदि कहानीकारों की कहानियों में मिलता है। मनोवैज्ञानिक कहानियों में घटनाओं को कोई विशेष स्थान नहीं मिलता, इसलिए कथा-वस्तु का सौन्दर्य उनमें दिखाई नहीं देता। परन्तु उनमें पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण होने के कारण मनुष्य जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर पहलू का चित्रण मिलता है। इसलिए कहानियों में कथा-वस्तु का अंश कम रहता है और पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में पाठक रमता है। किसी पात्र का मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित करते समय कहानीकारों को बहुत ही सावधानी से काम लेना पड़ता है। क्योंकि हरएक पात्र का जीवन किसी एक समस्या या घटना से प्रभावित नहीं रहता है और उसके चरित्र के विकास में अनेक मानसिक कमजोरियाँ भी कार्य करती रहती हैं इसलिए कहानी में कथा-प्रवाह का इतिवृतात्मक अंश कम रहता है।

परन्तु इस काल की अधिकतर कहानियों में मनुष्य की व्यक्तिगत समस्याओं का चित्रण अधिक मात्रा में हुआ।

### आधुनिक-काल (सन् १९३७ से सन् १९५० ई० तक)

कहानी-साहित्य का यह प्रसाद-प्रेमचंदोत्तर काल आधुनिक कहानी का युग माना जा सकता है। प्रेमचंद और प्रसाद की कहानियों द्वारा हिन्दी कहानी में आधुनिकता के लक्षण दिखाई पड़ने लगे और साहित्य के विविध रूपों में उसे महत्वपूर्ण स्थान मिलने लगा। आधुनिक कहानी का पुराना रूप आख्यायिकाओं के द्वारा उपस्थित हुआ था परन्तु केवल पचीस वर्ष के बाद उसमें अनेक नव्यतर प्रवृत्तियों का प्रवेश हुआ और रचना विधान की दृष्टि से भी वह अब आगे बढ़ रही है।

इस काल की कहानियों का सूत्रपात जैनेन्द्र, इलाचंद्र जोशी, 'अज्ञेय', 'अश्क' आदि की प्रारंभिक कहानियों में मिलता है और बाद में इसकी विकसित परम्परा सियाराम शरण गुप्त, भगवती चरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, कमलादेवी चौधरी, सत्यदेवी मल्लिक, अमृतलाल नागर, शिवपूजन सहाय, धर्मवीर भारती, पहाड़ी, यशपाल, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार आदि प्रौढ़ कहानीकारों की कहानियों में मिलती है। इसी प्रकार आधुनिक कहानी के अनेक अन्य लेखकों के नाम गिनाए जा सकते हैं जिनमें भीष्म सहानी, बलभद्र दीक्षित, देवेन्द्र सत्यार्थी, उषादेवी मित्रा, विपुला देवी, सुमित्रानन्दन पंत, श्रीमती शिवरानी देवी, जयनाथ, 'नलिन', लक्ष्मीनारायण लाल आदि नाम उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों की कहानियाँ हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में छपती हैं। आजकल पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार इतना बढ़ गया है कि उनके लिए मासिक ३००–४०० से अधिक कहानियाँ लिखी जा रही हैं।

आधुनिक कहानी किसी विशेष लेखक या वाद से प्रभावित नहीं है। उस पर जीवन के भिन्न-भिन्न आदर्शों का प्रभाव दिखाई देता है। वह पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित है और उसमें सूक्ष्मता की अनेक प्रवृत्तियों का दर्शन मिलता है। उसी प्रकार उस पर गांधीवाद, साम्यवाद, यौनवाद, प्रगतिवाद आदि के सिद्धान्तों का प्रभाव दिखाई देता है। भारत में शिक्षा का प्रचार अधिक होने के कारण किसी भी समस्या के पीछे जीवन का बौद्धिक पक्ष किसी न किसी रूप में काम करता हुआ दिखाई पड़ता है। सन् १९३७ के आसपास की कहानियों में निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जा सकती हैं—

१. अनूदित कहानियों की संख्या कम दिखाई देती है।
२. कहानी पर बंगला तथा पाश्चात्य कहानी का अपेक्षाकृत प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता और उसे एक स्वतंत्र रूप मिलने लगा।
३. कहानी में तत्कालीन समाज की राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि समस्याओं का चित्रण होने लगा और जीवन की वास्तविकता के हरएक पहलू पर प्रकाश डाला गया।

४. कहानी में बौद्धिक पक्ष को महत्वपूर्ण स्थान मिलने लगा।
५. किसी भी विचार-धारा का सूक्ष्म अवलोकन करने की प्रवृत्ति कहानीकारों में दिखाई देने लगी।
६. कहानियों में सामाजिक समस्याओं का चित्रण होने लगा।
७. कहानियों के लिए रचना-शैली के अनेक नमूने उपयोग में आने लगे और उनमें रचना-विधान की सूक्ष्मता की ओर ध्यान दिया जाने लगा।
८. मनुष्य का संपूर्ण अध्ययन करने की प्रवृत्ति कहानियों में दिखाई देने लगी।

इस प्रकार कहानी को एक निश्चित धरातल मिल गया और उसके विकास की परम्परा आगे बढ़ने लगी।

प्रेमचंदजी की कहानियों में तत्कालीन समस्याओं पर प्रकाश डाला गया था और यही परम्परा इस काल में दिखाई पड़ती है। राजनीतिक विचार-धारा का प्रचार भी उनकी कहानियों द्वारा हुआ और उनकी नई कहानियाँ गांधीजी के सिद्धान्तों से प्रभावित हैं। उसी प्रकार प्रगतिवाद के युग का आरम्भ होने के कारण तत्कालीन समस्याओं का विश्लेषण नए ढंग से होने लगा। समाजवादी विचारधारा का प्रभाव भी इन कहानियों पर हुआ है। इस काल की कहानियों की यह भी एक विशेषता है कि कहानी-लेखक समाजवादी विचार-धारा से प्रभावित है जिनमें यशपाल, पहाड़ी आदि लेखक उल्लेखनीय हैं।

यशपाल की कहानियों में प्रगतिशील विचार-धारा का प्रभाव है और उन्होंने अपनी कहानियों द्वारा समाज की विभिन्न समस्याओं पर प्रकाश डालने का कार्य किया है। उनकी कहानियों का कथानक अधिकतर राजनीतिक या सामाजिक समस्याओं पर आधारित है। मार्क्सवाद का प्रभाव उनकी कहानियों पर अधिक मात्रा में है, इसलिए उनमें प्रचारवादी भावना दिखाई पड़ती है। उनकी प्रारम्भिक कहानियाँ यथार्थवादी थीं परन्तु भारत की राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव के कारण उनकी कहानियों में किसी न किसी समस्या का चित्रण होने लगा। उन्होंने अपनी कहानियों में वैयक्तिक समस्याओं को महत्व का स्थान देकर उनका विश्लेषण समाजवादी विचार-धारा के सिद्धान्तों के अनुसार किया। समाजवादी विचार-धारा का भारतीय मूल्यांकन इनकी कहानियों में मिलता है। जीवन को ठीक करने की विद्रोही भावना उनकी कहानियों में मिलती है। इसलिए कहीं-कहीं अतियथार्थ का चित्रण किया गया है। उन्होंने जीवन की व्यापकता को लेकर अपनी कहानियों का निर्माण किया। किसी विशिष्ट राजनीतिक धारा से प्रभावित होने के कारण उनकी कहानियों में प्रचार की भावना अधिक रहती है। इसलिए कहानी-कला का कोई निश्चित आदर्श इनकी कहानियों में नहीं मिलता।

रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी' की अधिकतर कहानियाँ फ्रायड के सिद्धान्तों से प्रभावित हैं। परन्तु उनकी कहानियों का आदर्श पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तक सीमित नहीं है। जीवन की यथार्थ भाव-भूमि पर लिखी हुई उनकी अनेक कहानियाँ प्रेमचंदजी के 'कफन' जैसी कहानियों की याद दिलाती हैं। वे किसी बीभत्स तथा अश्लील चित्र को देखकर मुँह छिपाकर चलना एक नैतिक अपराध मानते हैं। उनकी 'दो काली काली आँखें', 'यह भी एक कहानी है', 'निरूपमा', 'कुसुम की बात', 'अचला', 'जीवन का रहस्य' आदि कहानियों में उनकी कहानी-कला का प्रारम्भिक रूप दिखाई पड़ता है। उनकी 'सड़क पर' कहानी-संग्रह में उनकी कहानी-कला का आधुनिक रूप मिलता है। इस संग्रह की 'सड़क पर', 'मुरली' आदि कहानियों में प्रेमचंद तथा गुलेरी की कहानियों की शैली की परम्परा स्पष्ट दिखाई देती है।

'पहाड़ी' की 'सड़क पर' कहानी प्रेमचंद की 'कफन' कहानी से बराबरी कर सकती है। गरीब होना एक नैतिक अपराध है और कानून, धर्म और नैतिकता गरीबों के लिए हैं; इन दो सिद्धान्तों पर कहानी की रचना हुई है। इस कहानी में एक दरिद्र परिवार का चित्रण यथार्थ रूप में उपस्थित किया गया है। कहानी का कथानक इस प्रकार है: इस परिवार में चार लोग हैं। बूढ़ा सोखू मृत्यु शैय्या पर है और उसकी पत्नी सोखू की मृत्यु की राह देख रही है। इधर प्रसव-वेदना के कारण बहू के पेट में दर्द हो रहा है। बुढ़िया बहुत ही कमजोर है, फिर भी उसे सब परिवार का ख्याल करना पड़ता है। उसका लड़का शराबी है और प्रसव-वेदना से पीड़ित अपनी पत्नी को लात भी मारता है। वह इस बात का ख्याल नहीं करता कि उसकी पत्नी प्रसव-वेदना से तंग है।.........'गर गरड—ग़ाड'—बूढ़े की अन्तिम साँस सुनाई पड़ी। बुढ़िया उसकी लाश को मोहल्ले वालों को सौंप देती है, उसे दुख नहीं होता। वह बहू को होने वाले बच्चे का ख्याल करती है। ठीक उसी समय बच्चा पैदा होता है और फिर परिवार में चार लोग होते हैं।......दरिद्र जीवन की कहानी फिर चालू होती है। यथार्थवादी जीवन का इतना नग्न चित्रण कम कहानियों में मिलता है। उनकी 'मुरली' कहानी भी गुलेरीजी की 'उसने कहा था' कहानी की शैली में लिखी हुई है।

उपेद्रनाथ 'अश्क' जी की कहानियों में प्रेमचंद की यथार्थवादी परम्परा का विकसित रूप मिलता है। प्रेमचंद के समान 'अश्क' जी भी उर्दू से हिन्दी में आये हैं। उनकी 'भिस्ती की बीबी' (१९३७), 'चयन' (१९३८), 'मोती' (१९३८), 'मनुष्य यह' (१९३९), 'डाची', 'काकड़ाँ का तेली' (१९४१) आदि कहानियों में उनकी कहानी-कला का रूप दिखाई पड़ता है। उनकी कहानियों की यह भी एक विशेषता है कि जहाँ एक ओर समाज की कटु आलोचना करते हैं वहाँ दूसरी ओर अपने पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्र भी खींचते हैं। मानव-जीवन का अध्ययन करने की दृष्टि से इनकी संवेदनशील कहानियाँ बड़ी उपयोगी हैं।

कमलाकान्त वर्मा जी अपनी एक नई शैली लेकर हिन्दी कहानी के क्षेत्र में आए। उनकी 'बाजी' (१९३७), 'सुपथगा' (१९३८), 'तकली' (१९३८), 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' (१९३९) आदि कहानियों में उनकी कहानी-कला का रूप दिखाई पड़ता है। उनकी 'पगडंडी', 'तकली' आदि कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। 'पगडंडी' कहानी में 'पगडंडी', 'रामी का कुआँ, और 'बट दादा' मुख्य पात्र हैं। इस प्रकार इनकी कहानियों में मानवेतर सृष्टि के अवलंबनों का वैज्ञानिक विश्लेषण मिलता है।

स्त्री-कहानी-लेखिकाओं में चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, उषादेवी मित्रा, तेजरानी पाठक, श्रीमती तारा रानी श्रीवास्तव आदि कहानी-लेखिकाओं के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी कहानियों में पारिवारिक समस्याओं का चित्रण मिलता है। स्त्री-जीवन को समझने की दृष्टि से इनकी कहानियाँ उपयोगी हैं।

आधुनिक कहानी का इतिहास बहुत पुराना नहीं है, परन्तु सन् १९१० के बाद उसमें जो परिवर्तन होते रहे हैं उनमें कहानी-कला की अनेक नव्यतर प्रवृत्तियों का दर्शन होता है। आधुनिक कहानी का संबंध मनुष्य के मनोविज्ञान से है और हरएक मनुष्य चाहता है कि उसका जीवन भी एक कहानी बन जाय। कहानी का अपना एक मानसिक धरातल है और वह उसके आधार पर आगे बढ़ रही है। उसका प्रारम्भिक रूप आख्यायिकाओं के रूप में हिन्दी संसार के सामने आया जब नाटक, उपन्यास, निबंध, आलोचना आदि साहित्य-प्रकार अपने विकास की अनेक सीढ़ियाँ चढ़ चुके थे।

पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण ही हिन्दी कहानी-साहित्य की प्रगति होती गई और हिन्दी का कहानी साहित्य 'सरस्वती', 'इन्दु', 'हिन्दी गद्य माला', 'मनोरमा', 'चाँद', 'गृहलक्ष्मी', 'माधुरी', 'सुधा', 'कहानी', 'विशाल भारत', 'हंस', 'वीणा', 'माया', 'मनोहर कहानियाँ' आदि पत्रिकाओं द्वारा लोगों के सामने उपस्थित किया गया। अभी हाल में ही कहानी-संग्रह प्रकाशित कराने की प्रथा शुरू हुई है और हिन्दी के प्रसिद्ध लेखकों के कहानी-संग्रह प्रकाश में आए हैं। परन्तु अनेक कहानीकार ऐसे भी हैं जिनकी कहानियाँ कहानी-संग्रह के रूप में प्रकाशित नहीं हुई हैं। कई कहानीकार ऐसे भी मिलते हैं कि जिनकी एक-दो कहानियाँ किसी पत्रिका में छप तो गई हैं लेकिन उन्हें अब पाठकों के सामने रखने के साधन उपलब्ध नहीं हैं। हिन्दी कहानी-साहित्य की आयु कम है परन्तु समृद्धि की दृष्टि से वह बहुत आगे है।

आधुनिक कहानियों के बारे में विचार करते समय उनके विषय, रचना-विधान, भाषा आदि के बारे में अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। यह तो स्पष्ट कहा जा सकता है कि इतने कम अवकाश में हिन्दी कहानी ने काफी प्रगति की है और वह विकास के मार्ग पर है। उसमें हमारे जीवन की अनेक समस्याओं का चित्रण हुआ है और अधिकांश में हमारे सामने नए-नए आदर्श उपस्थित करने में वह सफल हुई है।

रचना-विधान की दृष्टि से हिन्दी कहानी में अनेक प्रयोग हुए हैं और उसकी

परम्परा का दर्शन चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचंद, जयशंकर 'प्रसाद', सुदर्शन, भगवती चरण वर्मा, उग्र, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, कमलाकान्त वर्मा, जैनेन्द्र कुमार, 'अज्ञेय' आदि की कहानियों में मिलता है।

चन्द्रधर शर्मा की 'उसने कहा था' कहानी के प्रकाशन के कारण हिन्दी का एक नया आदर्श उपस्थित किया गया। इस कहानी में चरित्र-चित्रण, व्यंग्य तथा विनोद का पुट, भावों के अनुकूल भाषा का प्रयोग आदि बातें मिलती हैं। कहानी का विस्तृत तथा उद्देश्य-प्रधान रूप प्रेमचंद के 'पंच परमेश्वर' में मिलता है। प्रेमचंदजी ने अपनी कहानियों द्वारा भारतीय जीवन का झोंपड़ों से महलों तक का चित्र खींचकर तत्कालीन समस्याओं पर प्रकाश डाला। उन्होंने अपनी कहानियों के पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित करके चरित्र-प्रधान कहानियों की परम्परा का सूत्रपात किया। उनकी कहानियाँ उद्देश्य-प्रधान हैं और उनमें भारतीय जनता की आशा-आकांक्षाओं का चित्रण हुआ है।

प्रसाद जी की कहानियों में काव्यात्मक वातावरण तथा कल्पना का माधुर्य मिलता है। इनके पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व मिलते हैं और उनमें भावुकता की मात्रा अधिक दिखाई देती है। इनकी कहानियों में बीच-बीच में गद्यगीत भी मिलते हैं। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' की कहानियों में भी काव्यात्मक वातावरण की सृष्टि मिलती है। उसी प्रकार राय कृष्णदास की कहानियाँ भाव-प्रधान हैं और उनमें जीवन का कलात्मक चित्र खींचा गया है।

'कौशिक', 'उग्र', भगवती प्रसाद वाजपेयी और भगवती चरण वर्मा की कहानियों ने कहानी-कला के अलग-अलग आदर्श उपस्थित किए हैं। 'कौशिक' जी की कहानियों में घरेलू जीवन के चित्र मिलते हैं। भगवती प्रसाद वाजपेयी की कहानियों में यथार्थ और आदर्श का सुन्दर मिश्रण मिलता है और बीच-बीच में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का भी चित्रण मिलता है। 'उग्र' की कहानियों में रूढ़ियों का विरोध तथा राष्ट्रीय भावना का चित्रण मिलता है। भगवती चरण वर्मा की कहानियों में ऐतिहासिक व्यंजना अधिक रहती है और कथा-वस्तु में विस्मय, कौतूहल आदि तत्वों की मात्रा अधिक रहने के कारण कहानी का वातावरण विनोदपूर्ण भी रहा है।

कहानी की आत्मा में अनेक परिवर्तन होते रहे हैं लेकिन जिस आदर्श पर उसकी रचना होनी थी उसमें किसी विशेष प्रकार की नवीनता नहीं है। पहले कहानी मनोरंजन के लिये और साथ कुछ सीखने के लिए भी पढ़ी जाती थी और आज भी उसका उपयोग प्रायः इसी रूप में होता है। परन्तु जिस रूप में वह पहले रखी जाती थी उसी रूप में आज वह नहीं दिखाई पड़ती है। पहले उसमें कथा की धारा थी और बाद में वह घटना-प्रधान हुई और उसमें जीवन के कार्य-व्यापारों का विश्लेषण हुआ। परन्तु प्रेमचंद के उदय के बाद उसमें नवीनता आई और प्रसादजी के आविर्भाव के कारण उसमें रूप-सौन्दर्य का आकार मिला और कहानी आगे बढ़ी। प्रेमचंद के बाद भी मानव-

विज्ञान के आधार पर कहानियों की रचना हुई और पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रणाली का सूत्रपात हुआ और जैनेन्द्र तथा 'अज्ञेय' ने अपनी कहानियों द्वारा उसमें आधुनिकता के सब गुण भर दिए। यथार्थ की भाव-भूमि पर उसका विकास यशपाल, पहाड़ी आदि की कहानियों में मिलता है और उसकी साधना का उद्देश्य लोक-मंगल की ओर बढ़ने लगा है।

कहानी एक कथा-प्रधान रचना है और उसमें कथा के अनेक विभाग किए जा सकते हैं। उसका प्रारम्भ, मध्य और अन्त उसके शरीर के अवयव हैं और लेखकों ने इन तीनों में भी नई-नई शैलियों का प्रयोग किया है। कोई कहानी का अन्त पहले दिखाकर बाद में कहानी का प्रारम्भ करता है, तो कोई कहानीकार पहले कहानी का मध्य एक समस्या के रूप में चित्रित करता है।

जैनेन्द्र की कहानियों में एक नये शिल्प-विधान का रूप मिलता है। कथानक का अंश कम होने के कारण इनकी अधिकतर कहानियाँ छोटी हैं, परन्तु पात्रों के चरित्र-चित्रण में जो सूक्ष्मता मिलती है उसके कारण कहानी के हर एक शब्द में लाक्षणिकता मिलती है। पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व दिखाकर मनुष्य की मानसिक अवस्थाओं का उद्घाटन करने की प्रणाली में प्रसादजी का कौशल दिखाई देता है। 'अज्ञेय' तथा इलाचंद्र जोशी की कहानियों में पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मिलता है। जैनेन्द्र, इलाचंद्र जोशी, 'अज्ञेय' आदि की कहानियों में पात्रों के अन्तर्जगत् का दर्शन होता है।

'यशपाल', 'पहाड़ी', 'रांगेय राघव' आदि की कहानियों में युग संघर्ष का यथार्थ-वादी चित्रण मिलता है। इनकी कहानियों में मनोवैज्ञानिकता के साथ-साथ कथानक, भाषा आदि पर विशेष ध्यान रखा गया है। 'अश्क' जी की कहानियों में सामाजिक चित्रण अच्छा हुआ है। आधुनिक कहानियों में सामाजिक कहानियों की संख्या अधिक मिलती है।

घटना-प्रधान, वातावरण-प्रधान तथा भाव-प्रधान कहानियों के द्वारा कहानी के रचना-विधान में अलग-अलग शैलियों का प्रयोग होता गया है। घटना-प्रधान कहानियों में पात्रों के चारित्रिक विशेषताओं पर कम ध्यान दिया जाता है। 'कौशिक', ज्वालादत्त शर्मा आदि की कहानियों में दैवघटना और संयोग को प्राधान्य दिया गया है। कार्य प्रधान कहानियों में जासूसी, रहस्यपूर्ण, वैज्ञानिक तथा हास्यमय कहानियाँ आती हैं। इन कहानियों में चरित्र-चित्रण को कम अवकाश रहता है और घटनाओं के घात-प्रतिघात द्वारा विस्मयकारी वातावरण की सृष्टि होती है। जी० पी० श्रीवास्तव तथा अन्नपूर्णानन्द द्वारा हास्य रस की कहानियाँ लिखी गयी हैं। प्रेमचंद तथा प्रसादजी की कई कहानियाँ वातावरण-प्रधान हैं। प्रसादजी की कहानियों में काव्यात्मक वातावरण का दर्शन होता है। वातावरण-प्रधान कहानियों में ऐतिहासिक कहानियाँ भी आती हैं। प्रेमचंदजी की 'शतरंज के खिलाड़ी' वातावरण-प्रधान कहानी है। भाव-प्रधान कहानियों में काल्पनिक वातावरण की सृष्टि रहती है।

इस काल विभाग में हास्यपूर्ण, ऐतिहासिक, प्रकृतवादी, प्रतीकवादी कहानियाँ लिखी गई हैं। जी० पी० श्रीवास्तव, बद्रीनाथ भट्ट, अन्नपूर्णानन्द, 'बेढब' आदि ने हास्यपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। उनमें हास्य का गाम्भीर्य नहीं मिलता। वृन्दावन लाल वर्मा, प्रेमचंद, प्रसाद, चतुरसेन शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन आदि ने ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी हैं। परन्तु ऐतिहासिक कहानियों की कोई निश्चित परम्परा नहीं मिलती। बेचन शर्मा 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री, पहाड़ी आदि लेखकों ने प्रकृतवादी ढंग से कहानियाँ लिखकर समाज की घृणास्पद तथा बीभत्स बातों का विश्लेषण बड़े कलात्मक ढंग से किया है। इन कहानियों में अमंगलकारी घटनाओं और मनुष्य की स्वाभाविक कमजोरियों का चित्रण बहुत ही यथार्थ रूप में मिलता है। प्रतीकात्मक कहानी का आदर्श प्रसादजी की 'कला,' राय कृष्णदास जी की 'कला और कृत्रिमता' आदि कहानियों में मिलता है।

कहानियों के रचना-विधान की दृष्टि से अनेक प्रयोग होते रहे हैं। 'डायरी', 'पत्र' आदि द्वारा कहानी का रूप सामने रखने का प्रयत्न हुआ है परन्तु इस प्रकार की कहानियों की संख्या बहुत कम है। रेखा-चित्रों (sketches) के रूपों में कई रचनाएँ सामने आई हैं। महादेवी वर्मा कृत 'स्मृति की रेखाएँ' इसी श्रेणी में आ सकती है। इनमें कहानी के तत्व मिलते हैं और रूप-विधान की दृष्टि से ये रचनाएँ अधिक प्रभावशाली हैं। साहित्य के नवीनतम विकसित रूप 'सूचनिका' (Reportas) में जीवन की वास्तविकता का चित्र यथार्थ रूप में चित्रित किया जाता है। इस प्रकार कहानी के शिल्पविधान में प्रयोग होते रहे हैं।

कहानी की भाषा में भी प्रगति के लक्षण दिखाई देते हैं। प्रसाद, 'हृदयेश' आदि लेखकों की कहानियों में काव्यात्मक भाषा का रूप मिलता है। प्रेमचंद, सुदर्शन, भगवती चरण वर्मा, 'अज्ञेय' आदि की भाषा में स्थिरता तथा गांभीर्य दिखाई पड़ता है।

प्रेमचंद के आविर्भाव के कारण ही हिन्दी कहानी-साहित्य में नए युग का आरंभ हुआ और विश्व के कहानी-साहित्य में भी हिन्दी कहानियों को स्थान मिलने लगा। प्रेमचंद की मृत्यु हुए पन्द्रह वर्ष बीत गए, परन्तु प्रेमचंद के समान कोई युगान्तरकारी कहानीकार पैदा नहीं हुआ। प्रेमचंदजी ने अपनी कहानियों द्वारा अपनी कहानी-कला का जो आदर्श लोगों के सामने रखा था उसी के आधार पर आधुनिक कहानियों में प्रयोग होने लगे। परन्तु प्रेमचंद की कहानी-कला को पूर्ण रूप से आत्मसात करने का प्रयत्न किसी कहानीकार द्वारा नहीं हुआ। आधुनिक कहानीकारों में इने-गिने दो-तीन कहानीकार दिखाई पड़ते हैं जिनकी कहानियों के उज्जवल भविष्य के बारे में सोचा जा सकता है। अभी तक हिन्दी कहानी साहित्य में जो प्रगति हुई है वह प्रशंसनीय है परन्तु प्रेमचंदजी की कहानियों की परम्परा को छोड़ कर हिन्दी का कहानी-साहित्य प्रगति की ृष्टि से बहुत आगे नहीं बढ़ पाया। प्रेमचंदजी ने अपने एक लेख में भविष्य की कहानी का आदर्श निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है—

"....हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े शब्दों में कही जाय, उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पाये, उसका पहला वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अन्त तक उसे मुग्ध किये रहे, और उसमें कुछ चटपटापन हो, कुछ ताजगी हो, कुछ विकास हो, और इसके साथ ही कुछ तत्व भी हो।"[1]

---

१. प्रेमचंद: 'कुछ विचार', तृतीय संस्करण, १९४५, पृ० ३१।

# अध्याय ५

# निबंध

आधुनिक हिन्दी निबंध-साहित्य का इतिहास लगभग अस्सी वर्ष का मिलता है। अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार और पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण हिन्दी निबंध का प्रारंभ हुआ और पाश्चात्य साहित्य और सभ्यता द्वारा उसका विकास हुआ। भारतीय साहित्य में निबंध साहित्य की कोई परम्परा नहीं मिलती। अंग्रेजी 'निबंध' शब्द के अर्थ में निबंध, प्रबंध, रचना, लेख आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। संस्कृत साहित्य में भी निबंध शब्द का प्रयोग मिलता है। परन्तु उसमें निबंध-साहित्य की कोई परम्परा नहीं दिखाई पड़ती। धार्मिक पुस्तकों, टीकाओं, भाष्यों आदि रचनाओं में उपयोगी साहित्य के गुण मिलते हैं परन्तु इन्हें निबंधों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। अंग्रेजी निबंध-साहित्य का इतिहास साढ़े तीन सौ वर्ष का मिलता है और उसमें निबंध की एक विकसित परम्परा मिलती है। अंग्रेजी निबंध-साहित्य की तुलना में हिन्दी में निबंधों का प्रारंभ बिलकुल ही आधुनिक घटना है और उसके विकास के लक्षण उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में दिखाई पड़ते हैं। हिन्दी निबंध-साहित्य की विकसित परम्परा का अध्ययन उसके इतिहास के निम्नलिखित काल-विभागों के आधार पर किया जा सकता है---

**काल-विभाग**

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १. | आरंभिक-काल | सन् १७८२-८३ | से | सन् | १८७३ | ई० | तक |
| २. | शैशव-काल | सन् १८७३ | से | सन् | १९०० | ई० | तक |
| ३. | विकास-काल | सन् १९०० | से | सन् | १९२१ | ई० | तक |
| ४. | विस्तार-काल | सन् १९२१ | से | सन् | १९३५ | ई० | तक |
| ५. | आधुनिक-काल | सन् १९३५ | से | सन् | १९५० | ई० | तक |

निबंध 'आत्माभिव्यक्ति' का एक साधन है। इसलिये उसके द्वारा मनुष्य अपने भावों और विचारों को प्रकट करता है। मानव जीवन के साथ निबंध के अंतरंग में परिवर्तन होता रहा है और उसमें सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि विचारों का प्राधान्य मिलता रहा है। हिन्दी में निबंध साहित्य का विकास पाश्चात्य सभ्यता और अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव के द्वारा हुआ तथा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उसकी शैली में भिन्नता दिखाई पड़ी। आज निबंध शब्द के अर्थ में प्रबंध, ललित-निबंध, लेख,

संदर्भ आदि शाब्दिक पर्याय मिलते हैं। 'निबंध' और 'प्रबंध' में बहुत बड़ा भेद दिखाई पड़ता है। 'निबंध' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी (Essay) शब्द के अर्थ में और प्रबंध शब्द का प्रयोग (Treatise) के अर्थ में किया जा सकता है। संक्षेप में कहा जाय तो निबंध एक साधारण रचना है जिसे एक पन्ने में भी लिपिवद्ध किया जा सकता है, परन्तु प्रबंध का रूप अधिक व्यापक तथा गंभीर है। प्रकार भेद से निबंध वर्णनात्मक, विचारात्मक, भावात्मक, कथात्मक आदि होता है परन्तु इस प्रकार का भेद प्रबंध के बारे में नहीं दिखाई पड़ता।

हिन्दी में निबंध शब्द का प्रयोग 'निबंध', ललित-निबंध और प्रबंध के अर्थ में किया जाता है। 'प्रबंध' का प्रयोग एक सुबद्ध, व्यापक तथा विस्तृत रचना के अर्थ में किया जाता है और उसमें किसी विषय का गंभीर अध्ययन या मीमांसा होने के कारण उसमें लालित्य या भावव्यंजना को बिलकुल स्थान नहीं मिलता। अर्थात् इस प्रकार की रचना 'समीक्षा' के रूप में निर्माण होती है और उसमें प्रतिपाद्य विषय का विस्तार तथा गंभीर अध्ययन होने के कारण लेखक के व्यक्तित्व को भी स्थान नहीं मिलता। जब खोज संबंधी विषय को लेकर प्रबंध लिखा जाता है तब वह निबंध से बहुत दूर हो जाता है।

मौंतेन ने आत्माभिव्यक्ति के साधन के रूप में लाने वाली रचना को निबंध कहा है। बाद में बेकन, एडिसन, जानसन् आदि लेखकों ने निबंध के विविध तत्वों को सामने रखकर उसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी' साहित्य का इतिहास में 'निबंध' पर लिखते समय—"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है"—इतना लिखकर निबंध के बारे में अपना निर्णय प्रकट किया है। श्यामसुन्दर दास, बाबू गुलाबराय आदि ने भी अपनी अपनी दृष्टि से निबंध की व्याख्या देने का प्रयत्न किया है। निबंध की व्याख्या निम्नलिखित रूप में उपस्थित की जा सकती है—

**"निबंध वह एक साहित्यिक तथा ललित गद्य-रचना है जिसमें लेखक किसी विचार या विषय से प्रभावित होकर अपनी भाषा में अपने भावों या विचारों की क्रिया तथा प्रतिक्रिया को ऐसे सजीव ढंग से व्यक्त करता हुआ पाठक की मनोवृत्तियों को सचेत करता है कि वह कुछ काल के लिए प्रभावित होता रहे या विचार करता रहे।"**

### आरंम्भि-काल (सन् १६८२-८३ से सन् १८७३ ई० तक)

आधुनिक हिन्दी निबंध का प्रारंभिक रूप भारतेन्दुकालीन पत्र-पत्रिकाओं में मिलता है। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के कारण भारतीय विद्वान् अंग्रेजी साहित्य के संपर्क में आये और उन्होंने अंग्रेजी निबंध की विभिन्न शैलियों को देखा। अंग्रेजी साहित्य में निबंध-रचना को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था और उसकी एक विकसित परम्परा

भी मिलती है। हिन्दी गद्य-साहित्य का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी से हुआ है। इसलिए निबंध का प्रारम्भिक रूप उसके पहले नही दिखाई पड़ता। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कुछ ऐसी गद्य-रचनाएँ मिलती हैं जिनमें आधुनिक निबंध के भी लक्षण विद्यमान हैं।

हिन्दी निबंधों के प्रथम आरम्भकर्ता के रूप में श्री सदासुखलाल के 'सुखसागर' (१७४६-१८२४) का नाम लिया जा सकता है। उनका 'सुरासुर निर्णय' निबंध प्रसिद्ध है और उसी के आधार पर उन्हें हिन्दी के प्रथम निबंधकार का स्थान दिया जा सकता है। 'सुरासुर निर्णय' निबंध का दर्शन श्री लाला भगवानदीन तथा श्री रामदास गौड़ द्वारा संपादित 'हिन्दी-भाषा-सार' शीर्षक निबंध-संग्रह में मिलता है। इस लेख के रचना-काल के बारे में ठीक निर्णय नहीं मिलता है। 'हिन्दी-भाषा-सार' के संग्रहकर्ताओं ने इसके रचना काल के बारे में अपने वक्तव्य में इस प्रकार लिखा है—

> **"इस लेख में तिथि संवत् तो नहीं लिखा है परन्तु जिन लेखों के बीच में यह है उनमें सं० १८३९-४० समय दिया हुआ है।"**

संग्रहकर्ताओं के वक्तव्य के आधार पर उसका रचना-काल सन् १७८२-८३ में माना जाता है और इसी आधार पर उसे हिन्दी का प्रथम निबंध माना जा सकता है।

'सुरासुर निर्णय' रचना में निबंध के अनेक गुण मिलते हैं। इसमें निबंध के प्रारम्भ और अन्त का स्पष्ट संकेत मिलता है और यह रचना 'सुरासुर निर्णय' का प्रतिपादन करने के लिए प्रस्तुत की है। अत: इसमें लेखक द्वारा निबंध की विवेचना-पद्धति का उपयोग किया गया है। इस निबंध में एक हलका-सा व्यंग भी मिलता है— "ब्रह्मा के यहाँ से किसी को चिट्ठी-पत्री नहीं लिखी है कि वह ब्राह्मण है और वह चाण्डाल है।" इस निबंध का विषय धार्मिक या पौराणिक है और तत्कालीन समस्याओं के अनुसार विषय का विश्लेषण हुआ है। अत: इसे विवेचनात्मक निबंध की कोटि में रखा जा सकता है। इसकी भाषा के बारे में शंका उपस्थित की जा सकती है परन्तु अठारहवीं शताब्दी में हिन्दी गद्य को कोई व्यवस्थित रूप नहीं मिला था। लेखक ने खड़ी बोली में इसकी रचना करके उसमें शुद्ध तद्भव तथा तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है। लेखक ने अपनी बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है और इस रचना के धार्मिक होने के कारण प्रतिपाद्य विषय की स्पष्टता के लिये बीच-बीच में अधिकतर उदाहरण पुराण से दिए हैं। इस रचना में कहीं कहीं सुबोध विचारों की लड़ी मिलती है। इसमें विघ्न के महत्व के बारे में इस प्रकार लिखा है—

> **"विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य उसका सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हुजिये इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहते लोगों को बहकाइये और फुसलाइये और असत्य छिपाइये, व्यभिचार कीजिये,**

**और सुरापान कीजिये और धन-द्रव्य एक ठौरा (इकट्ठा) कीजिये और मन को कि तमोवृत्ति से भर रहा है उसे निर्मल न कीजिये।"**[1]

इस प्रकार इस निबंध में भाषा में सुबोधता तथा विचारों में सचाई दिखाई पड़ती है। इस निबंध के बीच-बीच में ऐसे-ऐसे छोटे वाक्य मिलते हैं कि फ्रेंच निबंध-कार मौंतेन के निबंधों की याद आती है, क्योंकि दोनों रचनाकारों के सामने निबंध-रचना के किसी प्रकार का रूप नहीं था, परन्तु दोनों ने ही अपने मौलिक विचारों को लिपिबद्ध करने का प्रयत्न किया है। अतः श्री सदासुखलाल को हिन्दी निबंध का आद्य-प्रणेता माना जा सकता है।

'सुरासुर निर्णय' के बाद बहुत काल तक निबंध-साहित्य की कोई परम्परा दिखाई नहीं पड़ती। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण ही हिन्दी निबंध साहित्य की उन्नति हुई। इसलिए 'कविवचन सुधा' के प्रकाशन तक इसी क्षेत्र में प्रगति के लक्षण नहीं दिखाई पड़ते। सन् १८२६ में कलकत्ता से 'उदंत मार्तण्ड' का प्रकाशन हुआ था परन्तु वह शीघ्र ही बन्द हुआ। उसका प्रकाशन एक समाचार-पत्रिका के रूप में होने के कारण वह निबंध की दृष्टि से उपयोगी नहीं था। 'उदंत मार्तण्ड' के बाद 'प्रजामित्र' (१८३४), 'बनारस अखबार' (१८४५), 'सुधाकर' (१८५०), 'बुद्धिप्रकाश' (१८५२), 'प्रजा हितैषी' (१८५५), आदि पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। 'बुद्धिप्रकाश' में कई अच्छे लेख प्रकाशित हुए हैं। परन्तु इनमें अधिकतर पत्र थोड़े दिनों के बाद बन्द हुए और जो निकलते थे वे नियमित रूप से प्रकाशित नहीं होते थे। अतः 'कविवचन-सुधा' के प्रकाशन तक निबंध-रचना की दृष्टि से कोई विशेष महत्वपूर्ण पत्रिका दिखाई नहीं पड़ती।

सन् १८५७ के राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण भारत की सामाजिक, शैक्षणिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियों में परिवर्तन के लक्षण दिखाई देने लगे और भारत के नवजागरण के लिए पत्रिकाओं के प्रकाशन की आवश्यकता हुई। 'कविवचन-सुधा' (१८६८) के प्रकाशन के बाद भारत में नवविकारों के प्रसारार्थ अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन होने लगा और हरएक पत्रिका में विचारात्मक लेख प्रकाशित होते थे। इन लेखों के रचयिताओं के सामने निबंध के रचना-विधान का कोई आदर्श नहीं था और वे अपने लेखों द्वारा अपने विचार जनता तक पहुँचाने का कार्य करते थे, इसलिए उनकी रचनाओं में अनेक प्रकार के विषयों पर विचार मिलते हैं। समाज की तत्कालीन समस्याओं से संबंधित इन लेखों का प्रचार जनता में था। इसलिए निबंध-साहित्य की प्रगति की दृष्टि से भारतेन्दु कालीन पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन एक महत्वपूर्ण घटना है।

---

१. **सं० लाला भगवानदीन और रामदास गौड़, 'हिन्दी भाषा सार', द्वि० सं०, पृ० ५।**

भारतेन्दु के उदय से ही हिन्दी निबंध की परम्परा का आरम्भ माना जाता है। भारतेन्दु और उनके समकालीन विद्वानों ने समय-समय पर अपने विचार प्रकट करने के लिए जो लेख तत्कालीन भिन्न-भिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित किए हैं उनमें ही हिन्दी के प्रारम्भिक निबंधों का दर्शन मिलता है। हिन्दी निबंध का प्रारम्भिक रूप 'कविवचन-सुधा' में प्रकाशित निबंधों में मिलता है। सन् १८७० की 'कविवचन-सुधा' (जि: २, नं० १) पत्रिका में 'उदारता' और 'परदा' नामक दो निबंध प्रकाशित हुए हैं। 'उदारता' एक पन्ने का छोटा निबंध है और उसे पढ़ने से यह लगता है कि वंगदेशीय श्रीमती महाराणी स्वर्णमयी देवी ने 'पत्रिका' की उन्नति के लिए पचास मुद्रा की सहायता दी थी, इसी से शायद प्रभावित होकर यह निबंध लिखा है। 'परदा' शीर्षक निबंध में तत्कालीन परदा-पद्धति का विरोध किया है। इसमें स्पष्ट कहा गया है—

**"स्त्रियाँ आपसे आप व्यभिचारिणी नहीं होतीं, केवल मनुष्य उनको बहकाते हैं और धोका देते हैं।"[1]**

इस प्रकार इसी वर्ष में 'हिन्दी भाषा'[2] 'लेवी प्राण लेवी'[3] 'पराधीन सुख सपनेहु नाहीं'[4] आदि शीर्षकों के लेख टिप्पणी के रूप में मिलते हैं। इस प्रकार १० जनवरी सन् १८७२ के अंक में 'हिन्दी कविता' शीर्षक निबंध मिलता है। इसी वर्ष ९ मार्च तथा २५ मार्च के अंक में Public Opinion in India और Failure of Moonshi Peary Lall's Scheme of Reduction' शीर्षक निबंध अंग्रेजी में प्रकाशित हुए हैं। इन सब निबंधों में तत्कालीन समस्याओं पर विचार किया गया है।

आधुनिक निबंधों का प्रारम्भिक रूप भारतेन्दु हरिश्चंद्र के निबंधों में मिलता है। इस दृष्टि से 'कविवचन-सुधा' में प्रकाशित 'मणिकर्णिका' (१८७२) और 'हरिश्चंद्र मैगेजीन' में प्रकाशित 'काशी' (१८७३) शीर्षक निबंध महत्वपूर्ण माने जा सकते हैं। 'मणिकर्णिका' निबंध का प्रारम्भ इस ढंग से किया है:—

**"अहा! संसार का भी कैसा स्वरूप है और नित्य यह कुछ से कुछ हुआ जाता है, पर लोग इसको नहीं समझते और इसी में मग्न रहते हैं। जहाँ लाखों रुपये के बड़े-बड़े और दृढ़ मंदिर बने थे वहाँ अब कुछ भी नहीं है और जो लाखों रुपये अपने हाथ से उपार्जन व्यय करते थे उनके वंशवाले भीख माँगते फिरते हैं नित्य-नित्य नए-नए स्थान बनते जाते हैं वैसे ही नए-नए लोग होते जाते हैं।"[5]**

---

१. 'कविवचन-सुधा' भाद्रपद शुद्ध १५, संवत् १९२७ जि० २ नं० ७, पृ० २।
२. " आश्विन कृष्ण ३०, " " " " " २ " २।
३. " कार्तिक कृष्ण ३०, " " " " " ५ "।
४. कविवचन-सुधा पौष १५, सं० १९२७, जि: २, नं० ९१।
५. 'भारतेन्दु-ग्रंथावली (३)' संपादक—ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० १३७-३८।

भारतेन्दु के 'काशी' (१८७२) शीर्षक निबंध में उनकी वर्णन शैली का परिचय इस रूप में मिलता है—

**"मैं इसमें काशी के तीन भाग का वर्णन करूँगा, प्रथम भाग में पंचक्रोश का, दूसरे में गोसाइयों के काल का, तीसरे कुछ अन्य स्फुट वर्णन।....यहाँ जिस मुहल्ले में मैं रहता हूँ उसके एक भाग का नाम चौखम्भा है। इसका कारण यह है कि वहाँ एक मसजिद कई सौ बरस की परम प्राचीन है। उसका कुतबा काल-बल से नाश हो गया है पर लोग अनुमान करते हैं कि ६६४ बरस की बनी है और मसजिदे चिहल सुतून, यही उसकी 'तारीख' पर यह दृढ़ प्रमाणीभूत नहीं है। इस मसजिद में गोलगोल एक पंक्ति में पुराने चाल के चार खंभे बने हैं। अतएव यह नाम प्रसिद्ध हो गया है।'**[1]

इस प्रकार भारतेन्दु के आरम्भिक निबंध उनकी निबंध शैली का रूप प्रकट करते हैं। उन्होंने हिन्दी 'नई चाल' में ढलने का वर्ष सन् १८७३ दिया है, अतः उनके निबंधों का आदर्श रूप इसके बाद ही दिखाई पड़ता है।

## शैशव-काल (सन् १८७३ से सन् १९०० ई० तक)

हिन्दी में निबंध-साहित्य का आरम्भ ऐसे समय में हो रहा था जब भारतीय जीवन अत्यन्त दयनीय अवस्था में था और उसके सुधार के लिए सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलनों की आवश्यकता थी। 'हरिश्चंद्र मैगेजीन,' 'बालाबोधिनी', 'हिन्दी-प्रदीप', 'ब्राह्मण', 'क्षत्रिय-पत्रिका', 'आनन्द-कादंबिनी', 'भारत-मित्र', 'उचित वक्ता', 'सार-सुधानिधि', 'भारत जीवन' आदि पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण साहित्यिक तथा राजनीतिक विचारों का प्रचार जनता में होने लगा। इन पत्रिकाओं के प्रकाशित निबंधों में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया। जिस प्रकार अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण अंग्रेजी निबंध की प्रगति होकर उसमें विभिन्न शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ, कुछ उसी प्रकार की परिस्थिति इस काल के निबंधों के बारे में हुई है।

भारतेन्दु-युग में आधुनिक गद्य का प्रारम्भ होता है और साहित्यिक रूपों की विविध धाराओं का विकास मिलता है। इसी प्रकार इस काल के निबंध-साहित्य की विकसित परम्परा का दर्शन होता है। इस काल में भारतेन्दु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', लाला श्रीनिवासदास, बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी, श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, काशीनाथ खत्री, ठाकुर जगमोहनसिंह, भीमसेन शर्मा आदि निबंधकारों ने तत्कालीन समस्याओं से

---

१. **'भारतेन्दु-ग्रंथावली (३)' सं० ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० १३९१४०।**

संबंधित अनेक निबंध लिखे। इन निबंधों में जीवन के विविध पक्षों पर ही प्रकाश डालकर तत्कालीन विचार-धारा को चेतावनी देने का कार्य किया गया है। इस काल में सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक निबंधों की संख्या बहुत मिलती है। इस काल के निबंधकारों में ऐसा कोई निबंधकार नहीं मिलता, जिसने तत्कालीन समस्याएँ, राजनीति, प्रवासवर्णन, धर्म, समाज के दोष, पर्व-त्योहार आदि पर नहीं लिखा है। ऐसा लगता है कि इस काल के निबंधकारों ने अपने निबंधों द्वारा तत्कालीन समाज का सामूहिक चित्रण करने का प्रयत्न किया है। इस काल में जितने सामाजिक-निबंध मिलते हैं, उतने ही साहित्यिक-निबंध मिलते हैं। ऐसा लगता है कि इस काल के निबंधकारों ने अपने निबंधों द्वारा एक नये समाज के निर्माण की घोषणा की है।

हिन्दी निबंध का आरम्भिक रूप 'कविवचन-सुधा' और 'हरिश्चंद्र मैगेजीन' में प्रकाशित लेखों द्वारा उपस्थित किया गया। 'कविवचन-सुधा' साहित्यिक पत्रिका थी और उसके प्रकाशन के कारण उत्तर प्रदेश की जनता में एक प्रकार का नवचैतन्य दिखाई पड़ने लगा और जनता को अपनी भाषा, साहित्य, देश आदि के बारे में ज्ञान होने लगा। 'कविवचन-सुधा' से संबंधित 'हरिश्चंद्र मैगेजीन' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ और उसमें साहित्य, विज्ञान, राजनीति, धर्म, आलोचना, गप्प, हास्य और व्यंग्य संबंधी लेख प्रकाशित होने लगे। इस प्रकार इन दो पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण हिन्दी में सामाजिक तथा साहित्यिक निबंधों का सूत्रपात हुआ।

भारतेन्दु ने सब प्रकार के निबंध लिखे और उनका प्रकाशन 'कविवचन-सुधा', 'हरिश्चंद्र मैगेजीन' आदि पत्रिकाओं में हुआ। हिन्दी निबंध-साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु काल प्रयोग-काल माना जाता है और उसका दर्शन भारतेन्दु के निबंधों में भी दिखाई देता है। उन्होंने अनेक निबंध लिखे और निबंध की आधुनिक शैलियों का सूत्रपात किया। विषय की विविधता की दृष्टि से उनके निबंधों की संख्या बहुत कम है परन्तु उन्होंने साहित्य, समाज, इतिहास, राजनीति, आलोचना, खोज, यात्रा, जीवन-चरित आदि पर निबंध लिखे हैं।

भारतेन्दु की निबंध-कला किसी विशेष नीति से सीमित नहीं थी। उनके सामने भारत की पराधीनता का चित्र था और 'निजभाषा' की उन्नति करके ही वे भारत की सर्वाङ्गीण उन्नति करना चाहते थे। इसलिए वे अपने निबंधों के विषयों को भी सीमित नहीं कर सके। उनके सामने सुधार के अनेक रूप थे और अपने देश को सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि समस्याओं में सुधार करना था। राष्ट्रीय जागृति के लिए उस काल में जो कुछ किया जा सकता था वह कम था। देश के सामने उस समय अनेक प्रश्न थे। भाषा के बारे में महत्व का प्रश्न था। देश की आर्थिक समस्या अत्यन्त कठिन थी और सारा धन विदेश जा रहा था। पाश्चात्य सभ्यता और अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव के कारण देश की सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन हो

के पुनर्विवाह की आवश्यकता की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने इस निबंध में स्पष्ट कहा है कि इंद्रिय-निग्रह दुःसाध्य है, अतः इस प्रकार की भ्रूण-हत्या होना स्वाभाविक है। 'परदा' शीर्षक निबंध में इस प्रकार के व्यभिचार के लिए पुरुषों को ही जिम्मेदार समझा है।

भारतेन्दु ने अनेक धार्मिक निबंध लिखे हैं। इनमें 'वैष्णवता और भारतवर्ष' 'ईशू खृष्ट वा ईश कृष्ण', 'हिन्दी कुरानशरीफ', 'वैष्णव सर्वस्व', 'अष्टादश पुराण की उपक्रमणिका' आदि निबंध महत्वपूर्ण माने जाते हैं। उनके 'ईशू खृष्ट वा ईश कृष्ण' निबंध में भारत के प्राचीन गौरव की प्रेरणा के मूल का उल्लेख हुआ है। इस निबंध में भारतेन्दु ने यह दिखाया है कि समाज की उन्नति का मूल धर्म है और उसका निवास-स्थान भारतवर्ष है जहाँ से इसका प्रचार सारे विश्व में हुआ है।

राजा शिवप्रसाद के 'राजा भोज का सपना' निबंध की परम्परा भारतेन्दु के 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न', 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन' आदि व्यंग्यपूर्ण निबंधों में मिलता है। 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' में हास्य और व्यंग्य का निखरा हुआ रूप मिलता है। इसमें अतिरंजित बातों के साथ-साथ यथार्थ जीवन का चित्र खींचकर ऊपर से गम्भीर तथा भीतर से व्यंग्यपूर्ण शैली का परिचय मिलता है। इसी प्रकार 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' (१८७५) शीर्षक निबंध में हास्य की सृष्टि निर्माण की है। निबंध का आरम्भ बहुत ही मनोरंजक है—

> **"स्वामी दयानंद सरस्वती और बाबू केशवचन्द्र सेन के स्वर्ग में जाने से वहाँ एक बेर बड़ा आन्दोलन हो गया। स्वर्गवासी लोगों में बहुतेरे तो इनसे घृणा करके चीत्कार करने लगे और बहुतेरे इनको अच्छा कहने लगे। स्वर्ग में कंज़रवेटिव और लिबरल दो दल हैं।....वैष्णव दोनों दल के क्या दोनों के खारिज थे, क्योंकि इनके स्थापकगण तो लिबरल दल के थे किन्तु अब ये लोग 'रेडिकल्स' क्या महा महा रेडिकल्स हो गए हैं.....कंज़रवेटियों का दल प्रबल था, इसका मुख्य कारण यह था कि स्वर्ग के जमींदार इन्द्र गणेश प्रभृति भी उनके साथ योग देते थे क्योंकि बंगाल के जमींदारों की भाँति उदार लोगों की बढ़ती से उन बेचारों को सर्वोपरि बलि और भाग न मिलने का डर था।"[१]**

भारतेन्दु ने अपनी रचनाओं के जो समर्पण लिखे हैं उनमें हिन्दी के गद्यगीत का प्रारंभिक रूप मिलता है। उन्होंने 'भक्तिसूत्र वैजयन्ती' लेख के लिए 'समर्पण' लिखा है। उसके निम्नलिखित अंश में गद्यगीत का प्रारंभिक रूप इस प्रकार मिलता है—

---

१. सं० डा० केशरीनारायण शुक्ल 'भारतेन्दु के निबंध', प्रथम संस्करण, पृ० १०९।

**"प्राण प्यारे !**

**देखो, आज वसंतपंचमी है, इससे बहुत लोग आम के बौर वा फूलों के गुच्छे लेकर तुमको मिलने आवेंगे तो मैं भी एक फूलों की वैजयन्ती माला बनाकर लाया हूँ, अंगीकार करो, वैजयन्ती माला बनाने का यह हेतु है कि वनमाला होगी तो होली के खेल में अरुझेगी और इसके सिवाय इस वैजयन्ती से निश्चय करके ज्ञानादिक को जय करना है, पर प्यारे ! बहुत सँभलकर यह माला पहनना, टूट न जाय, क्योंकि सूत कच्चा है और कलियाँ ताजी और कोमल हैं, इससे कुम्हिलाने का भी भय है .....।"[1]**

इस प्रकार भारतेन्दु के सब निबंधों का अध्ययन किया जा सकता है। भारतेन्दु जी ने साहित्यिक कोटि में आने वाले अनेक निबंध लिखे हैं और इनमें उनकी भाषा-शैली की विविधता का परिचय मिलता है। डा० केशरीनारायण शुक्ल जी ने भारतेन्दु की भाषा-शैली के बारे में लिखा है—

**"भारतेन्दु की शैलियों के विविध प्रयोग उनके वर्णनात्मक और व्यंग्यात्मक निबंधों में देखने को मिलते हैं। उनकी अलंकारिक शैली और प्रवाह शैली के दर्शन भी यहीं होते हैं। प्रत्येक परिस्थिति, पात्र और भाव के अनुरूप अभिव्यंजन की क्षमता उनमें पूरा-पूरा थी। इसी से उनके निबंधों में कहीं चलती भाषा की छटा दिखाई पड़ती है, कहीं मुहावरों की बंदिश है और कहीं शब्दक्रीड़ा या चमत्कार की प्रवृत्ति है।"[2]**

भारतेन्दु के निबंधों में शैलियों की विविधता का सुन्दर चित्रण मिलता है। उनके हरएक निबंध में एक सजीव चेतना की धारा प्रवाहित रूप में मिलती है और वह है राष्ट्रीय जागरण की चेतना। भारतेन्दु की इस राष्ट्रीय भावना की परम्परा का विकास उस काल के अनेक गद्य-लेखकों में मिलती है। इसी कारण भारतेन्दु के जीवन-काल में ही भारतेन्दु-मंडल की स्थापना हुई और इस मंडल द्वारा भारतेन्दु की मृत्यु के बाद भी भारतेन्दु की राष्ट्रीय तथा सामाजिक चेतना का प्रचार किया गया। भारतेन्दु के निबंध उस काल की प्रगति की निश्चित दिशा प्रकट करने वाले दीपस्तंभ हैं, अर्थात् उनके निबंधों का जितना साहित्यिक तथा सांस्कृतिक महत्व है उतना ही राजनीतिक तथा सामाजिक भी है। भारतेन्दु के निबंधों की परम्परा का विकास उनके समकालीन तथा भविष्य के निबंधकारों की रचनाओं में मिलता है।

भारतेन्दु द्वारा हिन्दी-निबंध का सूत्रपात हुआ और उसकी विकसित परम्परा

---

**१. सं० ब्रजरत्न दास; 'भारतेन्दु-ग्रंथावली' (३), प्रथम संस्करण, पृ० ५१६**

**२. सं० डा० केशरीनारायण शुक्ल 'भारतेन्दु के निबंध', प्रथम संस्करण वक्तव्य, पृ० १०३**

का रूप पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० प्रतापनारायण मिश्र के निबंधों में दिखाई देता है। भट्टजी तथा मिश्रजी भारतेन्दु के समकालीन हैं और भारतेन्दु के बाद दोनों ने हिन्दी गद्य को परिमार्जित तथा व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया। पं० प्रतापनारायण मिश्र को अपनी साहित्य-साधना के लिए कम अवकाश मिला, क्योंकि बालकृष्ण भट्ट के जन्म से १२ वर्ष बाद उनका जन्म हुआ और उनकी मृत्यु भट्टजी के जीवनकाल में हुई। इस तरह भट्टजी के जन्मकाल में मिश्रजी के जन्म और मृत्यु के अध्याय समाप्त हुए हैं। अतः इन दोनों लेखकों की रचनाएँ समकालीन हैं।

भारतेन्दु की निबंध-कला का विकसित रूप भट्टजी के निबंधों में मिलता है। भारतेन्दुजी ने जितने प्रकार के निबंध लिखे हैं उतने प्रकार के निबंध भट्टजी ने अपनी शैली में लिखे हैं। भट्टजी भारतेन्दुकालीन विचार-प्रधान निबंधकारों के प्रतिनिधि हैं और उन्होंने अपने निबंधों में आत्मीयता का पूरा ख्याल किया। भट्टजी ने अनेक निबंध लिखे हैं और उनका संकलन 'साहित्य सुमन', 'भट्ट निबंधावली', 'भट्ट-निबंधमाला' आदि निबंध-संग्रहों के रूप में प्रकाशित हुआ है। भट्टजी ने अपने निबंधों को ऐसे आकर्षक शीर्षक दिये हैं कि पाठक निबंधों के शीर्षक पढ़ते ही समझता है कि जो बात वह जानना चाहता था उसका विश्लेषण निबंध के रूप में उसके सामने प्रस्तुत है। 'नयी बात की चाह लोगों में क्यों होती है!' 'हमारे सब गुण क्यों फीके हो रहे हैं', 'सुख दुख का अलग-अलग विवेचन' आदि निबंधों के शीर्षक पढ़ कर पाठकों में निबंध पढ़ने की उत्सुकता बढ़ती है। परन्तु भट्टजी अपने निबंधों का प्रारम्भ ही ऐसे ढंग से करते हैं कि पाठक में एक प्रकार की तन्मयता दिखाई पड़ती है। उनकी 'चढ़ती उमर' शीर्षक निबंध का आरम्भ बहुत ही दिलचस्प है—

**"ईश्वर की सृष्टि में चढ़ती उमर भी क्या ही सुहावनी होती है, जिसकी आमद में क्या स्त्री क्या पुरुष कुरूप से कुरूप भी थोड़े समय के लिये अत्यन्त भले और सुहावने मालूम होने लगते हैं। लिखा भी है—**

**"प्राप्ते च षोडशे वर्षेसूकरीचाप्सरायते।"**

**नई जवानी, नये खयाल, नई उमंग, नई नई सजधज, नये हौसले, चढ़ती उमर के उभाड़ में सब नया ही नया, जर्जरित सड़े पुराने का कहीं लेश या छुवाव भी नहीं।"[1]**

इसी प्रकार भट्टजी ने अपने निबंधों के शीर्षक ऐसे ढंग से चुने हैं कि पाठकों को उनके शीर्षकों को पढ़ने से ही निबंध के विषय-वस्तु का स्पष्ट बोध होता है। भट्ट-जी ने अपने निबंधों को 'साहित्य जन-समूह के हृदय का विकास है', 'अंग्रेजी तालीम और जातीय शिक्षा', 'मनुष्य की बाहरी आकृति मन की एक प्रतिकृति है', 'पुरुष-अहेरी की

---

१. सं० देवीदत्त शुक्ल 'भ' निबंधावली', प्र० संवत् १८९८, पृ० १०३

स्त्रियाँ अहेर हैं', 'सबसे भले हैं मूढ़ जिन्हें न व्यापै जगत गति', 'संसार सुख का सार है हम उसे दुख का आगार कर रहे हैं', 'काम और नाम दोनों साथ साथ चलते हैं', आदि लम्बे-लम्बे शीर्षक देकर पाठकों का मन अपने निबंधों के प्रति आकर्षित किया। उनके 'चंद्रोदय' निबंध का आरम्भ किसी मनोवेधक कहानी के प्रारम्भ जैसे लगता है—

**"अँधेरा पाख बीता, उजेला पाख आया। पश्चिम की ओर सूर्य डूबा, और वक्राकार हँसिया की तरह चंद्रमा उसी दिशा में दिखलाई पड़ा। मानो कर्कशा के समान पश्चिम दिशा सूर्य के प्रचंड ताप से दुखी है, क्रोध में आ इसी हँसिया को लेकर दौड़ रही है, और सूर्य भयभीत हो पाताल में छिपने के लिए जा रहा है। अब तो पश्चिम ओर आकाश सर्वत्र रक्तमय हो गया।"[1]**

भट्टजी के निबंधों की यह एक महत्वपूर्ण बात है कि उन्होंने अपने पाठकों की रुचि का ध्यान रखकर अपने निबंधों को लिखा है। उनके सामाजिक निबंधों में उनके हृदय में स्थित भारत की राष्ट्रीय भावना और दासता के प्रति एक घोर चिन्ता की झलक स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उनके 'अंग्रेजी तालीम और जातीय-शिक्षा', 'हमारे गुण क्यों फीके हो रहे हैं', 'नायमात्मा बलहीनेन लक्ष्यते' आदि निबंधों में उन्होंने अपने देश की कमजोरियों को स्वीकार कर के भविष्य के बारे में भी संकेत दिये हैं। भट्टजी के मन में विदेशी सभ्यता से प्रभावित भारतीयों के प्रति आदर नहीं था। इसलिए उन्होंने अपने निबंधों में खूब व्यंग्य किया है।

भट्टजी का सारा जीवन अध्ययन, मनन और चिन्तन में व्यतीत होने के कारण उनके निबंधों में विचारात्मक पक्ष अधिक है। संस्कृत के अच्छे पंडित होने के कारण संस्कृत-साहित्य का भावगांभीर्य भी इनके निबंधों में मिलता है। उनका अंग्रेजी साहित्य का भी अध्ययन गंभीर है और इसकी छाप उनके निबंधों में मिलती है। 'पुरुष-अहेरी की स्त्रियाँ अहेर हैं' निबंध के आरम्भ में अंग्रेजी कवि 'टेनीसन' की कविता की तीन पंक्तियाँ देकर उनके आधार पर भट्टजी ने निबंध का प्रारम्भ इस प्रकार किया है—

**"यह पुरानी कहानी है। शिशुता की झलक के मिटते ही ज्यों ही तरुणाई की गरमाहट का संचार होने लगता है कि यह अहेरी चारों ओर अपने अहेर की खोज में आँखें दौड़ाने लगता है। पर लाचार केवल इतने ही से हो जाता है कि किसी-किसी अवस्था में समाज के जटिल बन्धन उसे ऐसा जकड़ लेते हैं कि वह अपने स्वेच्छाचार को बर्ताव में नहीं ला सकता, और कभी,-कभी अपने हस्तगत शिकार को भी छोड़ बैठता है।"[2]**

भारतेन्दु के बाद भट्टजी एक ऐसे निबंधकार हैं जिन्होंने सभी प्रकार के निबंध

१. स्व० पं० बालकृष्ण भट्ट, 'साहित्यसुमन' पंचम आवृत्ति १९९४, पृ० ११९

२. स्व० पं० बालकृष्ण 'साहित्य सुमन' पंचम आवृत्ति, संवत् १९९४, पृ० ४१

लिखने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार उनके निबंधों की यह भी एक विशेषता है कि उनमें आत्मीयता के साथ भावात्मकता भी अधिक थी। उनका 'चंद्रोदय' निबंध उनके भावात्मक निबंधों का प्रतिनिधित्व कर सकता है। इस निबंध में वर्णनात्मक पक्ष इतना भावात्मक हो गया है कि उसमें विचारात्मक पक्ष का ध्यान भी नहीं रहता। लेकिन उनके 'मुग्ध माधुरी', 'पौगंड वा कैशोर' जैसे निबंधों में भावात्मकता के साथ विचारात्मकता पर भी ध्यान दिया गया है। इस प्रकार भट्टजी के निबंधों में निबंध-साहित्य की चढ़ती परम्परा का दर्शन होता है।

पं० बालकृष्ण भट्ट के समान पं० प्रतापनारायण मिश्र ने अपने निबंधों द्वारा हिन्दी निबंध-साहित्य को समृद्ध किया। उन्होंने अपने निबंधों के लिए सामान्य विषयों को चुना है। उनके निबंधों में सामाजिक तथा सामयिक विषयों की अधिकता स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उन्होंने 'बुढ़ापा', 'भौं', 'धोका', 'किस पर्व में किस पर आफत आती है', 'दाँत', 'ट', 'द' आदि विषयों पर लिखा है परन्तु जीवन की संपूर्णता का चित्र कम निबंधों में मिलता है। उन्होंने एक कलाकार के रूप में अनेक व्यक्तिप्रधान निबंध लिखकर अपनी स्वच्छंद भाषा-शैली का नमूना पाठकों के सामने उपस्थित किया। उनके निबंधों में एक प्रकार की आत्मीयता मिलती है और उन्हें पढ़ कर ऐसा लगता है कि वे जो-जो सोचते हैं उन्हें लिपिबद्ध करते चले जाते हैं। इसलिए उनके निबंधों का नियंत्रण उनकी विचारधारा करती है तथा विषय के लिये इतना महत्व नहीं रहता।

मिश्रजी के 'आँख', 'भौं,' 'दाँत,' 'ट,' 'द' आदि निबंधों में उनके विचारों का चुलबुलापन और अनुभवों का हलकापन दिखाई पड़ता है। 'धोका' 'बालक,' 'खुशामद', 'परीक्षा' आदि निबंधों में चुलबुलापन के साथ भावगांभीर्य भी मिलता है। परन्तु 'मनोयोग', 'शिवमूर्ति' आदि निबंधों में उनके अनुभवों का सार तथा गांभीर्य स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है। उन्होंने साहित्यिक निबंधों की अपेक्षा सामाजिक निबंध अधिक लिखे हैं। इन सामाजिक निबंधों में भारतेन्दुयुगीन सामाजिक राजनीतिक आदि समस्याओं तथा तत्संबंधी विचारों का विवेचन मिलता है। 'देशी कपड़ा' नाम के उनके निबंध में भारत के व्यापार तथा उद्योग की उन्नति के प्रति उनकी आस्था स्पष्ट दिखाई देती है। धर्म-भावना से प्रेरित होकर उन्होंने 'गंगाजी', 'गोरक्षा'', 'धरती माता', 'होली' आदि पर निबंध लिखे हैं। इनके छोटे-छोटे निबंधों में भारतेन्दु युग का व्यंग्य-विनोद और हास-परिहास दिखाई पड़ता है। उनके 'द' निबंध में उनके शब्द-भंडार का ज्ञान दिखाई पड़ता है—

**'दुष्ट, दुःख, दुर्दशा, दास्य, दौर्बल्य, दण्ड, दम्भ, दर्प, द्वेष, दानव, दर्द, दाग, देव, दगा। फारसी में देव (राक्षस)।, दोजख, दम का आरजा, दरिन्दा, (हिंसक जीव) दुश्मन, दार, (सूली) दिक्कत इत्यादि सैकड़ों शब्द आपको ऐसे मिलेंगे जिनका स्मरण करते ही रोंगटे खड़े होते हैं।"[1]**

---

१. सं० रमाकान्त त्रिपाठी, 'प्रताप-पीयूष' प्रथम संस्करण १९३३, पृ० ७९

मिश्रजी की निबंध शैली का आदर्श उनके 'मनोयोग' तथा 'शिवमूर्ति' निबंधों में मिलता है। इन दोनों निबंधों में उनके विचारों की परिपक्वता तथा उनके व्यक्तित्व की संपूर्णता का परिचय मिलता है। वे 'शिवमूर्ति' निबंध में शिवमूर्ति पर अनेक दृष्टि-कोणों से विचार कर निबंध के अन्त में अपना निर्णय इस प्रकार देते हैं—

**"जहाँ तक सहृदयता से विचार कीजियेगा वहाँ तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के बिना वेद झगड़े की जड़, धर्म बे सिर पैर के काम, स्वर्ग शेखचिल्ली का महल, मुक्ति प्रेत की बहिन है। ईश्वर का तो पता लगना कठिन है, ब्रह्म शब्द ही नपुंसक है। और हृदय-मन्दिर में प्रेम का प्रकाश है तो संसार शिवमय है क्योंकि प्रेम ही वास्तविक शिवमूर्ति अर्थात् कल्याण है।"[१]**

एक मननशील चिन्तक तथा एक अच्छे विचारक के रूप में शिवमूर्ति निबंध में एक अच्छे तथा वयस्क निबंधकार के रूप में मिश्रजी का दर्शन होता है। इनके हरएक निबंध में उनकी आत्मीयता, उमंग भरा व्यक्तित्व, उक्ति का चमत्कार और व्यंग्य की बौछार किसी न किसी रूप में मिलती है।

बदरीनारायण चौधरी, राधाचरण गोस्वामी, श्रीनिवासदास आदि में भारतेन्दु के निबंधों की विकसित परम्परा मिलती है। भारतेन्दुयुगीन सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं का प्रभाव 'प्रेमघन' जी के निबंधों में मिलता है। वे काँग्रेस की राजनीति से प्रभावित थे और उन्होंने स्वदेशी भावना, अंग्रेजी सभ्यता आदि विषयों पर अपनी लेखनी चलाई। उनके 'नेशनल काँग्रेस की दुर्दशा' १६, 'भारतीय प्रजा के दो दल' १७ इन दो निबंधों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रेमघनजी भारतीय राजनीति पर अधिक लक्ष देते थे। वे चाहते थे कि हिन्दू और मुसलमान एक होकर रहें और देश की स्वाधीनता को प्राप्त करें। राधाचरण गोस्वामी के निबंधों में व्यंग्य की मात्रा अधिक मिलती है और इस दृष्टि से उनके 'यमपुरी की यात्रा' और 'स्वर्ग की सैर' निबंध महत्वपूर्ण माने जाते हैं। 'यमपुरी की यात्रा' में भारतेन्दु के 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न' निबंध की शैली का दर्शन मिलता है। उन्होंने इस निबंध में तत्कालीन राजनीतिक उत्पीड़न, सामाजिक पाखंड, और धार्मिक अंधश्रद्धाओं पर एक भयंकर व्यंग्य कस कर किया है। इसी प्रकार उनके 'स्वर्ग की सैर' निबंध में अंग्रेजों पर अच्छा व्यंग्य मिलता है।

गोस्वामीजी ने इस निबंध द्वारा अपनी अंग्रेजों के प्रति द्वेषभावना प्रकट की है और गोरे अफसरों के पैर चूमने वालों की हँसी उड़ाई है। उनकी निबंध-कला की भावपूर्ण शैली का दर्शन इस निबंध के प्रारम्भ तथा अन्त में इस प्रकार मिलता है—

---

१. सं० रमाकान्त त्रिपाठी, 'प्रताप-पीयूष', प्रथम संस्करण, १९३३, पृ० १४६-१४७

**आरंभ—'रात अँधेरी, मेघों मे आकाश शोभित, बिजली चमक कर इस अंधकार में छटा दिखा रही है, और यह बात प्रकाशित कर रही है कि इस समय संसार में मेरा ही राज्य है।'**

**अंत—'मैं अकेला पड़ा हूँ, वही पानी बरस रहा है, बिजली चमकती है, बादल गरज रहा है।'**

लाला श्रीनिवासदास ने निबंध के क्षेत्र में भी प्रवेश किया है। उनकी सुबोध तथा उपदेशपूर्ण शैली का परिचय उनके 'सदाचरण' (१८८३) निबंध द्वारा दिया जा सकता है। निबंध का प्रारम्भ इस रूप में किया है—

**"मनुष्य का सुख, दुख, हानि, लाभ, उन्नति, अवनति, और यश-अपयश बहुधा उसके आचरण पर निर्भर है। अतएव संसार की सुख-समृद्धि के लिए सदाचरण का विवर्ण किया जाय तो आशा है कि सुविज्ञ पाठकों को अरुचिकर न होगा। उसकी पाठशाला उसका घर है।"[1]**

भारतेन्दुकालीन निबंधों का निर्माण एक विशिष्ट परिस्थिति के अनुसार हुआ। तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के कारण अनेक लेखकों ने अपने विचार लोगों के सामने रखे। इस काल की यह एक विशेषता है कि पाठक एक दूसरे के नजदीक आये और देश की प्रगति के मार्ग के बारे में भी सोचने लगे। इस काल के निबंधकारों को पाठकों की रुचि का ख्याल करना पड़ा। इन्होंने अपने विचार निबंध की विविध शैलियों द्वारा उनके सामने रखे। निबंधकार अपने निबंधों द्वारा सीधे अपने पाठकों तक पहुँच सकता है। इसलिए इस काल के लेखकों ने अपने विचारों तथा भावोद्गारों का ठीक प्रकाशन करने के लिए अनेक निबंध लिखे। अर्थात् इस कार्य में तत्कालीन प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं का सहयोग महत्वपूर्ण है।

इस काल के निबंधों की यह एक विशेषता है कि उनके द्वारा भाषा को एक सजीव तथा रोचक रूप मिला और निबंधों में भावाभिव्यंजनात्मक शैली का सूत्रपात हुआ। इस काल के निबंधकारों ने अपने निबंधों के लिये तत्कालीन समाज की समस्याओं से संबंधित विषय चुनकर अपने विचारों द्वारा उन पर प्रकाश डाला। उन्होंने अपने विषयों की स्थापना करने के लिए निबंधों की भाषा रोचक तथा स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न किया और निबंधों में अधिकतर वर्णनात्मक तथा भावात्मक शैली का प्रयोग किया।

इस काल के निबंधों का निर्माण देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की दृष्टि से हुआ है। देश के सामने अनेक प्रश्न थे और पाश्चात्य सभ्यता तथा अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के कारण लोक-जीवन में परिवर्तन के लक्षण दिखाई दे रहे थे। इस काल के लेखकों को तत्कालीन जीवन का मार्ग-प्रदर्शन करना था। इसलिए उन्होंने अपने विचार

---

**१. भारतेन्दु (मासिक पत्र) १७ अगस्त, १८८३, पुस्तक १, अंक ५, पृ० ६५**

निबंधों द्वारा लोगों के सामने रखे। इस काल में देश के सामने भारतीय दासता का प्रश्न था और देश की स्वाधीनता प्राप्त करने की दृष्टि से लोगों के मन में स्वभाष, स्वदेश, और स्वाधीनता के प्रति तीव्र आकर्षण निर्माण करना इस काल के लेखकों का काम था। अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए इस काल के निबंधकारों ने अपने निबंधों में खण्डनमंडन, बुद्धिवाद और तर्क को अधिक महत्व दिया और अपने विचारों को विभिन्न शैलियों में प्रकट किया। इसी कारण इस काल के निबंधों में भाषा की एक विकसित परम्परा मिलती है और उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को व्यक्त करने की क्षमता निर्माण होने लगी तथा रोचकता की दृष्टि से रचनाओं में हास्यपूर्ण शैली का भी प्रयोग होने लगा।

## विकासकाल (१९०० से सन् १९२० ई० तक)

हिन्दी निबंध की दृष्टि से वीसवीं शताब्दी का आरम्भ एक नये युग का दर्शन देता है। 'सरस्वती' तथा 'सुदर्शन' के प्रकाशन के कारण नये-नये गद्य-लेखक सामने आये। 'हिन्दी प्रदीप' में भी अनेक निबंध प्रकाशित हो रहे थे। इसी तरह पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० माधव प्रसाद मिश्र तथा पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबंधों द्वारा इस काल का निबंध-साहित्य विकसित दिशा की ओर बढ़ने लगा। लेखक और पाठक के बीच घनिष्ठ संपर्क स्थापित होने के कारण लेखक एक मित्र के नाते अपने विचारों को निबंधों द्वारा व्यक्त करने लगे।

पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी के सुप्रसिद्ध निबंधकार विष्णुकृष्ण शास्त्री चिपलूणकर के 'निबंधमाला' निबंध-संग्रह का अनुवाद 'निबंधमालादर्श' शीर्षक से प्रकाशित किया। इसी प्रकार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'बेकन-विचार-ग्रंथावली' के रूप में अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबन्धकार बेकन के ३६ निबंधों का अनुवाद प्रकाशित किया। इन अनूदित निबंधों में अधिकतर विचारप्रधान निबंध थे और इनके द्वारा हिन्दी निबंधकारों के सामने निबंध का आदर्श रखा गया। एक प्रेरणा के रूप में ये अनूदित निबंध हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। भारतेन्दु युग में हिन्दी निबंधों का सूत्रपात हुआ था और अनेक निबंधकारों ने अपने निबंध उपस्थित किये थे। हिन्दी निबंधों की यह परम्परा पं० माधवप्रसाद मिश्र, पं० बालमुकुन्द गुप्त, गोविन्दनारायण मिश्र, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, मिश्रबंधु आदि के निबंधों में मिलती है।

'सुदर्शन' पत्रिका संपादक पं० माधवप्रसाद मिश्र ने राजनीति, साहित्य, तीर्थ-स्थान, पर्व-त्योहारों आदि विषयों पर भावात्मक, विचारात्मक तथा वर्णनात्मक निबंध लिखे हैं। मिश्रजी भारतीय संस्कृति तथा सनातन धर्म के कट्टर समर्थक थे। 'सुदर्शन' पत्रिका में उनके अधिकतर लेख छप चुके हैं। भारतेन्दु युग में पर्व-त्योहारों तथा भिन्न-भिन्न ऋतुओं से संबंधित उत्सवों पर निबंध लिखने की जो परम्परा मिलती है उसका विकसित रूप इनके 'श्री पंचमी', 'कुम्भ पर्व', 'श्रावण के त्योहार', 'विजयादशमी' आदि

निबंधों में मिलता है। 'वसंत पंचमी' निबंध में उनकी निबंध-शैली का रूप इस प्रकार मिलता है—

**"माघ सुदी पंचमी का नाम 'वसंत पंचमी' है और इसका दूसरा नाम 'श्री पंचमी' भी है। वसन्तपंचमी नाम होने का यह कारण है कि इसी दिन से 'वसन्तोत्सव' का प्रारम्भ होता है। यों तो वसन्त ऋतु में चैत्र, वैशाख इन दो महीनों की गणना है, किन्तु हमारे यहाँ के सहृदय पुरुष इसी दिन से वसन्त को अलापने लग जाते हैं। इसी दिन से कुछ और ही प्रकार का पवन चलने लगता है, और ही प्रकार के मन हो जाते हैं।"[1]**

मिश्रजी भावना-प्रधान निबंधकार हैं और उनके निबंधों में भावनाओं का आवेग, माधुर्य, सरस चित्रण आदि का दर्शन होता है। उनके 'सब मिट्टी हो गया' जैसे निबंधों में एक अत्यंत मार्मिक निबंधकार का परिचय मिलता है। एक बच्चे के मुँह से बाहर निकले हुए 'सब मिट्टी हो गया' इस वाक्य को लेकर मिश्र जी ने अपनी मार्मिक अनुभूति द्वारा अपने हृदय में संचित देश-प्रेम का दर्शन कराया है।

भारतेन्दुकालीन निबंधों की व्यंग्यपूर्ण शैली का निखरा हुआ रूप पं० बालमुकुन्द गुप्त के निबंधों में मिलता है। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक विषयों को लेकर अनेक गद्य-रचनाएँ प्रस्तुत की हैं जिनमें 'शिव शम्भु का चिट्ठा' उनकी बहुत प्रसिद्ध रचना है। गुप्तजी किसी भी साधारण या गंभीर विषय पर लिखते समय 'शिव-शम्भु' के रूप में ही अपने विचार प्रकट करते थे। उनके विचार, भावना, अनुभव आदि के पीछे गुप्तजी का एक सजग तथा राष्ट्रीय व्यक्तित्व काम करता है। 'शिवशम्भु' के चिट्ठों में 'बनाम लार्ड कर्जन', 'श्रीमान का स्वागत', 'वैसराय का कर्तव्य', 'आशा का अन्त', 'बंग विच्छेद' आदि रचनाएँ सन् १९०३ से १९०५ कि बीच की मिलती हैं। इन चिट्ठों में एक प्रकार का जोश है जो लार्ड कर्जन की राजनीति के विरुद्ध एक कड़ा विरोध करता हुआ दिखाई पड़ता है। गुप्तजी ने इन चिट्ठों के द्वारा अपने दिल की बातें बिलकुल दिल खोलकर कही हैं। उनमें घृणा, मत्सर या और किसी प्रकार की द्वेष-भावना नहीं है। 'एक दुराशा' चिट्ठे में उनकी व्यंग्यात्मक शैली का रूप इस प्रकार प्रकट हुआ है:—

**"यदि वसन्त में वर्षा की झड़ी लगे, तो गाने वाले को क्या मलार गाना चाहिये? सचमुच बड़ी कठिन समस्या है। कृष्ण है, उद्धव है, पर व्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते! राजा है, राजप्रतिनिधि है, पर प्रजा की उन**

---

१. सं० चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा: 'माधव प्रसाद मिश्र-निबंधमाला' संवत् १९९२, तृ० खं० पृ० १

**तक रसाई नहीं ! सूर्य है, धूप नहीं ! चन्द्र है, चाँदनी नहीं ! माई लार्ड ! नगर में हैं, पर शिवशम्भु उनके द्वार तक नहीं फटक सकता है, उनके घर चलकर होली खेलना तो विचार ही दूसरा है। माई लार्ड के घर तक प्रजा की बात नहीं पहुँच सकती। बात की हवा नहीं पहुँच सकती।"[१]**

गुप्तजी की भाषा बहुत ही चलती, सजीव तथा विनोदपूर्ण है। किसी भी साधारण विषय पर विनोद का रंग चढ़ाने की शक्ति उनकी लेखनी में थी। उनके निबंधों में भावात्मकता तथा कथात्मकता अधिक है और उनके विनोदपूर्ण तथा वर्ण-नात्मक विधानों के भीतर उनके भाव और विचार लुके-छिपे से रहते थे।

भारतेन्दुकालीन लेखकों में पं० गोविंदनारायण मिश्र का नाम अत्यंत प्रसिद्ध है। उनके निबंध 'सारसुधा निधि', 'उचित वक्ता' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होते थे। उनके निबंधों में भाषा का आडंबर मिलता है। 'कवि और चित्रकार' (अपूर्ण), 'आत्माराम की टें टें' (अपूर्ण), 'विभक्ति विचार' आदि निबंध उनकी भाषा शैली का रूप प्रस्तुत करते हैं।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के निबंधों में विचारों की मौलिकता, चिन्तन की स्वाभाविकता तथा प्रसंगों का गांभीर्य मिलता है। उन्होंने 'कछुआ धरम', 'मारेसि मोहिं कुठाँव', 'संगीत' आदि निबंध लिखे हैं। इनके निबंधों में व्यापक तथा गंभीर विनोद का पुट सर्वत्र दिखाई पड़ता है और वे अपने निबंधों में प्रसंगों का गुंफन ऐसे ढंग से करते हैं कि एक प्रसंग पर लिखते-लिखते किसी और विषय पर लिखते चले जाते हैं। फिर भी उनकी शैली में एक प्रकार की व्यापकता तथा भावसूत्रता रहती है। उनका 'कछुआ धरम' एक व्यंग्य-प्रधान निबंध है और उसमें ललित-निबंध की शैली का आभास मिलता है। उनकी निबंध-शैली का रूप इस प्रकार मिलता है:—

**"बौद्ध हमारे यहीं से निकले थे। उस समय के वे आर्यसमाजी ही थे। उन्होंने भी हमारे भंडार को भरा। हम तो 'देवानां प्रिय' मूर्ख को कहा करते थे। उन्होंने पुण्यश्लोक धर्माशोक के साथ यह उपाधि लगाकर इसे पवित्र कर दिया। हम निर्वाण के माने दिए का बिना हवा के बुझना ही जानते थे, उन्होंने मोक्ष का अर्थ कर दिया। अवदान का अर्थ परम सात्विक दान भी उन्होंने किया।"[२]**

द्विवेदी ने बेकन के निबंधों का अनुवाद 'बेकन विचार-रत्नावली' शीर्षक निबंध-संग्रह के रूप में पाठकों के सामने उपस्थित किया। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि साहित्य ज्ञान राशि का संचित कोष है। 'हिन्दी निबंध साहित्य' का आरंभ पत्र-पत्रिकाओं के

---

१. बालमुकुन्द गुप्त 'शिवशंभु के चिट्ठे', तीसरा संस्करण, पृ० ३८-३९

२. सं० करुणापति त्रिपाठी: 'गद्य-संकलन' १९५४, पृ० १०४,

प्रकाशन द्वारा हुआ था और द्विवेदीजी 'सरस्वती' जैसी प्रसिद्ध पत्रिका के संपादक थे। उन्होंने 'सरस्वती' द्वारा निबंध साहित्य की विकसित परंपरा को आगे बढ़ाया। द्विवेदीजी के काल में हिन्दी के निबंध चार रूपों में मिलते हैं। मासिक या साप्ताहिक पत्रिकाओं में निबंधों के रूप में छोटे-बड़े लेख निकलते थे। किसी विशेष प्रकार का प्रचार करने के लिये पैम्फलेट के रूप में भी लेख प्रकाशित होते थे तथा पुस्तकों की भूमिकाएँ लिखी जाती थीं और उनमें लेखकों के साहित्यिक विचार मिलते थे। पुस्तकों के रूप में भी निबंध छपते थे। इन निबंधों में तत्कालीन समस्याओं का चित्रण मिलता था और साहित्यिक निबंधों में समोक्षात्मक शैली का दर्शन मिलता था।

द्विवेदी युग के निबंधों में समीक्षात्मक रचनाएँ मिलती हैं। भाषा सुधार की दृष्टि से भी द्विवेदी युग में अनेक प्रयत्न किये गये हैं। द्विवेदीजी के साहित्यिक निबंधों द्वारा तत्कालीन निबंध का मार्गप्रदर्शन हुआ। द्विवेदीजी के निबंधों की तीन शैलियाँ मानी जाती हैं। उन्होंने भावात्मक, वर्णनात्मक तथा चिन्तनात्मक निबंध लिखे हैं। संक्षिप्त जीवन-चरित लिखने की शैली का प्रयोग उनके निबंधों में मिलता है। द्विवेदीजी ने ऐसे चरित-व्यक्तियों को अपने निबंधों के लिए चुना है कि जिन्होंने लोककल्याण का उद्देश्य अपने सामने रखकर अपने जीवन का ध्येय लोक-सेवा करना ही रखा था। अर्थात् ऐसे चरित्रों को उपस्थित करके द्विवेदोजी ने अपने पाठकों के सामने लोक-कल्याण का आदर्श उपस्थित रखा। उनके निबंधों में भावात्मक निबंधों की परंपरा नहीं दिखाई पड़ती, परन्तु निबंधों के बीच में कहीं-कहीं उनके भावात्मक हृदय का परिचय मिलता है। द्विवेदीजी का स्थान उनके चिन्तनात्मक निबंधों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इन निबंधों में उनके अधिकतर व्याख्यात्मक तथा आलोचनात्मक शैली ही के निबंध मिलते हैं। इस प्रकार उनकी गद्य-रचनाओं में आलोचना और निबंध का समन्वय मिलता है। उनके निबंधों में आलोचनात्मक निबंध श्रेष्ठ हैं और इनकी विकसित परंपरा का रूप पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पं० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, बाबू गुलाबराय, नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि की गद्य-रचनाओं में मिलता है।

द्विवेदीजी के व्याख्यात्मक निबंधों में 'ज्ञान', 'कविकर्त्तव्य', 'प्रतिभा', 'कवि और कविता' आदि विचारात्मक निबंध महत्वपूर्ण हैं। इनके कुछ ऐसे भी निबंध मिलते हैं जिनमें गवेषणात्मक शैली का दर्शन मिलता है और ऐसे निबंधों में 'राजा युधिष्ठिर का समय', 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति', 'कालिदास का समय निरूपण' आदि महत्वपूर्ण निबंध हैं।

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के आलोचनात्मक निबंधों की परंपरा का विकसित रूप श्यामसुन्दर दास के आलोचनात्मक निबंधों में मिलता है। पद्मसिंह शर्मा ने भी कई निबंध लिखे हैं। उनके निबंधों का संग्रह 'पद्मपराग', 'प्रबंध मंजरी', 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी' शीर्षक निबंध-संग्रहों में मिलता है। इनके निबंधों में भाषा की सजीवता मिलती

है। शर्माजी पहले आलोचक हैं और बाद में निबंधकार। इसलिए उनके निबंधों में आलोचनात्मक शैली का दर्शन होना स्वाभाविक है।

सरदार पूर्णसिंह के निबंधों में निबंध-शैली का स्वतंत्र रूप मिलता है। उनके निबंधों में एक प्रकार की स्वाभाविकता तथा लाक्षणिकता है। उनके 'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम', 'सच्ची वीरता', 'पवित्रता', 'कन्यादान' और 'ब्रह्मक्रान्ति' शीर्षक निबंध मिले हैं। इनके निबंधों में भाषा तथा भावों की स्वच्छंद धारा मिलती है और छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा भावों की अनेक रेखाएँ पाठकों के मन पर चित्रित की जाती हैं। पं० माधव मिश्र की निबंध-शैली की परंपरा इनके निबंधों में मिलती है। उनके निबंधों में एक नई झंकार तथा एक नई गति मिलती है। सरदारजी ने अपनी लेखनी द्वारा यह दिखाया कि निबंधकार अपने विचारों और भावों को ऐसे अनूठे ढंग से उपस्थित करता है कि निबंधों में सर्वत्र लाक्षणिकता का वातावरण तैयार होता है। उन्होंने अपने निबंधों द्वारा समाज के विचारों की रूढ़िवादिता को हटाकर उनके भीतर एक स्वतंत्र आत्मा का आदर्श दिखाया है। उनकी निबंध-शैली का रूप इस प्रकार मिलता है।

**"मेरा विश्वास है कि जिस चीज में मनुष्य के प्यारे हाथ लगते हैं, उसमें उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमें मुर्दे को जिंदा करने की शक्ति आ जाती है। —अपनी प्रियतमा के हाथ से बने हुए रूखे-सूखे भोजन में कितना रस होता है। जिस मिट्टी के घड़े को कंधों पर उठा कर, मीलों दूर से उसमें मेरी प्रेममग्न प्रियतमा ठंडा जल भर लाती है, उस घड़े का जल जब मैं पीता हूँ तब जल क्या पीता हूँ, अपनी प्रेयसी के प्रेमामृत को पान करता हूँ। जो ऐसा प्रेम-प्याला पीता हो उसके लिए शराब क्या वस्तु है? प्रेम से जीवन सदा गद्गद् रहता है। मैं अपनी प्रेयसी की ऐसी प्रेमभरी, रस-भरी, दिल-भरी सेवा का बदला क्या कभी दे सकता हूँ।"[१]**

सन् १९०० से सन् १९२० तक के निबंध-साहित्य में एक नई दिशा का सूत्रपात मिलता है। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण निबंधों का प्रकाशन सर्वसुलभ हुआ और लेखकों के विचार सीधे पाठकों तक पहुँचने लगे। इस काल के निबंधकारों को नए-नए विषय मिले और अनेक प्रकार के निबंध लिखे गये। यह काल राष्ट्रीय जागरण का था, इसलिये इस काल के निबंधों में राष्ट्रीय चेतना और सुधार की भावना का सूत्र सर्वत्र मिलता है। इस काल के निबंधों में भारतीय जनता की आशा-आकांक्षाओं का चित्रण मिलता है।

इस काल-विभाग में विवरणात्मक, भावात्मक, विचारात्मक, वर्णनात्मक आदि

---

१. सं० करुणापति त्रिपाठी, 'गद्य-संकलन' १९५२, पृ० १८५

सभी प्रकार के निबंध लिखे गये। इनमें विचारात्मक निबंधों की रचनाएँ अधिक मिलती हैं। भारतेन्दु युग में भावात्मक निबंध अधिक मात्रा में मिलते थे और इस काल में उनका रूप बौद्धिक होने लगा। आचार्य रामचंद्र के कई आरंभिक निबंध इस काल में लिखे गये हैं। इस काल के निबंधों में भाषा-शैली तथा भाव-शैली के निबंध देखने को मिलते हैं।

भाषा के सुधार का यह युग था। इसलिये भाषा का शुद्ध तथा सरल रूप इस काल के निबंधों में दिखाई पड़ता है। गद्यगीत का आरंभ इस काल में ही हुआ। इस काल के निबंधों में कहीं-कहीं सहज लालित्य दिखाई पड़ता है लेकिन द्विवेदी कालीन नीति-धारा में इस प्रकार के निबंधों की परंपरा के लिये यह काल उपयुक्त नहीं था। आधुनिक निबंध के विकसित रूप की परंपरा का दर्शन सन् १९२० के बाद में ही दिखाई पड़ता है।

## विस्तार-काल (सन् १९२१ से सन् १९३५ ई० तक)

द्विवेदी युग की समाप्ति और नये युग का आरंभ इस काल की विशेषता है। इस काल-विभाग में हिन्दी निबंध साहित्य में अनेक नव्यतर निबंध-शैलियों का दर्शन मिलता है। इस काल विभाग में 'माधुरी' (१९२३), 'चाँद' (१९२३), 'मनोरमा' (१९२४), 'सुधा' (१९२०), 'विशाल भारत' (१९२८), 'हंस' (१९३०) आदि साहित्यिक पत्रिकाओं का प्रकाशन आरंभ हुआ और उनमें अनेक प्रकार के निबंध प्रकाशित होने लगे। द्विवेदी-काल के निबंधों में शिक्षात्मक तथा नीतिविषयक बातें अधिक मात्रा में मिलती थीं। उस काल के निबंधकार अपने विचार पाठकों के सामने बड़े मनोरंजक ढंग से रखते थे। इसलिये भावात्मक या विचारात्मक निबंधों की कोई विशेष परंपरा नहीं दिखाई पड़ती। परन्तु अब निबंधकार अपने पाठक को एक मित्र के नाते अपने विचार बताना चाहता है। पाठक भी निबंधकार को एक मित्र या कलाकार के रूप में देखने लगा।

इस काल में प्रेमचंद, 'प्रसाद', रामचंद्र शुक्ल आदि साहित्यकार अपने-अपने क्षेत्र में काम करने लगे। प्रेमचंद ने अपने लिये कहानी और उपन्यास का क्षेत्र लिया, प्रसाद ने अपने लिये नाटक और काव्य का क्षेत्र ठीक समझा और रामचंद्र शुक्ल ने अपने लिये आलोचना और निबंध का क्षेत्र चुन लिया। द्विवेदी युग में विचारात्मक तथा भावात्मक निबंधों की जो कुछ परंपरा मिलती है उसका विकास इस काल-विभाग के प्रकाशित निबंधों में हुआ। विचारात्मक निबंधों का पूर्ण विकास रामचंद्र शुक्ल जी के निबंधों में मिलता है और भावात्मक निबंधों की शैली 'प्रसाद', वियोगीहरि, डा० रघुबीर सिंह, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि के निबंधों में मिलती है।

इस काल के निबंध-साहित्य के मुख्य सूत्रधार पं० रामचन्द्र शुक्ल हैं। उनके निबंधों का प्रारंभिक रूप द्विवेदी काल में मिलता है। इस काल में उनके निबंधों में

संपूर्णता के दर्शन दिखाई पड़ने लगे। शुक्लजी ने जिन-जिन विषयों पर लिखा था उन पर द्विवेदी कालीन निबंधकार लिख चुके थे। परन्तु इन निबंधकारों के निबंधों में रूढ़िवादिता तथा नैतिकता के दर्शन होते हैं। शुक्लजी निबंधों के इन आदर्शों के आगे जाकर उनमें लोक-मंगल की भावना का सामंजस्य किया। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने भी 'लोभ', 'क्रोध' आदि मनोदशाओं पर लिखा परन्तु उन्होंने इन मानसिक अवस्थाओं का परिचय मात्र करा दिया। द्विवेदीजी के विचारों में उस समय की सामाजिक नैतिकता तथा जीवन का आदर्श था। परन्तु शुक्लजी ने 'क्रोध', 'लोभ आदि पर लिखकर यह सिद्ध किया कि मनुष्य जीवन में इन भाव-वृत्तियों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इस प्रकार इनकी उपयोगिता तथा सामाजिकता पर प्रकाश डालकर लोक व्यवहार में इनको स्थान दिया। अर्थात् इस प्रकार का विश्लेषण करने के लिए उन्हें अपने अनुभवों तथा अध्ययन का उपयोग किया। अपने निबंधों के बारे में उनकी जो धारणा थी उसका संकेत 'चिन्तामणि' के प्रथम भाग के निवेदन में इस प्रकार मिलता है:—

**"इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकलती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँचती है वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।"**

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि शुक्लजी के निबंध उनके जीवन की अन्तर्यात्रा के शेष चिह्न हैं और उनके विचारों में मस्तिष्क-पक्ष के साथ-साथ हृदय-पक्ष का भी साथ रहा है। बुद्धि-पक्ष बीच-बीच में हृदय-पक्ष से प्रभावित रहा है। बुद्धि-पक्ष तथा हृदय-पक्ष का इतना पांडित्यपूर्ण सामंजस्य हिन्दी के कम निबंधकारों में मिलता है। इनके निबंधों का अध्ययन करते समय यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि कालान्तर में वे अपने निबंधकार का स्थान छोड़कर आलोचक होते जाते हैं। उनके समालोचनात्मक निबंधों में उनकी निबंध-कला का निखरा हुआ रूप मिलता है।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने 'हिन्दी साहित्य विमर्श', 'विश्व-साहित्य' आदि आलोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित किये हैं जिनमें उनके निबंधों के दर्शन होते हैं। बाबू श्याम-सुन्दर दास जी की शैली की परंपरा उनके निबंधों से मिलती है। बख्शीजी के विचारों में प्रचार की भावना नहीं है, मनुष्य के व्यक्तित्व में उनका अटूट विश्वास है और उन्होंने अपने विचारों में शिष्ट विनोद तथा गम्भीर बातें बड़ी आत्मीयता से रखी हैं। पाश्चात्य साहित्य का परिचय हिन्दी पाठकों से कराने में उनकी लेखनी ने सफलता पाई है। बख्शी-जी के व्यक्तित्व की यह एक विशेषता है कि उनके निबंधों में भाषा की सहजता तथा

विचारों का सुन्दर प्रवाह मिलता है। ऐसा लगता है कि वे किसी भी विषय पर सुबोध शैली में लिख सकते हैं।

बाबू गुलाबराय एम० ए० के निबंधों में सुबोध शैली का दर्शन मिलता है। उन्होंने विचारात्मक तथा भावात्मक निबंध लिखे हैं। उनकी निबंध-कला की यह विशेषता है कि वे किसी भी विषय पर अपने स्वतंत्र विचार बड़ी सुबोध भाषा में रख सकते हैं। उनके निबंधों की शैली की यह विशेषता है कि साधारण पाठक भी उनके निबंधों को आसानी से समझ सकता है। उनके 'फिर निराशा क्यों' और 'मेरी असफलताएँ' निबंध-संग्रह प्रसिद्ध हुए हैं। 'फिर निराशा क्यों' के सभी निबंध विचारात्मक हैं। 'मेरी असफलताएँ' निबंध-संग्रह में स्मरणार्थ लिखे हुए निबंधों का संग्रह है। गुलाबरायजी ने इस संग्रह के निबंधों में व्यंग्यात्मक आत्मपरक शैली का उपयोग किया और अपने व्यक्तिगत जीवन के संस्मरणों को निबंधों के रूप में इस प्रकार चित्रित किया है कि इन निबंधों में उनका आत्मचरित बन जाता है। उनके 'समाज और कर्त्तव्य पालन निबंध' में उनके दार्शनिक विचारों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। उन्होंने अनेक आलोचनात्मक निबंध विद्यार्थियों के लिए लिखे हैं।

इस काल की यह एक विशेषता है इसमें गद्यकाव्य या गद्य-गीत का पूर्ण विकसित रूप स्पष्ट दिखाई पड़ता है। युग की माँग के अनुसार साहित्य के रूपों में भी परिवर्तन होता रहता है। गद्य-साहित्य का जो रूप अपनी सीमा में नहीं रह सकता वह पद्य की विशेषताओं को लेकर अपना एक अलग रूप बनाता है। उसी प्रकार काव्य का जो रूप अपनी सीमा में नहीं रह सकता, वह पद्य की विशेषताओं को लेकर अपना स्वतंत्र रूप बनाता है। मोटे तौर पर इन दो रूपों को गद्यकाव्य की संज्ञा दी जा सकती है। इस प्रकार गद्य में भी कविता लिखने की शैली का निर्माण हुआ और उसमें काव्य की रमणीयता, सरसता, माधुर्य, संगीत का ध्वनि-माधुर्य मिलने लगा। रचना-विधान की दृष्टि से गद्य-काव्य साहित्य के कवित्वमय छोटी कहानियाँ, गद्य-काव्य, गद्य-गीत, और भावात्मक गद्य-खंड ऐसे चार विभाग किए जा सकते हैं।

हिन्दी में गद्यकाव्य का आरंभ बीसवीं शताब्दी के तीसरे चरण में स्पष्ट दिखाई देता है परन्तु उसका सूत्रपात भारतेन्दु के नाटकों के 'समर्पण' में भी मिलता है। ठाकुर जगमोहनसिंह कृत 'श्यामा स्वप्न' के 'समर्पण' में भी आधुनिक गद्यकाव्य का प्रारंभिक रूप दिखाई देता है। समर्पण का अंश इस रूप में उपस्थित हुआ है:—

**"प्रियतम !**

**तुम मेरी नूतन और प्राचीन दशा को भलीभाँति जानते हो—मेरा तुमसे कुछ भी नहीं छिपा तो इसके पढ़ने, सुनने और जानने के पात्र तुम ही हो। तुम नहीं तो और कौन होगा?—प्रेमपात्र! तुम इसके भी पात्र हो। मेरी**

**तुम्हारी प्रीति की सचाई और दृढ़ता का ब्योरा तुम ही करोगे। यहाँ कोई निर्णय करने वाला नहीं।"**

उपर्युक्त उद्धरण में भावात्मक गद्य-खंड के अंश मिलते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो पं० बालकृष्ण भट्ट, 'प्रेमघन', गोविन्दनारायण मिश्र, आदि के निबंधों में गद्यकाव्य के लक्षणों की झलक कहीं-कहीं स्पष्ट दिखाई देती है। 'प्रेमघन' जी ने अपने निबंधों में साधारण बातचीत में भी अलंकृत भाषा, काव्यात्मक तथा सरस पदावली और लंबे-लंबे वाक्यों का प्रयोग किया है। पं० गोविंदनारायण मिश्र के निबंधों में बाण और दंडी की गद्य-शैली का रूप मिलता है। हो सकता है कि बंगला साहित्य की कोमलकान्त पदावली का प्रभाव भारतेन्दुकालीन निबंधकारों की भाषा-शैली पर पड़ा हो। परन्तु धीरे-धीरे यह शैली सरदार पूर्णसिंह के निबंधों में कहीं-कहीं दिखाई देती है। ब्रजनंदन सहाय के उपन्यासों में बीच-बीच में जो काव्यात्मक गद्यांश मिलते हैं उनसे हिन्दी में गद्य-काव्य की नींव दृढ़ हुई। अर्थात् इस प्रकार की शैली का दर्शन होने के मूल में बंगला के उपन्यासों का प्रभाव एक प्रेरणा के रूप में दिखाई पड़ता है और इस दृष्टि से बंगला के 'उद्भ्रान्त प्रेम' के लेखक को भी उसका श्रेय देना चाहिये।

गद्य-काव्य की परंपरा का आरंभ बंगला साहित्य के प्रभाव के कारण हुआ। सन् १९१३ में रवीन्द्र कृत 'गीतांजलि' के अंग्रेजी अनुवाद पर नोबेल पुरस्कार मिला और 'गीतांजलि' की लोकप्रियता के कारण इस प्रकार की रचना की ओर हिन्दी के गद्य-लेखक भी आकर्षित हुए। गद्यकाव्य का प्रारंभिक रूप 'हृदयेश' तथा प्रसादजी की कहानियों में भी मिलता है। उसी प्रकार 'प्रसाद' जी के नाटकों में भी भावात्मक गद्य के खण्ड मिलते हैं। इस प्रकार हिन्दी में गद्यकाव्य का प्रारंभ काव्यात्मक कहानियाँ और भावात्मक गद्यखण्डों के रूप में हुआ।

बीसवीं शताब्दी के तीसरे चरण में गद्य-गीतात्मक शैली के अंतर्गत अनेक काव्यात्मक कहानियाँ मिलती हैं। इस दृष्टि से प्रसादजी की 'आकाश दीप' और 'आँधी', 'हृदयेश' जी की 'नन्दन निकुंज', राय कृष्णदासजी की 'प्रवाल' और 'संलाप', विनोदशंकर व्यास की 'तूलिका', 'भूली बात', 'संलाप' आदि रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं। इन रचनाओं में संग्रहीत कई कहानियों में मानव-हृदय की सरस और कोमल भावनाओं का प्रकाशन तथा कल्पना के स्वप्निल चित्र ही दिखाई नहीं देते बल्कि लेखक के व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, गंभीर चरित्र-चित्रण, बाह्य जगत् के चलते-फिरते सजीव चित्र और जीवन के अनेक रहस्यों का मार्मिक उद्घाटन भी स्पष्ट दिखाई देता है।

गद्यकाव्य में कलाकार के कवित्व का अंश रहता है और उसमें कभी किसी मर्माहत हृदय की करुण व्यथा का मार्मिक दिग्दर्शन होता है। उसमें किसी वियोगी के

विरहानल-विदग्ध हृदय की पीड़ा की प्रज्ज्वलित ज्वाला दिखाई पड़ती है तो किसी संतप्त हृदय से निकली हुई आहों की चिनगारियाँ प्रकट होती है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि भावुक कलाकार जब अपने जलते हुए हृदय की आग गद्य द्वारा व्यक्त करता है तब उसकी रचनाएँ गद्यकाव्य की श्रेणी में आ सकती हैं। इस प्रकार की रचनाओं में बाबू दुर्गाशंकर प्रसादजी कृत 'ज्वालामुखी' और श्री सुधांशु कृत 'वियोग' शीर्षक रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। इन दोनों रचनाओं में आरंभ से अन्त तक एक ही मुख्य भावना प्रवाहित दृष्टिगोचर होती है।

भावात्मक निबंधों का साहित्यिक विकास गद्य-काव्य में मिलता है। जब गद्य की भाषा-शैली में उन्नतावस्था आ जाती है तब उसमें गद्य-काव्य के लिए व्यंजना शक्ति स्पष्ट दिखाई देती है। आधुनिक युग में गद्यकाव्य और गद्यगीत अलग-अलग रूप में स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। भाषा का गौरवान्वित रूप गद्यकाव्य में दिखाई पड़ता है। जब भाषा की शक्ति इस तरह बढ़ती है तब उसमें भावों के कटे-छटे रूप भी दिखाई देते हैं। गद्य-काव्य की इन विशेषताओं के आधार पर गद्य-काव्य से गद्य गीत को एक अलग रचना के रूप में माना जा सकता है। गद्यगीत के उपकरण के रूपों में भावावेश (Emotion), काव्यात्मकता, अनुभूति की गहराई और भाव-व्यंजना-कला मुख्य हैं। गद्य-काव्य से गद्य-गीत इस बात में अलग हो जाता है कि उसमें एक ही भाव की अभिव्यक्ति होती है और भावावेश का उपकरण प्रधान हो जाता है। पद्य-गीत और गद्य-गीत में बहुत थोड़े शब्दों में व्यक्तिगत भावों का प्रकाशन तथा विचारों की एकरूपता दृष्टिगोचर होती हैं। इन दोनों में अन्तर इतना ही होता है कि पद्य में संगीत की मात्रा अधिक होती है और गद्य-गीतों के शब्दों में संगीत का समावेश किया जा सकता है।

गद्य-काव्य और गद्य-गीत में भेद किया जा सकता है। गद्य-काव्य में कल्पना-तत्व की प्रधानता होती है परन्तु उसमें संगीत-तत्व अनिवार्य नहीं है। परन्तु गद्य-गीत में भावावेश का प्राधान्य और गेयता की प्रबलता होती है। गद्य-काव्य गद्य-गीत से आकार में बड़ा ही हो सकता है और वह कभी-कभी महाकाव्य का रूप भी ले सकता है। गद्य-काव्य के अन्तर्गत बाणभट्ट कृत 'कादंबरी' का समावेश किया जा सकता है। लेकिन यह बात गद्य-गीत के बारे में नहीं मिलती। कुछ ऐसा भी कहा जा सकता है की प्रबंधकाव्य और खंड-काव्य में जो अन्तर है वह गद्यकाव्य और गद्य-गीत में माना जा सकता है। राय कृष्णदास हिन्दी गद्य-काव्य के प्रथम लेखक माने जाते हैं और उनकी 'साधना' (१९१९) शीर्षक रचना के भावात्मक निबंधों में गद्य-गीतों का रूप दिखाई पड़ता है। इनमें विभिन्न भावनाओं का कलात्मक दर्शन मिलता है। लेकिन दुर्गाप्रसाद कृत 'ज्वालामुखी' और 'सुधांशु' कृत 'वियोग' के गद्य-काव्यों में प्रारंभ से अब तक एक ही प्रमुख भावना का उद्‌भव और विकास मिलता है। मानव-हृदय इतना विशाल

है कि उसमें दो-चार सूक्ष्म भावनाएँ मिलकर एक गद्य-गीत बन भी जाता है और हिन्दी में इस प्रकार के बहुत संख्या में गद्य-गीत मिलते हैं। हिन्दी के अधिकतर गद्य-गीत विश्वप्रेम, रहस्योन्मुखता, आध्यात्मिकता, सांसारिकता, प्रकृति-वर्णन आदि विषयों पर ही रचे गये हैं। हिन्दी के गद्य-काव्य और गद्य-गीत शिल्पविधि की दृष्टि से अपनी एक विशेषता रखते हैं और भारत की आधुनिक भाषाओं के साहित्य में उनको एक महत्व का स्थान मिल रहा है।

हिन्दी में गद्य-काव्य का प्रथम विकसित तथा सुन्दर रूप राय कृष्णदास के 'साधना' में संग्रहीत छोटे-छोटे गद्य-गीतों में दिखाई पड़ता है और उनके बाद चतुरसेन शास्त्री और वियोगी हरि के गद्यकाव्यों का स्थान आता है। राय कृष्णदासजी की रचनाओं पर रवीन्द्र की गीतांजलि का प्रभाव दिखाई देता है। उनके गीतों में मनोहर रूप-चित्र और सरस पद्य-विन्यास के साथ ही साथ जो विश्व के कण-कण में परिव्याप्त अनंत शक्ति के प्रति, जो प्रेम भाव तथा भक्ति भाव का प्रकाशन है उसके मूल में 'गीतांजलि' का प्रभाव स्पष्टतया दिखाई पड़ता है। राय कृष्णदासजी के 'साधना' और 'छायापथ' (१९३०), गद्यकाव्य के अमूल्य ग्रंथ हैं। साधना में भक्ति की प्रधानता है और गीतांजलि रहस्यात्मक पुट से युक्त है। लेकिन साधना के गीत हिन्दी साहित्य में एक नया रूप-विधान है। छाया पथ में भाषा की सजीवता तथा मार्मिकता मिलती है। उनकी 'संलाप', 'प्रवाल' आदि रचनाएँ गद्यकाव्य के अन्तर्गत आती हैं।

'वियोगीहरि' के गद्यकाव्य का स्वर भक्ति का है और उनका ईश्वर दयालु तथा प्रेममय है। अतः उन्होंने राय कृष्णजी के समान रहस्योन्मुख प्रेम को अपनी रचनाओं में आग्रह के साथ स्थान नहीं दे दिया। राय कृष्णदास और वियोगीहरि में अपने विषय के लिये नामों का चुनाव, आलंबन के प्रति दृष्टिकोण, साधना की व्यावहारिकता, अनुभूति की तीव्रता और भाषा का रूप आदि की समानता मिलती है। वियोगीहरि को रचनाओं का दर्शन 'तरंगिणी', 'अन्तर्नाद' (१९२६), 'भावना' (१९२९), 'ठंडे छींटे' (१९३३) आदि पुस्तकों में मिलता है। उनमें 'अन्तर्नाद', 'भावना', 'ठंडे छींटे' गद्यकाव्य की दृष्टि से उनकी उत्तम रचनाएँ मानी जाती हैं।

चतुरसेन शास्त्री के गद्य-काव्य पर बंगला के 'उद्भ्रान्त प्रेम' का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इस दृष्टि से उनकी 'अन्तस्तल' रचना बहुत सुन्दर है और उसके 'रूप' शीर्षक गद्य-गीत में कवि ने चित्रकार का कार्य किया है और उसकी तूलिका लेखनी बन गई है तथा उसके द्वारा भावों के सुन्दर चित्र खींचे गये हैं। शास्त्रीजी की यह विशेषता है कि उनके गद्य-गीतों में आशा, क्रोध, लालसा, मनोयोग आदि मनोभावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भावात्मक शैली में किया गया है। 'अन्तस्तल' के भावात्मक शैली में लिखे हुए जो गद्य-गीत मिलते हैं उनमें अनुभूति की भी काल्पनिक उड़ान अस्फुट रूप में दिखाई पड़ती है।

शान्ति प्रसाद वर्मा और तेजनारायण काक 'क्रान्ति' के गद्य-गीतों में नवीनता के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। वर्माजी के 'चित्रपट' में संकलित गद्य-गीतों में 'भ्रम', 'प्रार्थना', 'वेक्षण', 'अमृत' आदि रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं। तेजनारायण काक के 'मदिरा' में संग्रहीत गद्य-गीतों पर 'गीतांजलि' का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। लेखक ने 'मदिरा' के, 'कुछ' शीर्षक प्रस्तावना में लिखा है—

**"मदिरा के अधिकांश गीतों में जो रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता का अंश है उसके मूल में रवीन्द्र के गीतों का ही प्रभाव है।"**

उनके 'खेल', 'मधुमयी', 'अनन्त', 'रहस्यमय', 'मेरा परिचय' आदि छोटे-छोटे गद्य-गीतों में जीवन का तत्वज्ञान भी मिलता है। उन्होंने 'मधुमय' और 'रहस्यमय' शीर्षक पर सात-आठ बार अलग-अलग रूपों में गद्य-गीत लिखकर उनके विषय के संबंधित भावों की कई तरह से व्याख्या की है। इसी प्रकार नोखेलाल शर्मा के 'मणि-माला' गीत-संग्रह के 'अन्तिम निवेदन', 'सच्चा बड़प्पन', 'अन्तिम नमस्कार', 'प्रातःकाल में एक गीत' आदि गद्य-गीतों में भावव्यंजना का दर्शन मिलता है।

हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण गद्य-गीतों का प्रचार होने में सुविधा मिली। 'सरस्वती', 'हंस', 'माधुरी', 'चाँद', 'विशाल भारत', 'प्रभा', 'सुधा' आदि पत्रिकाओं द्वारा छोटे-बड़े गद्य-गीत पाठकों के सामने उपस्थित किए गए। 'सुधा' पत्रिका में प्रकाशित डा० रघुवीर सिंह कृत 'दुराशा' (१९३१), और 'पथिक', 'इस अंधेरी रात में किधर चले' (१९३६), चतुरसेन शास्त्री कृत 'तत्क्षण', वृन्दावन लाल वर्मा कृत 'मैं हूँ' (१९३५), आदि सुन्दर गद्य-गीत मिलते हैं।

इस काल-विभाग में प्रकाशित निबंधों में द्विवेदी-कालीन निबंधों की विकसित परम्परा मिलती है। इस काल में भावात्मक निबंधों का विकसित रूप दिखाई पड़ता है। डा० रघुवीर सिंह जैसे भावुक निबंधकारों के प्रारम्भिक निबंध इस काल में प्रकाशित हुए हैं। उनका 'सुधा' पत्रिका में प्रकाशित 'जीवन के द्वार पर'[1] शीर्षक निबंध अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस निबंध में उनकी भावात्मक शैली का रूप इस प्रकार प्रकट हुआ है—

**"हृदय! तू भी संभल जा, जरा कठोर बन, उस वियोग को सहन कर, भुला दे उन दिनों को, जो बीत चुके हैं, और भविष्य में कभी भी न लौटेंगे। आत्म-विश्वास तथा जगत्-पिता में विश्वास कर।"**

इस निबंध से यह दिखाई पड़ता है कि इस काल के निबंधकार मनुष्य जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म पहलू पर भी अपने विचार भावात्मक शैली में प्रकट करने लगे। द्विवेदी युग में उपदेशात्मक निबंध मिलते हैं और उनमें वर्णनात्मक पक्ष अधिक मात्रा में रहता है। ऐसा लगता है कि इस काल के निबंध अपनी भाव भूमि पर आए हैं।

---

**१. 'सुधा' पत्रिका, नवम्बर, १९३०, पृ० ४५८.**

इस काल के निबंध-साहित्य की यह विशेषता है कि इसमें अधिकतर समीक्षात्मक निबंध लिखे गये। यह काल-विभाग हिन्दी के प्रचार की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, इसलिए हिन्दी-साहित्य संबंधी अनेक समीक्षात्मक निबंध लिखे गये। बाबू श्यामसुन्दर दास, पद्मसिंह शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, गुलाबराय, रामचंद्र शुक्ल, आदि निबंधकारों ने अपने समीक्षात्मक निबंध लिखे। समीक्षात्मक निबंधों की यह परम्परा आगे बढ़ती रही।

इस काल में ललित निबंध ( Personal essay ) का प्रादुर्भाव हुआ। सरदार पूर्णसिंह, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, रामचंद्र शुक्ल आदि के निबंधों में व्यक्ति-प्रधान निबंधों की शैली दिखाई पड़ती है। लक्ष्मीकान्त झा के 'मैंने कहा' निबंध-संग्रह में अंग्रेजी 'पर्सनल एसे' के ढंग पर लिखे हुए निबंध मिलते हैं। 'हंस' पत्रिका के आत्मकथाओं के (१९३४) रूपों में प्रसिद्ध साहित्यकारों के संस्मरण छपे थे। उसी प्रकार 'गुलाबराय' की 'मेरी असफलताएँ' में संग्रहीत संस्मरणों में रोचक तथा व्यंग्यपूर्ण निबंधों की शैली मिलती है।

इस काल-विभाग में गद्य-काव्य की अनेक रचनाएँ प्रकाशित हुईं और राय कृष्णदास, वियोगीहरि, चतुरसेन शास्त्री आदि लेखकों ने सुन्दर गद्य-गीत लिखे। भावात्मक निबंधों की शैली का विकसित रूप इन गद्य-गीतों में मिलता है और भाषा की काव्यात्मकता सर्वत्र दिखाई देने लगी। इस काल के निबंधों की भाषा पर प्रसादजी की भाषा का प्रभाव दिखाई पड़ता है और अनेक भाव-प्रधान निबंधों की रचना हुई।

## आधुनिक-काल (सन् १९३५ से १९५० ई० तक)

इस काल-विभाग में प्रकाशित निबंध-साहित्य की यह एक विशेषता है कि हिन्दी के सर्वमान्य लेखक भी निबंध लिखने लगे। अभी तक के अधिकतर निबंधकारों ने अपना क्षेत्र निबंध साहित्य तक ही सीमित रखा था। परन्तु इस काल के उपन्यासकार कहानीकार, नाटककार, इतिहासकार, समीक्षक, कवि आदि भी निबंध लिखने लगे। ललित निबंध की विकसित परम्परा का रूप सियाराम शरण गुप्त, प्रभाकर माचवे आदि के निबंधों में दिखाई देने लगा। इसी प्रकार डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, जैनेन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी, डा० रघुबीर सिंह आदि निबंधकारों ने अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी निबंध साहित्य को समृद्ध किया।

व्यक्ति-प्रधान या ललित निबंधों का दर्शन सियाराम शरण के 'झूठ सच' निबंधों में मिलता है। उनके निबंधों में विषय का उद्‌घाटन तथा उसका उत्तर बहुत ही स्वाभाविक ढंग से उपस्थित होता है। उनके 'बहस की बात' निबंध में उनकी शैली का रूप इस प्रकार मिलता है—

**"मनुष्य में वाणी ही उसका सब से बड़ा वैभव है। आँख ! वह हमसे अधिक गीध में है। कान घोड़े और गधे के भी हमसे बहुत बड़े हैं। कुत्ते की घ्राण-शक्ति**

**की बराबरी तो हम कर ही नहीं सकते। दौड़ने की बात आती है, तब मृग का पशुत्व भूल कर, उसी की काल्पनिक समता में अगौरव का अनुभव करना पड़ता है। जो बात कहीं दूसरे में नहीं मिलती, वह है हमारी वाणी। अतएव जब हम किसी की बात सुनते हैं तो स्वभावतः हमें यह अनुभूति होती है कि यह अपने उसी बड़प्पन की घोषणा कर रहा है। उसका महत्व खंडित कर के अपना महत्व स्थापित कर देना ही बहस की मनोवृत्ति का कारण है।"[1]**

सियाराम शरणजी गांधीवादी होने के कारण उनके निबंधों में नैतिकता के दर्शन होते हैं और शैली और उनके व्यक्तित्व का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है। वे जो कुछ कहना चाहते थे उनको उन्होंने अपनी सहज तथा स्वाभाविक शैली में कहा है। निजत्व को उपस्थित करना ही गुप्तजी की निबंध-शैली का आदर्श है। उनके व्यक्तित्व में जितनी सादगी तथा सात्विकता है उतनी ही सरलता तथा स्वाभाविकता उनके निबंधों में मिलता है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सांस्कृतिक तथा साहित्यिक निबंध लिखकर अपने निबंधों द्वारा निबंध की भिन्न-भिन्न शैलियों का आदर्श उपस्थित किया है। उनके निबंधों में इतिवृत्तात्मकता, वर्णनात्मकता, भावात्मकता, व्यंग्यात्मकता, प्रशंसात्मकता आदि कई शैलियों का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनके निबंधों की सबसे बड़ी यह विशेषता है कि उनके हरएक निबंध में उनके व्यक्तित्व की छटा किसी न किसी रूप में प्रकट होती है। वे जब किसी बात पर सोचते हैं या अपने विचार व्यक्त करते हैं तब उनकी आलोचनात्मक तथा गवेषणात्मक शैली का दर्शन होता है। उन्हें भारतीय संस्कृति और सामंतकालीन इतिहास से इतनी रुचि है कि किसी भी साधारण विषय पर लिखते समय प्राचीन भारत के वैभवशाली चित्र पाठकों के सामने उपस्थित करते हैं। द्विवेदीजी में मानवतावाद तथा गांधीवाद की छाप गहरी है और जीवन वादी होने के कारण उन्होंने साहित्य के 'शिवत्व' को ही महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

द्विवेदीजी ने संस्कृति, साहित्य, इतिहास, समाज-शास्त्र, मानव-विज्ञान आदि विषयों पर लिखा है। उन्होंने अपने निबंधों द्वारा नवसमाज निर्माण, लोक-संग्रह, और मानव हित का आदर्श अपने पाठकों के सामने रखा। वे प्राचीनता पर अधिक विश्वास रखते हैं परन्तु उनमें रूढ़िवादिता नहीं है, उनके मन में नवीनता के प्रति दृढ़ आशा है, इसलिए उनके निबंधों का आदर्श मनुष्य को सामान्य स्तर से उठाकर किसी ऊँचे स्तर पर ले जाकर बिठाना है। उनके 'अशोक के फूल', 'कल्पलता', और 'विचार और वितर्क' निबंध संग्रहों के निबंधों में सब प्रकार के निबंध मिलते हैं। 'अशोक के फूल' निबंध-संग्रह के 'महात्मा के महाप्राण', 'वसन्त आ गया', 'आम फिर

---

**१. सं० करुणापति त्रिपाठी, 'गद्य-संकलन', १९५४, पृ० ५**

बौरा गये', 'शिरीष के फूल' आदि निबंधों में उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की छाया दिखाई पड़ती है।

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के निबंधों में भी साहित्यिक तथा सांस्कृतिक निबंधों का समन्वय दिखाई पड़ता है। वे अपने निबंधों द्वारा प्राचीनता के आधार पर नवीनता का निर्माण करना चाहते हैं। इसलिए उनकी रचनाओं में साहित्य, भारतीय इतिहास, पुरातत्व, संस्कृति, दर्शन, कला आदि विषयों पर गम्भीर विचार मिलते हैं। 'कला और संस्कृति' निबंध-संग्रह के निबंधों में उनकी पाण्डित्यपूर्ण शैली का वातावरण तथा भाषा की सरलता, सादगी आदि का दर्शन होता है।

भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने अपने संस्मरणात्मक रेखाचित्रों तथा संस्मृतियों के रूपों में अनेक निबंध लिखे। 'जो मैं भूल न सका', 'जो मुझे लिखना पड़ा', 'रेल का टिकट' आदि ग्रंथों में विशुद्ध निबंध की कोटि में आने वाली रचनाएँ मिलती हैं। वे गांधीवादी हैं और कभी-कभी अपने अनुभवों के आधार पर गांधीवाद के आगे की भी बात सोचते हैं।

जैनेन्द्रकुमार के निबंधों में सरदार पूर्णसिंह, आचार्य रामचंद्र शुक्ल आदि के विचारात्मक निबंधों की परम्परा मिलती है। जैनेन्द्रजी मौलिक विचारक तथा दार्शनिक हैं और उन्होंने जीवन के विविध प्रश्नों, विषयों और समस्याओं पर निबंध लिखे हैं। उनके निबंधों में पाठक के साथ आत्मीयता और हार्दिक निकटता का अनुभव होता है। 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', 'प्रस्तुत प्रश्न', 'पूर्वोदय', 'जैनेन्द्र के विचार' आदि निबंध-संग्रहों में उनके विचार मिलते हैं। गांधीजी की विचारधारा का प्रभाव उन पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है और अपनी बात साफ शब्दों में प्रकट करने में वे हिचकते नहीं। उनके निबंधों में शैली की सरसता, विचारों को मूल रूप में पकड़ने की तार्किक गम्भीरता तथा विचारों की स्वाभाविक उदारता आदि गुण मिलते हैं।

ललित-निबंधों की परम्परा का दर्शन प्रभाकर माचवे के 'खरगोश के सींग' शीर्षक निबंध-संग्रह के निबंधों में होता है। माचवेजी आलोचक भी हैं। इसलिये उनकी आलोचनात्मक शैली की वक्रता कभी-कभी उनके निबंधों में दिखाई देती है। जब उनके निबन्ध कथात्मक शैली का रूप लेते हैं तब उनमें सांकेतिकता और तथा प्रतीकात्मक शैली का भी दर्शन होता है। उनके निबंधों के बीच-बीच में 'हे ईश्वर, जग है नश्वर, फिर भी शाश्वत है रिश्वत', 'कुछ भी हो लंगड़ा पलायनवादी नहीं हो सकता' आदि वक्रतापूर्ण वाक्यों की भरमार मिलती है। उनके निबंधों पर मराठी के लघु-निबंध (ललित-निबंध) की शैली का प्रभाव दिखाई पड़ता है। मराठी के प्रसिद्ध निबंधकार प्रो० ना० सी० फड़के की निबंध शैली से उनके निबंध प्रभावित हैं। उनके 'कवि बिना' निबंध में उनकी निबंध शैली का रूप इस प्रकार मिलता है—

**"सबसे बड़ी मुसीबत है: जनतंत्र के युग के कवि। यह कवि क्या है?**

**माइक्रोफोन हैं। जहाँ देश में एक घटना हुई इनकी प्रतिभा तैयार, दस्तबस्ता, हाथ जोड़े खड़ी है। कवि क्या है, स्टाल-मशीन है। महँगी बढ़ी तो कवि जी तैयार हैं और वर्ष का अन्त हुआ तो कविता तैयार है। गरज यह कि दुनिया का कोई विषय इन कवियों ने नहीं छोड़ा। ककड़ी पर, कद्दू पर, कमरख पर भी कविता लिखी गई। खाद्य पदार्थों से लगा कर पेय पदार्थों तक सभी कवियों ने रगड़े। झरने, नाले, वापी, सरिता, सागर सब छान डाले गये। कवि ने चूहे पर लिखा, पिस्सू पर लिखा, झींगुर और तलचिट्टे भी नहीं बचे।"[1]**

वैज्ञानिक विवेचन के साथ भावात्मक शैली का सुन्दर समन्वय डा० नगेन्द्र के 'विचार और अनुभूति' तथा 'विचार और विवेचन' शीर्षक निबंध-संग्रहों की रचनाओं में मिलता है। उनके अधिकतर निबंध विचारात्मक निबंधों की श्रेणी में आते हैं उनके निबंधों में कहीं-कहीं भावुकता का भी दर्शन होता है। परन्तु निबंध का आकार भाषा, शैली आदि में एकरूपता दिखाई पड़ती है।

यशपालजी के निबंधों में किसान, मजदूर, नारी, विवाह, प्रेम, आदि समस्याओं का विश्लेषण समाजवादी ढंग पर किया है। 'चक्कर क्लब', गांधीवाद', 'शव परीक्षा', 'देखा', 'सोचा, समझा!', 'बात में बात' आदि निबंध-संग्रह के निबंधों में संस्कृति, सभ्यता, कला, साहित्य, समाज आदि विषयों पर नयी दृष्टि से सोचा है। यशपालजी साम्यवादी सिद्धान्तों के आधार पर नये समाज का निर्माण करना चाहते हैं, और साम्यवाद में ही मानव जीवन का कल्याण देखते हैं। इसलिए समाज की खोखली बुनियाद पर आघात करना मानो उनके निबंधों का ध्येय हो चुका है।

कन्हैयालाल मिश्र ने स्केच तथा संस्मरणात्मक ढंग के निबंध लिखे हैं। उनके 'आकाश के तारे', 'धरती के फूल', 'जितना जिन पाया', 'जिन्दगी मुस्कराई' नामक निबंध-संग्रहों में उनके निबंध संग्रहीत हैं। उनकी अधिकतर रचनाएँ विचारात्मक हैं परन्तु उन्हें शुद्ध विचारात्मक कोटि में रखा नहीं जा सकता। इनकी रचनाओं में उनका व्यक्तित्व झलकता रहता है और पाठक के सामने अपने 'निजत्व' को ऐसे ढंग से रखते हैं कि उनमें कहीं दुराव या संकोच की भावना दिखाई नहीं पड़ती। इसलिये उनके निबंध व्यक्तिगत निबंधों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

महादेवी कृत 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ', 'शृंखला की कड़ियाँ' शीर्षक पुस्तकों में संस्मरणात्मक निबंध मिलते हैं। इन संस्मरणात्मक निबंधों में अपने व्यक्तिगत जीवन से परिचित अनेक साधारण पात्रों के व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला है। महादेवी ने इन निबंधों द्वारा यह दिखाया कि हमारे चारों ओर जो समाज है उनमें बहुत से ऐसे लोग भी मिल सकते हैं कि जिनमें मानव जीवन के आदर्शों की झाँकी स्पष्ट

---

**१. प्रभाकर माचवे, 'खरगोश के सींग', १९५१, पृ० १३७-३८**

रूप में मिलती है। उनके हरएक संस्मरण में नारी हृदय की आत्मीयता तथा सरसता मिलती है और एक भारतीय नारी की विचार-परम्परा का चित्र सामने उपस्थित हो जाता है। उनकी 'शृंखला की कड़ियाँ' के संस्मरणों में नारी जीवन के बारे में ऐसी अनेक बातें मिलती हैं कि जिन्हें बिना समझे नारी को समझना कठिन हो सकता है।

निबंधों के रूप में संस्मरण तथा शब्द-चित्र लिखने में रामवृक्ष बेनीपुरी प्रसिद्ध लेखक हैं। बेनीपुरी के निबंधों में प्रगतिशील लेखकों की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं अर्थात् अपनी बात बड़ी सतर्कता तथा भावात्मकता के साथ उपस्थित करने में उनकी लेखनी की विशेषता है।

हिन्दी में संस्मरणात्मक लेखों का निर्माण अधिक परिमाण में हो रहा है और इसकी परम्परा बनारसी दास चतुर्वेदी, श्रीराम शर्मा, प्रकाशचंद्र गुप्त, सत्यवती मल्लिक, भदन्त आनन्द कौसल्यायन आदि लेखकों की रचनाओं में मिलता है।

भारतेन्दुकालीन भावात्मक निबंधों का विकसित रूप इस काल के डा० रघुवीर सिंह, शान्तिप्रिय द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी आदि के भावप्रधान निबंधों में मिलता है। भावात्मक निबंधों की परम्परा का उत्कर्ष डा० रघुवीर सिंह कृत 'शेष स्मृतियाँ' में संग्रहीत निबंधों में मिलता है। उन्होंने मुगलकालीन घटनाओं पर अत्यन्त भावात्मक शैली में सुन्दर निबंध लिखे हैं। उनके आरम्भिक निबंधों में भी उनकी भावात्मक शैली के दर्शन मिलते हैं। सन् १९३० में प्रकाशित 'यौवन के द्वार पर' निबंध में उनकी भावुकता का दर्शन होता है। इस निबंध में लेखक अपने जीवन के द्वार पर खड़े रहकर विगत जीवन की मधुर स्मृतियों की याद करता है। अतीत से उनका यह प्रेम उनके आगे के निबंधों में स्पष्ट दिखाई देता है। ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर अपनी भावात्मक शैली द्वारा पाठकों के हृदय को हिलाने वाली भावानुभूति अत्यन्त कुशल है। उन्होंने 'तीन कब्रें' निबंध में मानव जीवन की व्याख्या इस रूप में की है—

**"संसार के लिए मानव जीवन एक खेल है, मनोरंजन की एक अद्भुत सामग्री है। मानव हृदय एक कौतुहलोत्पादक वस्तु है। उसे तड़पते देखकर संसार हँसता है, उसके दर्द को देखकर उसे आनन्द आता है, और यदि संसार को मानव हृदय से भी अधिक आकर्षक कोई दूसरी वस्तु मिल जाय तो वह उसे भी भुला देगा! कितनी बेदर्दी! कितनी निष्ठुरता! संसार का यह खिलवाड़ चोट खाए हुए मनुष्य को रुला देता है।"[१]**

निबंधों की भावात्मक शैली का मौलिक रूप शान्तिप्रिय द्विवेदी कृत 'जीवन यात्रा' (१९३८), 'साहित्यिकी', ( १९३९ ), 'संचारिणी' (१९३९), 'पदचिह्न' (१९४६), 'धरातल' (१९४८), शीर्षक पुस्तकों में संग्रहीत निबंधों में मिलता है।

---

**१. डा० रघुवीर सिंह, 'शेष स्मृतियाँ', तीसरी बार, पृ० १९५१- पृ० ११५**

द्विवेदीजी के निबंधों की यह एक विशेषता है कि उन्होंने अपनी रचनाओं को निबंध के किसी ढाँचे में डालने का प्रयत्न नहीं किया है। इसलिए उनकी कृतियों में समीक्षा तथा निबंध के भी गुण मिलते हैं। 'जीवन यात्रा' में संग्रहीत निबंधों में उनकी रचनाओं का प्रारम्भिक रूप मिलता है और 'धरातल' के निबंधों में उनकी कला जीवन के सच्चे धरातल पर आई है। उनका व्यक्तित्व जैसा स्वच्छ तथा सीधा दिखाई देता है वैसे ही उनकी कृतियों में उनके हृदय की अन्तःप्रेरणा कार्य कर रही है। व्यक्तिगत वेदना के आँच पर खड़े रह कर सामूहिक वेदना का साहित्यिक रूप उनके निबंधों में दिखाई देता है। उनके व्यक्तित्व में एक साहित्यिक सरसता है और सांस्कृतिक विचारों के आवरण के कारण उनके विचार यथार्थवादी विचारधारा से इतने सहयोग नहीं दे सकते। राष्ट्रीय विचारों को भावधारा का रूप माखनलाल चतुर्वेदी के निबंधों में मिलता है। उनके निबंधों में आत्मीयता के दर्शन मिलते हैं।

संस्मरणों के समान रेखाचित्रों के रूप में कई रचनाएँ सामने आने लगीं। रेखा-चित्र खींचने वालों में रामबृक्ष बेनीपुरी तथा प्रकाशचन्द्र गुप्त का नाम लिया जा सकता है। रामवृक्ष बेनीपुरी के 'माटी की मूरतें' तथा 'गेहूँ और गुलाब' निबंध-संग्रहों में बहुत अच्छे रेखा-चित्र मिलते हैं।

इस काल में गद्यकाव्य के विकास की एक स्वतंत्र परम्परा दिखाई पड़ती है। दिनेशनन्दिनी चोरड़्या (डालमिया), सत्यवती मल्लिक, रामेश्वरी गोयल, भारती शर्मा, विद्याकुमारी भार्गव, कमलिनी मेहता आदि लेखिकाओं ने गद्यगीतों की रचना करके गद्य-काव्य साहित्य को समृद्ध किया। इसी प्रकार नारायण दत्त बहुगुणा, रामप्रसाद विद्यार्थी, सुखनिधानसिंह चौहान, रामकुमार वर्मा, सुदर्शन, भगवती चरण वर्मा आदि लेखकों ने भी गद्य-गीत लिखे हैं।

आधुनिक काल के गद्य-गीतकारों में दिनेशनन्दिनी चोरड़्या (डालमिया) का स्थान बहुत ऊँचा है। 'शबनम' (१९३६), 'मौक्तिक माला' (१९३७), 'शारदीया' (१९३९) 'वंशीरव' आदि गद्य-गीत संग्रहों में उनके गद्य-गीत मिलते हैं। उनके गद्य-गीतों को पढ़कर ऐसा लगता है कि लेखिका के चारों ओर अंधकार का साम्राज्य है और उनकी आँखें प्रभात के सुनहले स्वप्नों को देखने के लिए लालायित हैं। उन्होंने अपने गीतों द्वारा प्रेम के हरएक पहलू को चित्रित करने का प्रयत्न किया है और उनमें विरह और निराशा की मार्मिक दशा का भी चित्रण किया है। उनकी दृष्टि में प्रेम और विरह एक ही भावना के दो रूप हैं। प्रेम की अलौकिकता की सुन्दर अभिव्यंजना 'शबनम' के गीतों में मिलती है। तथा 'शारदीया' में जीवन संध्या के मंद प्रकाश में उस अव्यक्त राग की जो रूप-रेखा स्पष्ट होती है उसे अस्फुट शब्दों में व्यक्त करने का उपक्रम किया गया है। 'वंशीरव' के गीतों में उन्होंने राधा के रूप में एक ऐसी भावुक तथा भोली नारी का चित्रण किया है जो प्रकृति के हरएक सौन्दर्य में अपने 'आराध्य'

को देखने की इच्छा करती है पर अधिक समय तक उसपर आँखें जम नहीं पातीं। 'वंशीरव' के गद्य-गीतों के द्वारा उन्होंने एक ऐसी राधा का चित्र उपस्थित किया है कि मिलन के मधुर क्षणों का वर्णन करके भी वह मिलन की सत्यता पर विश्वास नहीं रख सकती। इन गीतों में कहीं नारी पुरुष का अंग बनती है, तो कहीं पुरुष नारी का अंग बनता है।

'वंशीरव' दिनेशनन्दिनी के गद्यगीत के सरस उदाहरण इस रूप में मिलते हैं—

**"तुम आशा से सुन्दर हो, इसीलिए अमर आल्हाद बनकर मुझमें आये हो।**

**तुम कौमार्य से कोमल हो, इसलिए मेरे अन्दर के आलोक में सर्वदा के लिए अस्ट हो गये हो।**

**तुम शरत् की ज्योत्सना के शैशव से अधिक मदभरे हो।**
**इसीलिए साहित्य की सुधा बनकर मुझमें आए हो।**
**तुम आशा से सुन्दर हो!**
**प्रतीक्षा की संध्या ढल गयी, अब तुम न आना,**
**आकर्षण की समता से मैं हार चुकी हूँ।**
**मिलन में माधुर्य नहीं आएगा,**
**क्योंकि हमारी आँखें संसार की उपेक्षा के ऊपर—उठने को उद्यत नहीं!"**

दिनेशनन्दिनी के समान भंवरमल सिंघी के गद्य-गीत प्रसिद्ध हैं। उन्होंने 'वेदना' शीर्षक गद्य-गीतों के संग्रह की भूमिका में लिखा है—

**"मैं कवि नहीं हूँ, पर स्मृतियों के रंगविलास पर अश्रुओं का प्रवाह काव्य की आड़ी टेढ़ी खींचता है।**

**मुझे कुछ लिखना नहीं है, पर जिसने संगीत का दान देकर मुझे हर लिया है, उसके द्वार पर ये बिखरे हुए फूल देते हैं।"**

आजकल गद्य-गीतकारों की संख्या बढ़ रही है और 'विशाल भारत', 'माधुरी', 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में अनेक गद्यगीत प्रकाशित हो रहे हैं।

इस प्रकार हिन्दी गद्य-काव्य का विकास पिछले तीस वर्षों में होता रहा है। इन गद्य-गीतों का विस्तार भावुक लेखकों द्वारा हुआ है उनमें कभी व्यक्तिगत हास, परिहास, अश्रु, निराशा आदि का भी चित्रण हुआ है। हिन्दी के अधिकता गद्य-गीतकारों ने व्यक्तिगत पीड़ा, विरह, निराशा आदि का भी चित्रण अपने गद्य गीतों में किया है।

इस प्रकार हिन्दी का निबंध-साहित्य आगे बढ़ रहा है। केवल अस्सी वर्षों में उसमें जो प्रगति के लक्षण दिखाई देते हैं वे अभिनन्दनीय हैं। समाचारपत्रों के प्रकाशन के कारण निबंधों का प्रकाशन सुलभ हुआ और अनेक लेखकों ने निबंध लिखे। हिन्दी के प्रारम्भिक निबंधों में तत्कालीन जीवन की समस्याओं पर विचार मिलते हैं। उस समय

नये-नये विचार लोगों के सामने रखने का कार्य इन निबंधों द्वारा हुआ। उस समय का निबंधकार अपने समाज, राष्ट्र आदि को सामने रखकर अपने निबंध लिखता था।

द्विवेदी-युग में निबंध के आदर्शों में परिवर्तन हुए और भाषा की दृष्टि से भी उनमें नवीनता दिखाई पड़ने लगी। पाठक और लेखक नजदीक आने लगे और निबंधकार अपनी सब बातें बड़े विश्वास के साथ अपने पाठकों के सामने रखने लगे। निबंधकार अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर निबंध लिखने लगे। इस प्रकार ललित-निबंध का आरम्भ हुआ जो आधुनिक युग की देन है। धीरे-धीरे गद्य गीतों का भी प्रारम्भ हुआ और भावुक लेखक सामने आये। संस्मरणों के रूप में भी अनेक निबंध लिखे गए और निबंधों की शैली में विविधता आने लगी।

देश की सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं के कारण अनेक निबंध लिखे गये। परन्तु भारत स्वतंत्र होने के बाद निबंध के आदर्श में परिवर्तन होना चाहिये, परन्तु इस दृष्टि से उसमें विकास की कोई परंपरा नहीं दिखाई पड़ती। आज के निबंधकार में भावुकता अधिक मात्रा में मिलती है, इसलिये उसके निबंधों में विचारपक्ष का रूप कम मिलता है। वह जब लिखने लगता है तब वह कभी संस्मरणों के रूप में लिखता है तो कभी रेखाचित्रों के रूप में। वह कुछ कहना चाहता है परन्तु उसके सामने निबंध का कोई ढाँचा या रूप-विधान नहीं जिसके आधार पर वह अपने विचारों को क्रमबद्ध रूप से अपने पाठकों के सामने उपस्थित कर सके। इसलिये कभी-कभी निबंध में भी कहानी के गुण दिखाई देते हैं।

आधुनिक काल में आलोचना का विकास अधिक मात्रा में हुआ है और आज के अधिकतर निबंधकार आलोचना की ओर मुड़े हैं। निबंध की अपनी एक शैली होती है और उसका एक अलग उद्देश्य भी। आधुनिक युग के निबंधों में विषयों की विविधता होती है परन्तु उसके रूप-विधान में नवीनता के लक्षण कम दिखाई पड़ते हैं। हरएक निबंध की अलग-अलग शैली होती है उसके द्वारा निबंधकार अपने विचार पाठकों के सामने उपस्थित करता है। निबंधों के द्वारा ही गद्य-साहित्य वैभव उपस्थित किया जाता है। इसलिये निबंध-साहित्य की उन्नति के साथ ही गद्य साहित्य की प्रगति का अनुमान किया जा सकता है। श्री वशिष्ठ के 'श्री भगवान को दान' (१९५० शीर्षक निबंध से निम्नलिखित उद्धरण में आधुनिक निबंध की शैली का रूप देखा जा सकता है—

"पर वे भगवान हैं कौन? भगवान् वे मानव-मूर्ति हैं जो सान्त अहंकार की भूमिका में अनन्त महेश्वर को प्रतिष्ठित किए हुए हैं। नागरिक मनुष्यों-जैसी ही होते हैं हीरों के जौहरी, कांच-जैसे ही होते हैं हीरे, कोई विशेष आकार भेद उनका नहीं होता, पर जिन्हें लगन है, पुकार है, तलाश है, वे बार-बार ठगे जाकर भी जौहरी को ढूंढ ही निकालते हैं। किन्तु जो कांच से संतुष्ट हो सकते हैं उन्हें न जौहरी को चाह होती है, न तलाश।"[1]

१. श्री वशिष्ठ—'श्री भगवान को दान', 'सरस्वती,' अप्रैल, १९५० पृ० २५५

# अध्याय ६

# आलोचना

हिन्दी आलोचना साहित्य का इतिहास लगभग अस्सी वर्षों का मिलता है। भारतेन्दु-युग में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के साथ ही आलोचना का सूत्रपात्र हुआ और उसका विकसित तथा स्वतंत्र रूप आधुनिक युग में दिखाई देता है। यद्यपि हिन्दी गद्य के उपन्यास, नाटक, कहानी, निबंध आदि विविध साहित्य-रूपों की भी प्रगति हो रही है, परन्तु आधुनिक युग को आलोचना का ही युग माना जा सकता है। आज-कल आलोचना साहित्य की प्रगति तथा प्रचार इतना तीव्र गति से हो रहा है कि हिन्दी के बड़े-बड़े लेखकों में भी आलोचनात्मक साहित्य लिखने की भावना दिखाई पड़ती है। हिन्दी आलोचना-साहित्य में क्रान्तिकारी विकास होने के अनेक कारण हैं और उनके अध्ययन की दृष्टि से हिन्दी के समूचे आलोचना-साहित्य के इतिहास को निम्नलिखित काल-विभागों में बाँटकर उसके क्रमिक विकास पर विचार किया जा सकता है :—

काल-विभाग

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | प्रारंभिक-काल | सन् १८७२ ई० से | सन् १८९७ ई० तक |
| २. | विकास-काल | सन् १८९७ ई० से | सन् १९३० ई० तक |
| ३. | विस्तार-काल | सन् १९३० ई० से | सन् १९५० ई० तक |

## आरंभिक-काल (सन् १८७२ ई० से सन् १८९७ ई० तक)

हिन्दी आलोचना का सूत्रपात भारतेन्दुयुगीन साहित्यिक पत्रिकाओं के प्रकाशन के साथ हुआ। हिन्दी में आलोचना का सूत्रपात करने वाले प्रमुख पत्रों में 'कविवचन-सुधा' (१८६८), 'हिन्दी प्रदीप' (१८७७), 'सार सुधानिधि' (१८७८), 'क्षत्रिय पत्रिका' (१८८१), 'आनंद कादंबिनी' (१८८१), 'कवि व चित्रकार' (१८९१), 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' आदि साहित्यिक पत्रिकाएँ मुख्य हैं। हिन्दी में आलोचना का प्रारंभ भारतेन्दु हरिश्चंद्र द्वारा हुआ और 'हरिश्चंद्र चन्द्रिका' पत्रिका के मुख पृष्ठ पर पत्रिका में प्रकाशित होने वाले विषयों की जो सूची दी गई है उसके अन्त में.... "और समालोचना संभूषिता" लिखकर नाटक, परिहास, गप्प आदि के साथ पत्रिका में समालोचनात्मक रचनाओं को स्थान देने के प्रयत्न हुये हैं।

हिन्दी आलोचना के प्रारंभिक काल में आलोचना की पद्धति का कोई मापदंड नहीं था। किसी लेखक की रचना का रीति परंपरा के अनुकूल गुण-दोष-विवेचन या

लेखक के बारे में इधर-उधर के एक-दो विचार लिख देना इतनी ही बातें आलोचना में दिखाई देती हैं। 'कविवचन सुधा' में प्रकाशित 'हिन्दी कविता' (१८७२) शीर्षक लेख में हिन्दी के बिलकुल आरंभिक काल की आलोचना पद्धति का रूप मिलता है :—

हिन्दी कविता

"इस काल में नाटक एक दो बने जिसमें एक हास्यार्णव था यद्यपि यह शुद्ध नाटक की चाल से नहीं है तथापि कुछ नाटक की चाल छूकर बना है पर बहुत असभ्य शब्द से भरा है इसी से कवि ने उसमें अपना नाम नहीं रक्खा पर अनुमान होता है कि रघुनाथ कवि का है नाटक सब के पहले जो हिन्दी भाषा में पुरानी ठीक नाटक की रीति से बनी वह नहुष नाटक श्री गिरिधरदास कवि का है और इसके पीछे आजकल तो अनेक नाटक बने और अब तो भाषा के अनेक व्याकरण और प्रबन्धों की पुस्तक बन गई। सांप्रतकाल के कवियों में श्री गिरिधर दास महान कवि हुए क्योंकि व्याकरण और कोष और नाटक हिन्दी में पहले इन्होंने बनाए और इस काल में पजनेस ठाकुर रघुनाथ इत्यादि अनेक कवि कुछ पहले हुए पर किसी ने नई बात नहीं की वही लीक पीटते चले गए।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण में आलोचना पद्धति का वर्णनात्मक अंश अधिक मिलता है और उसमें 'हिन्दी कविता' पर लिखने की अपेक्षा नाटक पर ही अधिक लिखा गया है।

'कविवचन सुधा' के समान 'क्षत्रिय पत्रिका' और 'आनंद कादंबिनी' में भी आलोचनात्मक लेख मिलते हैं। इन लेखों में आलोचना का प्रारंभिक रूप मिलता है। इन पत्रिकाओं में प्राप्ति स्वीकार के लिए जो कालम (स्तंभ) निर्धारित थे उनमें 'अंधेर नगरी' नाटक, 'नीलदेवी' नाटक, 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक 'नूतन ब्रह्मचारी' उपन्यास आदि साहित्यिक रचनाओं तथा तत्कालीन प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं की आलोचनाएँ रहती थीं। यह आलोचनात्मक लेख किसी विशेष लेखक द्वारा लिखवाया नहीं जाता था, हरएक पुस्तक या समाचारपत्र को स्वीकार करने पर उस पर कुछ आलोचनात्मक पंक्तियाँ लिखी जाती थीं। इस प्रकार की 'प्राप्ति स्वीकार या आलोचना' का उद्देश्य "गुन गाना दोष दिखाना और सीख सिखाना" तक ही सीमित था। सन् १८८१ में 'क्षत्रिय पत्रिका' में प्रकाशित "मालती और माधव" रचना पर इस प्रकार की आलोचना मिलती है :—

"मालती और माधव"—हम धन्यवाद पूर्वक इस पुस्तक को स्वीकार करते हैं। ग्रंथकर्ता ने इसे उपन्यास के रीति पर लिखा है परन्तु बना नहीं। जो कुछ हो यह देखने योग्य है हम पहले इसके शुभचिन्तकों के निकट यह निवेदन करते हैं कि एक बेर इसे आद्योपान्त अवलोकन कर लें ताके उनको यह तो मालूम हो जाय कि

---

१. कविवचन सुधा, जि० ३, नं० १३, १० जनवरी १८७२, पृ० ७९

उपन्यास क्या है और किसे कहते हैं यद्यपि इसके कर्ता ने मुद्रण के समय असावधानता की है परन्तु विषय कुछ बुरा नहीं है।"[1]

इस छोटी-सी आलोचनात्मक टिप्पणी में ग्रंथ की 'प्राप्ति स्वीकार' का संकेत मिलता है। इसमें पाठकों के प्रति निवेदन मिलता है और साथ ही ग्रंथ पर एक प्रकार का निर्णय दिया गया है। इसी साल 'आनंद कादंबिनी' में भारतेन्दु की 'नीलदेवी' रचना पर जो आलोचनात्मक टिप्पणी मिलती है उसमें 'ग्रंथ-परीक्षण' का आरंभिक रूप इस प्रकार प्रकट हुआ है:—

> "नीलदेवी" हमारे प्रियवर श्रीयुत 'बाबू हरिश्चंद्र' जी रचित, ऐतिहासिक दुःखान्त गीतिरूपक। यह रूपक पंजाब के राजा सूरजदेव की रानी नीलदेवी का अपने पति के प्राण के बदले में स्वयम् गायकी वेष में दिल्ली के बादशाह के सेनापति 'अबदुल शरीफ खां शूर' की सभा में जाकर उक्त पति प्राणहारक शत्रु का बध कर डालने के बीज पर लिखा गया है। यद्यपि इस रूपक के प्रबंध और रचना में कुछ २ दोष भी क्यों न आ गये हों, पर तो भी हम केवल गुणमात्र का वर्णन करना उचित जानते हैं।.......[2]

उपर्युक्त टिप्पणी में 'नीलदेवी' रचना के बारे में बहुत कुछ लिखा गया है। इसमें आलोचक 'रचना' के गुण दिखाना चाहता है। परन्तु गुण-दोष विवेचन पद्धति की समालोचनात्मक टिप्पणी सन् १८८२ में 'क्षत्रिय पत्रिका' में प्रकाशित 'अंधेर नगरी' रचना की आलोचनात्मक टिप्पणी में मिलती है और उसमें गुणों की प्रशंसा भी की गयी है:—

'अंधेर नगरी'

> "भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र के 'अन्धेर नगरी' नामक हास्य और उपदेशयुक्त रूपक के विषय में कुछ लिखा चाहता हूँ तो लेखनी मुँह फैला देती है। उनके सम्मुख वही कुछ लिख सकता है जो उन्हीं सा नवों रसों में निपुण और गद्य पद्य दोनों में परिपूर्ण हो। यद्यपि इसे एक खेल समझ कर उक्त बाबू साहब ने एक ही दिन में लिख डाला है पर गद्य और पद्य दोनों में हास्य और उपदेश दोनों को भलीभाँति निबाहा है। बस इसी का नाम 'खेल का खेल तमाशे का तमाशा है।"[3]

'प्राप्ति स्वीकार' के रूप में लिखी गयी इस प्रकार की आलोचनात्मक टिप्पणियों में 'ग्रंथ-परिचय' का प्रारंभिक स्वरूप दिखाई पड़ता है। जो नाटक या उपन्यास स्वीकार किए जाते थे उसपर कुछ न कुछ लिखना आवश्यक था इसलिए पत्रिका के संपादक

---

१. 'क्षत्रिय पत्रिका', खंड १, संख्या ५, संवत् १९३८, पृ० १२३

२. 'आनंद कादंबिनी' खंड १, संख्या ६, सं० १९३८, पृ० १२

३. 'क्षत्रिय पत्रिका', खंड ९, संख्या ११, संवत् १९३९, पृ० २४९

इस प्रकार की टिप्पणियों के लिये 'प्राप्ति स्वीकार या आलोचना' स्तम्भ को अलग स्थान देते थे परन्तु उसमें रचना या ग्रंथकार की स्तुति रहती थी और आलोचना को कम स्थान रहता था और यह परंपरा सन् १८८३ तक मिलती है।

'पुस्तक-परिचय' के रूप में लिखे गए आलोचनात्मक लेखों में 'आनंद-कादंबिनी' में प्रकाशित 'संयोगिता स्वयंबर' नाटक की आलोचना बहुत प्रसिद्ध है। इस प्रकार की सर्वांगीण गुणों से युक्त आलोचना सन् १८८५ ई० तक नहीं मिलती है। इसमें कटूक्तियाँ भी हैं और आलोचना का गंभीर तथा विश्लेषणात्मक रूप भी। इसमें आलोचक का ध्यान स्वाभाविकता की ओर ही रहा है और इसमें तत्कालीन आलोचना के बारे में कई संकेत भी मिलते हैं:—

"संयोगता स्वयम्बर नाटक।

यद्यपि इस पुस्तक की समालोचना करने के पूर्व्व इसके समालोचकों की समालोचनाओं की समालोचना करने की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि जब हम इस नाटक की समालोचना अपने बहुतेरे सहयोगी और मित्रों को करते देखते हैं, तो अपनी ओर से जहाँ तक खुशामद और चापलूसी का कोई दरजा पाते हैं, शेष छोड़ते नहीं दिखाते, जिसे यदि खुशामद न मानी जाय तो यह अनुमान हो कि न वे केवल नाटक विद्या और पुराने कवियों के काव्य ही से अनभिज्ञ हैं, किन्तु कदाचित भाषा वा हिन्दी को भी भलीभाँति नहीं जानते, क्योंकि इस क्षुद्र ग्रंथ की रचना पर मोहित हो रचयिता को भाषा के वाल्मीकि, भाषा के कलिदास और भाषाचार्य्य कह डालते और श्री हरिश्चंद्र के तुल्य भारतेन्दु के पद के योग्य ठहराते।"[1]

उपर्युक्त समालोचनात्मक लेख के प्रारंभिक अंश की पंक्तियाँ पढ़ते ही इसमें समालोचनात्मक शैली का निखरा हुआ रूप मिलता है। इसमें समालोचक कुछ कहना चाहता है और वह केवल पुस्तक के गुणदोष विवेचन करना नहीं चाहता, बल्कि तत्कालीन समालोचना के क्षेत्र में जो कुछ धाँधली मची थी उसकी ओर भी संकेत करता है। वास्तव में इस समालोचनात्मक लेख की बहुत प्रशंसा हुई होगी, क्योंकि बाद में इसी पत्रिका में अपने उपन्यास 'नूतन ब्रह्मचारी' की आलोचना 'संयोगिता स्वयंबर' के ढंग पर करने के लिए शायद बालकृष्ण भट्ट ने इस पत्रिका के संपादक को लिखा होगा। इस बात का संकेत भी संपादक ने 'नूतन ब्रह्मचारी' पर लिखी हुई आलोचनात्मक टिप्पणी में इस प्रकार किया है:—

नूतन ब्रह्मचारी

"उपन्यास एक सहृदय के हृदय का विकास अर्थात् हम लोगों के सुयोग्य मित्र यम, ए, उपाधिधारी रचित, जिसको वे हमारे पास भेजकर 'संयोगिता स्वयम्बर' की सी समालोचना लिखने को लिखते हैं।'[2]

---

१. 'आनंदकादंबिनी' माला २, मेघ १०–११–१२, संवत् १९४२, पृ० ७

२. 'आनंद कादंबिनी माला ३, मेघ १–२, संवत् १९४४, पृ० १९

इस प्रकार की समालोचना का दर्शन तत्कालीन 'हिन्दी-प्रदीप', 'कवि व चित्रकार' आदि पत्रिकाओं में मिलता है। पं० कुन्दनलाल की 'कवि व चित्रकार' पत्रिका में 'नवीन ग्रंथों की आलोचना' शीर्षक के अन्तर्गत किताबों की 'सुन्दरी स्वप्न-प्रकाश' तथा लाला शालग्राम जी कृत 'मोरध्वज' नाटक की समालोचनाएँ एक ही ढंग की हैं। 'मोरध्वज' पर इस प्रकार लिखा गया है :—

मोरध्वज नाटक

"लाला शालग्राम जी का बनाया हुआ मोरध्वज (म्यूरध्वज) नाटक हमारे पास पहुँचा इस उत्तम ग्रंथ को हमने आदि से अन्त तक पढ़ा इसमें करुणा वीर शान्त आदि जितने रस हैं ग्रंथकार ने बड़ी उत्तमता के साथ अभिनय दिखलाया है। राजा मयूरध्वजी की दृढ़ भक्ति उदारता और भगवान श्री कृष्णचन्द्र की भक्तवत्सलता और अर्जुन के साथ पूर्ण मित्रता से दिखलाई गई है कि जिन से ग्रन्थकार की कवित्व शक्ति का पूर्णरीति से (परिचय) मिल सकता है। स्थान-स्थान पर प्राचीन कवियों के कवित्त दोहे आदि जो दिये हैं वे मानों सुवर्ण जटित रत्नों का अनुकरण कर रहे हैं—भाषा इस नाटक की अतीव सरल और मनोहरम है इस ग्रंथ के पढ़ने से मनुष्यमात्र की बुद्धि असत्कर्मों को छोड़ सन्मार्ग में प्रवृत्त हो सकती है भक्तों को इसके देखने से एक अलौकिक आनंद की प्राप्ति होगी उपसंहार में हम ग्रंथकर्ता को धन्यवाद देते हैं जिन्होंने ऐसे सुगम और मनोहर नाटक को बनाकर हमारी देशभाषा की उन्नति की साधारण कवियों को चाहिये कि लाला शालग्राम की सी भाषा अपने बनाये हुए ग्रंथों में रक्खा करें कि जिसे सर्वसाधारण सुगमता से समझ सकें।"[1]

'मोरध्वज' की समालोचना में एक विशेषता दिखाई पड़ती है कि उसके अन्त में आलोचक का नाम दिया गया है। इससे दो बातों के बारे में तर्क किया जा सकता है। अब समालोचना करने का कार्य संपादक के अलावा दूसरे लेखक भी करते थे। यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिक काल में जिस प्रकार आलोचना करने के लिए भिन्न-भिन्न लेखकों के पास किताबें भेजी जाती हैं उसी प्रकार की पद्धति इस काल में आरंभ हुई होगी। 'मोरध्वज' की समालोचना पढ़कर कोई भी पाठक यह कह सकता है कि समालोचना में कलात्मक तथा व्यवस्थित ढंग का आविर्भाव हो रहा था। इसमें आलोचक ने नाटक की कथावस्तु तथा भाषा पर अलग-अलग लिखा है और अन्त में समालोचना का उपसंहार लिखकर नाटककार को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से धन्यवाद भी दिया है।

सैद्धान्तिक आलोचना की दृष्टि से भारतेन्दु का 'नाटक' शीर्षक आलोचनात्मक

१. 'कवि और चित्रकार,' संवत् १९४० वि० ३१

निबंध अपना एक विशेष स्थान रखता है। इस पुस्तक द्वारा लेखक का लक्ष्य हिन्दी के नाटककारों को अच्छे-अच्छे नाटक लिखने की प्रेरणा या शिक्षा देना था। अर्थात् यह पुस्तक उन्होंने 'भारतीय नाट्य-शास्त्र', 'साहित्य-दर्पण', 'काव्य प्रकाश', 'विल्सन्स हिन्दू थिएटर्स', 'लाइफ आव् दि एमिनेंट परसन्स', 'ड्रामेटिस्ट्स ऐंड नावेलिस्ट्स' आदि पुस्तकों की सहायता लेकर लिखी थी इसलिये इसमें आलोचना की पांडित्यपूर्ण शैली का दर्शन मिलता है। इसमें रीतिकालीन काव्यग्रंथों की आलोचनात्मक पद्धति की परंपरा नहीं दिखाई पड़ती। संस्कृत के नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों पर जोर न देकर अंग्रेजी और बंगला की नाट्य- पद्धति के आदर्श पर नाटकों का निर्माण करने की प्रेरणा इस पुस्तक द्वारा मिलती है। डा० रामविलास शर्मा ने इसके महत्व पर इस प्रकार प्रकाश डाला है:—

**"भारतेन्दु ने 'नाटक' नाम के निबंध में आलोचना के कुछ मूल सिद्धांत स्थिर किए हैं जो हमारे लिये बहुत ही मूल्यवान् हैं। उनके अनुसार मनुष्य की वृत्तियाँ शाश्वत न होकर परिवर्तनशील हैं। परिवर्तित वृत्तियों का ध्यान रखकर नाटक लिखना चाहिए। आधुनिक काल में देश-प्रेम और समाज-संस्कार के नाटक लिखे जाने चाहिए। साहित्य में अलौकिक विषयों की जगह लौकिक विषयों को जगह देनी चाहिए। पुराने नियमों को युग की आवश्यकता के अनुसार परख कर अपनाना चाहिए। नाटक लिखने के लिए समाज का व्यापक अनुभव होना बहुत जरूरी है।"[1]**

भारतेन्दुकालीन 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चंद्र चन्द्रिका', 'हरिश्चंद्र मैगेजीन', 'आनंद कादंबिनी', 'हिन्दी प्रदीप', 'कवि व चित्रकार' आदि पत्रिकाओं में आलोचनात्मक रचनाएँ छपती थीं। मुद्रण-कला का प्रचार होने के कारण पुस्तकों का प्रकाशन सर्व-सुलभ हुआ था इसलिये समाचार-पत्रों में विज्ञापन भी होता था। ग्रंथ लेखक अपनी किताबें पत्र-पत्रिकाओं के संपादकों के पास भेजते थे और पुस्तक के 'प्राप्ति स्वीकार' के रूप में कुछ लिखा भी जाता था। परन्तु पाठकों का मन समालोचना की ओर बहुत आकृष्ट नहीं हुआ था। अधिकतर लेखक किसी न किसी पत्रिका के संपादक थे इसलिये उनकी किताबों पर किसी दूसरी पत्रिका में भी आलोचना छपती थी।

भारतेन्दु-युग रीति-काल से प्रभावित था। इसलिए पांडित्यपूर्ण समालोचना पद्धति का प्रभाव कहीं न कहीं दिखाई पड़ता है। इस काल के आलोचकों ने कविता, नाटक, उपन्यास आदि पर आलोचनात्मक लेख लिखे हैं परन्तु आलोचना के सैद्धान्तिक पक्ष पर अधिक जोर नहीं दिया गया है। इसलिये इस काल की आलोचनात्मक सामग्री

---

१. डा० रामविलाश शर्मा, 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' १९५३, पृ० १७६

में आलोचना की आरंभिक अवस्था मिलती है। इस काल के आलोचकों में भारतेन्दु हरिश्चंद्र, बदरीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र ही मुख्य माने जा सकते हैं।

भारतेन्दुकालीन समालोचना के कार्य को देखकर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि यह युग समालोचना की गंभीरता तथा प्रौढ़ता के लिए उपयुक्त नहीं था क्योंकि हिन्दी में अच्छी-अच्छी किताबें नहीं लिखी गई थीं तथा उस समय किसी भी ग्रंथ की समीक्षा से परिचय प्राप्त करने के लिए पाठकों के पास कोई साधन नहीं थे। जो कुछ समालोचनाएँ प्रकाशित होती थीं उनमें अधिकतर गुण-दोष विवेचन ही रहता था और किसी वाद के घेरे में वह न जा सकी। इसलिये इस काल की समालोचना में आलोचना पद्धति की प्रयोगावस्था के लक्षण दिखाई पढ़ते हैं। परन्तु आलोचना की यह परंपरा एक नए युग की प्रतीक्षा कर रही थी। सन् १८९७ में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन के कारण आलोचना को एक नई दिशा मिली और द्विवेदी युग के आलोचकों की प्रारंभिक रचनाएँ इस पत्रिका द्वारा पाठकों के सामने आने लगीं। इस तरह इस पत्रिका के प्रकाशन के साथ आलोचना के क्षेत्र में एक नए युग का प्रारंभ हुआ।

### विकास-काल (सन् १८९७ से सन् १९३० ई० तक)

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन के बाद हिन्दी आलोचना के इतिहास में एक नए युग का आरंभ होता है। इस पत्रिका के प्रथम वर्ष में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का 'समालोचना', बाबू जगन्नाथदास का 'समालोचनादर्श', अंबिकादत्त व्यास का 'गद्य-काव्य-मीमांसा' आदि लेख हिन्दी समालोचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। बाद में 'समालोचनादर्श' और 'गद्य-काव्य-मीमांसा' पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए। इन दोनों ग्रंथों में आलोचना के सिद्धान्तों का विश्लेषण मिलता है। 'समालोचनादर्श,' पोपकृत 'एसे आन् क्रिटिसीज्म' का काव्यानुवाद है। हिन्दी आलोचना की प्रारंभिक अवस्था में समीक्षा शास्त्र को पद्यबद्ध करना भारतेन्दुयुगीन काव्यपरंपरा का परिचय देना है। इसमें 'रत्नाकर' जी की प्रतिभा का दर्शन होता है। किसी भी लेखक में प्रतिभा का होना अत्यावश्यक है और इसका परिचय रत्नाकरजी ने इस प्रकार दिया है:—

> **"बिन प्रतिभा के लिखत तथा जाँचत बिबेक बिन,**
> **अहंकार सौं भरे फिरत फूले नित निसि दिन,**
> **जोरि बटोरि कोऊ साहित्य-ग्रंथ निर्माने,**
> **अर्थसून्य, कहुँ, कहूँ बिरोधी लच्छन ठाने।"[1]**

इससे पता लगता है कि कवियों का लक्ष्य भी आलोचना की ओर गया है। इन तीन रचनाओं को देखकर यह कहा जा सकता है कि इस समय समीक्षा-संबंधी

---

१. जगन्नाथदास 'रत्नाकर', 'समालोचनादर्श' तृतीय संस्करण, पृ० ५१

कार्य की कमी का अनुभव अग्निहोत्री, अंबिकादत्त व्यास जैसे विद्वानों को होता होगा और इसलिए उनके द्वारा व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में कुछ कार्य हो सका।

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में इतिहास, साहित्य, भाषातत्व, पुरातत्व आदि के बारे में लेख प्रकाशित होने लगे और खोज संबंधी सामग्री भी पाठकों के सामने आने लगी। इसी काल की 'हिन्दी प्रदीप', 'आनंद-कादंबिनी' आदि भारतेन्दुयुगीन पत्रिकाओं में भी समीक्षा-प्रधान लेख प्रकाशित होते थे। अर्थात् इन पत्रिकाओं का उद्देश्य पाठकों के लिये सब प्रकार की सामग्री प्रस्तुत करना था, इसीलिये उनमें जो कुछ समालोचनात्मक लेख मिलते हैं वे प्रायः निबंध के रूप में ही हैं।

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन से हिन्दी में महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, श्यामसुन्दरदास, अंबिकादत्त व्यास, मिश्रबंधु जैसे धुरंधर लेखकों की प्रतिभा को विकसित होने के लिए अवकाश मिला और द्विवेदीयुग के गद्य-प्रवर्कों की एक विशाल परंपरा निर्मित हुई। पत्रिका के जून सन् १८९८ ई० के अंक में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी कृत 'नागरी! तेरी यह दशा', श्यामसुन्दरदास कृत 'भारत-वर्षीय भाषाओं की जाँच' जैसे महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए हैं। अतः पत्रिका के प्रारं-भिक अंकों में ही हिन्दी साहित्य के विविध अंगों पर विचार होने लगा।

आधुनिक हिन्दी आलोचना का सूत्रपात 'सुदर्शन' (१९००), 'सरस्वती' (१९००) 'समालोचक' (१९०२) आदि पत्रिकाओं के कारण हुआ। इन पत्रिकाओं में 'सरस्वती' और 'समालोचक' द्वारा आलोचना साहित्य की पर्याप्त उन्नति हुई। 'सरस्वती' की संपादक समिति में जगन्नाथ 'रतनाकर', राधाकृष्णदास, श्यामसुन्दरदास, किशोरीलाल गोस्वामी और कार्तिकप्रसाद खत्री थे, तथा 'सरस्वती' के प्रथम अंक से ही 'आगत ग्रंथादिकों की यथोचित' समालोचना आरंभ हुई। भारतेन्दुकालीन लेखकों के जीवनचरित्र पर जितने लेख प्रकाशित हुए हैं उनमें उन उन लेखकों की कृतियों की समालोचना भी की गई। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के 'सरस्वती' के संपादक होने के बाद आलोच-नात्मक साहित्य लिखने के लिए प्रोत्साहन मिलने लगा और प्रकाशित पुस्तकों की समालोचना करने की दृष्टि से १९०४ से सरस्वती में 'पुस्तक परीक्षा स्तंभ' आरंभ किया गया। इससे द्विवेदीयुगीन समालोचना साहित्य का प्रारंभ माना जाता है। इस प्रकार की आलोचना का नमूना इस रूप में मिलता है:—

"पुस्तक-परीक्षा"

"विघ्नदर्शन। इसका दूसरा नाम है" राक्षसीमाया का परिचय"। 'टाइटिल पेज' इसपर नहीं है। इसके कर्ता बरेली निवासी खुन्नीलाल शास्त्री हैं। इसमें 'सूत्र' हैं। जैसे संस्कृत की प्राचीन पुस्तकों में सूत्र हैं वैसे ही इसमें भी हैं। उनका भाष्य भी है। वह भी हिन्दी में है। नग्न रहने वाले, भूत, प्रेत इत्यादि सिद्ध

**करने का यत्न करने वाले, तथा अघोरपन्थी मत के अनुयायियों के प्रतिकूल बहुत सी बातें इसमें शास्त्रीजी ने लिखी हैं।"[1]**

सन् १९०० के आसपास पत्र-पत्रिकाओं में 'आलोचना' के बारे में चर्चा हो रही थी और उसके लिये हिन्दी के विद्वानों की एक समिति बनवाई गई थी परन्तु इससे कोई कार्य नहीं हो सका। परन्तु पाठकों के मन में समालोचनात्मक साहित्य की आवश्यकता का अनुभव होने लगा। इस काल के निबंधकार भी अपने साहित्यिक निबंधों में समालोचनात्मक विचार प्रकट करने लगे। इस काल में अधिकतर समालोचनात्मक निबंध लिखे गये हैं। हिन्दी-उर्दू समस्या और अन्य तत्कालीन साहित्यिक समस्याओं का विवरण इन लेखों में मिलता है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में अनेक साहित्यिक निबंध पढ़े जाते थे और उनपर चर्चा होती थी। इन साहित्यिक निबंधों में तत्कालीन साहित्य की समस्याओं पर विचार किया जाता था और साहित्य की उन्नति करने के लिए नई-नई योजनाओं पर विचार किया जाता था। इस प्रकार आलोचना का क्षेत्र बढ़ता ही गया। भिन्न-भिन्न नगरों में साहित्यिक गोष्ठियों की आयोजना होती थी और उनमें भी साहित्य के किसी न किसी अंग पर चर्चा होती थी। इस प्रकार की चर्चा में वादों का निर्माण होता था और अनेक लेखकों द्वारा वादात्मक लेख लिखे गये। आलोचना-क्षेत्र इतना व्यापक होने लगा कि तत्कालीन समस्याओं का विश्लेषण करने की प्रवृत्ति आलोचना के रूप में दिखाई देने लगी। सन् १९०७ में 'सरस्वती' में प्रकाशित 'स्त्री शिक्षा की आलोचना'[2] शीर्षक निबंध में स्त्री शिक्षा की आवश्यकता पर विचार किया गया है।

आलोचना का क्षेत्र धीरे-धीरे इतना विस्तृत होने लगा कि हिन्दी के विद्वान अंग्रेजी साहित्य की कृतियों के बारे में भी अपने विचार प्रकट करने लगे। सन् १९०६ में सूर्यनारायण दीक्षित कृत 'शेक्सपियर का हैमलेट' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। इस में आलोचना की विश्लेषणात्मक शैली का रूप इस प्रकार प्रकट हुआ है:—

**"शेक्सपियर की प्रतिभा इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि उसने हैमलेट के पागलपने को इतनी योग्यता के साथ दरसाया है कि आजकल भी बड़े बड़े समझदारों को भ्रम हो जाता है कि हैमलेट वास्तव में पागल था, वह बनावटी पागल न था। कोई कोई डाक्टर हैमलेट को पढ़कर अपनी सारी डाक्टरी उसी की खोज में खर्च कर देते हैं कि हैमलेट वास्तव में पागल था या थोड़े दिनों के लिये पागल बन गया था। कोई कहता है कि वह बनावटी पागल था। कोई कहता है नहीं, वास्तव में पागल**

---

१. 'सरस्वती,' जनवरी १९०५, पृ० ४०

२. 'सरस्वती,' जून १९०५, पृ० २२३

**था। कोई कोई यह भी कहते हैं कि न तो वह सच्चा पागल था और न बनावटी ही।'** [१]

इस काल में जासूसी, तिलस्मी, ऐयारी आदि उपन्यासों का प्रचार जनता में अधिक संख्या में हो रहा था और समाचारपत्रों में उनकी चर्चा होती थी। इन पत्रिकाओं में उपन्यासों की प्रशंसा ही की जाती थी और साधारण से साधारण पुस्तक पर बहुत अच्छी आलोचना निकलती थी। इस प्रकार की आलोचना का विरोध माधव प्रसाद मिश्र ने इस प्रकार किया है:—

**"समालोचना करते करते अपने घर में उन्होंने (समालोचकों ने) कुछ नियम भी गढ़ लिये हैं और बात बात में निजनिर्मित नियम और प्रथा की दुहाई देते हैं और साथ ही 'तिलिस्म' और 'ऐयारी' के नाम से उनके बदन में खाज उठने लगती है। उनसे कोई नहीं पूछता कि उपन्यासों के विषय में तुम जानते ही क्या हो? जिस उपन्यास को तुम ऐयारी तिलिस्म का पचड़ा कहते हो उस उपन्यास के बनने के पहले तुमने कितने उपन्यास पढ़े हैं? और किस किस उपन्यास से कौन कौन गुण तुमने सीखे हैं और इस विषय में समालोचक बनने की योग्यता कहाँ प्राप्त की है?"**[२]

हिन्दी आलोचना के विकास युग के प्रारंभ में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दरदास, मिश्रबंधु, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवान दीन जैसे समालोचकों की कृतियाँ मिलती हैं। सन् १९०० के आसपास हिन्दी भाषा तथा उसके साहित्य की परंपरा को निश्चित करने के लिए पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान् तथा साहित्य-सेवक की आवश्यकता थी।

महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के संपादक होने के कारण तत्कालीन साहित्य की विविध धाराओं से परिचित थे। उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग मौलिक-साहित्य निर्माण करने की अपेक्षा हिन्दी-साहित्य की उन्नति करने के लिये किया। हिन्दी साहित्य के उत्थान काल में जो कुछ साहित्यिक समस्याएँ उभरी थीं उनका निराकरण करने का प्रयत्न उनकी हरएक कृति में मिलता है। उनके युग तक भारतेन्दुकालीन समीक्षा के आदर्श का प्रभाव था और किसी पुस्तक की आलोचना उसके गुणदोष विवेचन के रूप में ही की जाती थी। परन्तु द्विवेदी जी ने अपने आलोचनात्मक लेख केवल अपने पाठकों तक सीमित नहीं रखे, बल्कि उनका प्रभाव उस समय के कवियों और कलाकारों पर भी पड़ा और इनके द्वारा साहित्य-निर्माण के लिये एक निश्चित दिशा निर्देशित होती गई।

---

१. 'सरस्वती,' जून १९०६, पृ० २४१

२. चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, 'माधव प्रसाद मिश्र निबंधमाला' संवत् १९९२, पृ० ६५

**से जन्माया था! अच्छा तेरे जी में आवै सो कह, पर मेरी तो माता की आत्मा ठहरी, मैं तो आसीस ही दूँगी।"[1]**

द्विवेदी जी के समय में अंग्रेजी साहित्य में विक्टोरियन युगीन आलोचना की शास्त्रीय पद्धति का प्रवेश हो चुका था जो आदर्श एवं प्रभाववादी थी। परन्तु अंग्रेजी समालोचना का प्रभाव द्विवेदी जी के काल में नहीं दिखाई पड़ता। द्विवेदी जी को संस्कृत-साहित्य के प्रति अपार श्रद्धा थी इसलिए उनकी आलोचनात्मक कृतियों में भारतीय रस-सिद्धान्त को ही महत्वपूर्ण स्थान मिला है। उनकी अन्तिम कृतियों में रोमाण्टिक भावधारा का भी कुछ प्रभाव लक्षित होता है। वे एक सनातनी हिन्दू एवं पुरातन सिद्धान्तवादी भी थे अतः कवियों या कलाकारों के प्रति उनकी भावना ईश्वरवादी थी, अर्थात् वे कलाकार को साहित्य के क्षेत्र में ईश्वर का ही अवतार मानते थे। वे नवीनता के ग्राहक थे परन्तु अपनी पुरानी परम्परा की रक्षा करके उन्होंने नवीनता का ग्रहण किया। शास्त्रीय सयंम से युक्त स्वच्छंदवादी परम्परा का स्वरूप उनकी आलोचनात्मक कृतियों में मिलता है। उनका 'उपन्यास-रहस्य' नामक लेख उनकी आलोचनाशैली, और दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। इसमें आलोचना की भारतीय पद्धति का स्पष्ट रूप आचार्य द्विवेदी जी की प्रतिभा में दीप्त है—

**"जिनको मनुष्य के स्वभाव का ज्ञान है, जो अपने विचार मनमोहक भाषा द्वारा प्रकट कर सकते हैं, जो यह जानते हैं कि समाज का रुख किस तरफ है और किस प्रकार की रचना से हानि पहुँच सकती है वे पश्चिमी पण्डितों के तत्व-निरूपण का ज्ञान प्राप्त किये बिना भी अच्छे उपन्यास लिख सकते हैं।"[2]**

मिश्रबन्धु कृत 'हिन्दी नवरत्न' द्वारा तुलनात्मक आलोचना का रूप प्रस्तुत किया गया। उस समय एक ओर 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' द्वारा खोजपूर्ण तथा पाण्डित्यपूर्ण समीक्षात्मक लेख प्रकाशित हो रहे थे तथा दूसरी ओर 'सरस्वती' तथा 'समालोचक' में गुण-दोष पद्धति की समीक्षात्मक रचनाएँ प्रकाशित हो रही थीं। मिश्र-बंधुओं ने आलोचना की इन दो धाराओं के सम्मिश्रण से अपनी समीक्षा-पद्धति का रूप पाठकों के सामने रखा।

मिश्रबन्धु कृत 'हिन्दी नवरत्न' तथा 'मिश्रबंधु विनोद' शीर्षक दो महत्वपूर्ण समालोचनात्मक कृतियाँ हैं। 'हिन्दी नवरत्न' में चंद से लेकर भारतेन्दु तक नौ श्रेष्ठ कवियों की कृतियों का विवेचन बड़े पांडित्य के साथ हुआ है। अभी तक हिन्दी के कवियों पर जो कुछ आलोचनाएँ मिलती हैं वे किसी प्रकार के श्रेणी-विभाजन से विहीन हैं। परन्तु 'हिन्दी नवरत्न' में एक विशेष मानदंड के साथ कवियों का श्रेणी-विभाजन हुआ

---

१. 'सरस्वती', नवंबर १९०२, पृ० ३५९

२. 'सरस्वती', 'उपन्यास रहस्य' अक्तूबर १९२२, भाग २३, खंड २, पृ० १९९

है और यही उनकी मौलिकता है। इसलिये कुछ ऐसा भी कहा जा सकता है कि हिन्दी के आलोचना के क्षेत्र में 'हिन्दी नवरत्न' की आलोचना का मुख्य ध्येय हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों को विभिन्न श्रेणियों में विभाजित करना था। 'हिन्दी नवरत्न' में जिन कवियों को कोई स्थान नहीं दिया जा सका उनका ऊहापोह बड़े विस्तार के साथ 'मिश्रबन्धु विनोद' में मिलता है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में सब कवियों को लेकर उनकी काव्यगत विशेषताओं के आधार पर उनका परिचय देकर साथ ही विभिन्न कालविभागों के अनुसार इन कवियों की कृतियों का विश्लेषण हुआ है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के कालविभाजन के आधार पर मुख्य मुख्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके समान विशेषताओं का समीक्षात्मक विश्लेषण करने वाला हिन्दी का यह पहला ग्रंथ है।

यद्यपि मिश्रबन्धु अंग्रेजी साहित्य के ज्ञाता थे लेकिन अंग्रेजी आलोचना का कोई प्रभाव उनकी समीक्षा पद्धति पर नहीं दिखाई पड़ता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनके 'हिन्दी नवरत्न' तथा 'मिश्रबन्धु विनोद' के कारण हिन्दी में गम्भीर तथा विश्लेषणवादी समालोचना की ओर आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किया गया। हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना का आरम्भ करके, हिन्दी साहित्य को विभिन्न विभागों में बाँटकर, हरएक विभाग के कवियों की कृतियों की समीक्षा में कवि का व्यक्तित्व, और उस काल की परिस्थितियों के आधार पर मूल्यांकन करके इन ग्रंथों में समीक्षा और रसवाद का कान्त संयोग हुआ है।

मिश्रबन्धुओं की तुलनात्मक आलोचना की परम्परा को विकसित रूप देने का कार्य श्री पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' पर तुलनात्मक आलोचना लिखकर किया। मिश्रबंधुओं ने अपने 'हिन्दी नवरत्न' ग्रंथ में देव को श्रेष्ठ कवि माना था। शर्मा जी ने 'बिहारी' का पक्ष लिया और बिहारी के काव्य के कलापक्ष तथा रचनात्मक सौन्दर्य का ठीक विश्लेषण किया। इस समय बिहारी पर अनेक आरोप लगाये जाते थे अर्थात् मिश्रबंधुओं के कारण बिहारी के काव्यसौष्ठव के बारे में भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित हुई थीं और इन भ्रान्त धारणाओं को दूर करना कोई साधारण काम नहीं था। 'गाथा सप्तशती', तथा 'आर्या सप्तशती' के कई दोहों से बिहारी के दोहे भावसाम्य रखते हैं और अनेक स्थानों पर इन ग्रंथों के भावों के अपहरण का प्रश्न सामने आता है। शर्मा जी ने इन दो ग्रंथों को सामने रखकर बिहारी के दोहों का अध्ययन करके बिहारी के बारे में प्रचलित धारणाओं को स्पष्ट किया। अर्थात् इस प्रकार के कार्य में शर्माजी हृदय से बिहारी की रचना पर मुग्ध थे इसलिए वे बिहारी को भावापहरण के आरोप से बचा पाये। बिहारी के काव्य की भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करते समय शर्माजी ने बिहारी के सन्मान और काव्य-कला पर इतनी तन्मयता से लिखा है कि उनकी इस कृति में हिन्दी साहित्य-निधि की एक विशेष रचना का काव्य-सौन्दर्य पाठकों के सामने उपस्थित हुआ है। हो सकता है कि भावुकता के आवेश में आकर

शर्माजी ने बिहारी की बहुत प्रशंसा की होगी, परन्तु एक निश्चित उद्देश्य को सामने रखकर शर्माजी ने बिहारी के काव्य का जो विश्लेषण किया वह अत्यन्त उच्च कोटि का है। शर्माजी ने बिहारी में रीतिकालीन काव्यकला का आदर्श दिखाकर बिहारी की श्रेष्ठता को सिद्ध किया। बीच-बीच में विहारी की प्रशंसा में उनकी लेखनी से ऐसे-ऐसे वाक्य निकले हैं कि वे बिहारी के श्रेष्ठत्व को हृदय से अनुभव करते हैं और अपनी अनुभूति का भाव-सौन्दर्य विचारकों तथा विश्लेषण शैली द्वारा अपने पाठकों को भी देना चाहते हैं। उन्होंने अपने प्रिय कवि की तुलना दूसरे कवियों के साथ करके तुलनात्मक आलोचना का आदर्श हिन्दी आलोचकों के सामने रखा।

तुलनात्मक आलोचना की शाखा फिर आगे बढ़ी और पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'बिहारी सतसई' की पद्धति पर 'देव और बिहारी' शीर्षक पुस्तक लिखी। पुस्तक के शीर्षक से ही पता लगता है कि बिहारी से देव की श्रेष्ठता को सिद्ध करना लेखक का ध्येय था। जिस प्रकार पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी के बारे में प्रसारित भ्रान्तियों का निराकरण किया था वही मिश्र जी ने भी देव के बारे में किया। अर्थात् देव के काव्य में कहीं-कहीं अन्य कवियों के भावसादृश्य का जो दर्शन होता था उसका विश्लेषण करके देव में चोरी के आरोपों को दूर करने का प्रयत्न किया है। अर्थात् इस प्रकार की आलोचना करते समय जहाँ कहीं भावसादृश्य की छाया मिलती है वहाँ मिश्रजी ने मूल भाव से देव की काव्य-प्रतिभा में नूतन सौन्दर्य का दर्शन कराया है। क्योंकि भाव-हरण में यदि कहीं नूतन सौन्दर्य के चमत्कार का दर्शन दिखाई देता है तब वह कवि भावापहरण के आरोप से मुक्त होता है। इस प्रकार के सिद्धान्त को लेकर ही मिश्रजी ने देव का पक्ष लिया।

मिश्रबंधुओं ने देव का पक्ष लिया है पर साथ ही उन्होंने देव और बिहारी की काव्य-कला का तुलनात्मक अध्ययन किया। मिश्रजी ने देव और बिहारी की काव्य-कला का तुलनात्मक अध्ययन करते समय बीच-बीच में देव और केशवदास की भी तुलना की है। लेकिन मिश्रबंधुओं से अधिक देव की श्रेष्ठता पर लिखने के अधिकारी मिश्रजी हैं। मिश्रजी ने पद्मसिंह की समालोचना पद्धति को परखकर ही अपनी कृति का निर्माण किया। इसलिए उनमें समालोचना का प्रौढ़त्व तथा संतुलन ठीक दिखाई पड़ता है।

'देव और बिहारी' के झगड़े को लेकर लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' नामक एक आलोचनात्मक पुस्तक लिखकर बिहारी की श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयत्न किया। लालाजी के सामने मिश्रबन्धुओं का 'हिन्दी नवरत्न' तथा पं० कृष्ण बिहारी मिश्र का 'देव और बिहारी' ये दो आलोचनात्मक ग्रंथ थे। लालाजी ने एक वकील या शिक्षक के रूप में इन दोनों ग्रंथों की छोटी-छोटी गलतियों की ओर भी निर्देश किया है। कुछ ऐसा भी लगता है कि यह ग्रंथ केवल मिश्रबंधुओं की आलोचना की प्रत्या-लोचना के रूप में लिखा गया है। क्योंकि जो दोष उन्होंने बिहारी में दिखाने का

प्रयत्न किया है वे ही दोष लालाजी ने देव में भी दिखाये हैं। अर्थात् जिन दोषों को दिखाकर बिहारी का स्थान देव से नीचा सिद्ध किया गया है, उन्हीं दोषों को आधार मानकर लालाजी ने बिहारी का पक्ष लेकर उन्हें श्रेष्ठ सिद्ध किया है। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि लालाजी ने यह पुस्तक बिहारी की सुरक्षा के निमित्त लिखी है। परन्तु इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद बिहारी और देव के बारे में झगड़े की संभावना नहीं हुई और लालाजी की यह पुस्तक अन्तिम ही कही जा सकती है।

तुलनात्मक आलोचना की यह परम्परा द्विवेदी काल के बाद नहीं पनप सकी। इस दृष्टि से उल्लेखनीय ग्रंथ श्रीमती शचीरानी गुर्टू कृत 'साहित्य दर्शन' है। इस ग्रंथ द्वारा लेखिका ने तुलनात्मक आलोचना का व्यापक रूप सामने रख कर आदि कवि वाल्मीकि से लेकर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक विश्व के प्रसिद्ध महान् साहित्यकारों की कृतियों का मूल्यांकन पाठकों के सामने रखा है।

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' तथा 'सरस्वती' के प्रकाशन के कारण जिन आलोचकों का प्रादुर्भाव हुआ है उनमें महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दरदास और पं० रामचंद्र शुक्ल मुख्य हैं। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन के कारण एक प्रकार का विशेष गांभीर्य आया था परन्तु 'सरस्वती' के द्वारा विविध साहित्य-प्रकार पाठकों के सामने रखे जाते थे। द्विवेदी जी ने अपने कई लेख सरस्वती में प्रकाशित कर अपने साहित्य संबंधी विचारों को प्रकट किया। 'सरस्वती' में कुछ ऐसी भी बातें प्रकाशित होती थीं जिनके कारण साहित्य क्षेत्र में एक प्रकार के तीव्र आन्दोलन का वातावरण तैयार हो जाता था और उनपर विचार करने के लिए जो कुछ समालोचनात्मक लेख निकलते थे वे अधिकतर वादात्मक रूप लेकर ही निकले हैं। इसलिए इस काल में कुछ ऐसे भी लेख मिलते हैं कि जिनका उद्देश्य किसी वादात्मक समस्या पर प्रकाश डालना है। महावीर प्रसाद के 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर जो कुछ लेख लिखे गये थे वे इस प्रकार के वादात्मक समालोचना की कोटि में आते हैं। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का उद्देश्य साहित्यिक अनुसंधान था इसलिए उसमें स्वच्छंदवादी व्यक्तिगत विचारों को स्थान नहीं मिला था। नागरी प्रचारिणी सभा की एक विशेष भाषा नीति उसके पीछे थी और उसमें हिन्दी साहित्य के महान् विद्वानों की रचना को ही विशेष स्थान मिलता था। इसलिए साधारण लेखक की आलोचनात्मक कृतियों को स्थान देने का कार्य सरस्वती ने किया।

गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने 'समालोचना' कृति द्वारा सैद्धान्तिक आलोचना का सूत्रपात किया और उसकी विकसित परम्परा बाबू श्यामसुन्दर दास की कृतियों में मिलती है। 'उनकी साहित्यालोचन' 'रूपक रहस्य' जैसी कृतियों ने हिन्दी आलोचना को एक नए रूप में परिवर्तित किया। बाबूजी के समय तक जो कुछ समालोचनात्मक लेख निकलते थे उनमें अधिकतर किसी कवि की कृतियों के बारे में लेखक अपना मत

पष्टतया लिख देता था। इसलिए समालोचना को कोई विशेष कलात्मक या सैद्धान्तिक रूप नहीं मिला था। ऐसी परिस्थितियों में विश्वविद्यालयों में हिन्दी को महत्वपूर्ण स्थान मिलने के कारण हिन्दी साहित्य के बारे में यथार्थ ढंग से पूछताछ होने लगी। विद्यार्थियों को हिन्दी साहित्य के अध्ययन के लिए ऐसी एक पुस्तक की आवश्यकता महसूस होने लगी जिसमें साहित्य के विविध अंगों और उपांगों का विवेचन हो। बाबू साहब के 'साहित्यालोचन' ग्रंथ के कारण विद्यार्थियों को साहित्य के विविध अंगों का स्पष्ट ढंग से परिचय होने लगा और साहित्य की विभिन्न शाखाओं को समझ कर उनपर अपने भी विचार प्रकट करने की शक्ति दिखाई देने लगी।

हिन्दी आलोचना के क्रमिक विकास में 'साहित्यालोचन' को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान मिला है। साहित्यालोचन की मौलिकता को ध्यान में रखकर उसका मूल्यांकन नहीं करना चाहिये। साहित्यालोचन के कारण हिन्दी समीक्षकों को एक नया रूप तथा साहित्य के विविध अंगों पर विचार करने की प्रेरणा मिलने लगी। अभी तक के आलोचनात्मक लेखकों की रचनाओं में पाश्चात्य आलोचना का प्रभाव कम दिखाई देता है परन्तु 'साहित्यालोचन' अंग्रेजी आलोचना-शास्त्र का साहित्यिक हिन्दीकरण है। 'साहित्यालोचन' के कारण हिन्दी के साहित्यकारों को एक नई दृष्टि मिली और हिन्दी साहित्य के विविध अंगों पर सैद्धान्तिक समालोचनाएँ लिखी गईं। बाबूजी के 'रूपक रहस्य' के प्रकाशन के कारण भारतीय नाट्य-शास्त्र तथा उसके विविध सैद्धान्तिक तथ्यों का विवेचन पाठकों के सामने रखा गया। इसलिए इन दोनों ग्रंथों के प्रकाशन के कारण हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में एक नया वातावरण निर्मित हुआ। अर्थात् समीक्षा को कोई मौलिक रूप उनके द्वारा नहीं मिला, परन्तु उनके समकालीन पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं० रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा-शैली में परिपक्वता स्पष्ट दिखाई देती है। बाबूजी ने जिस सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचना में भारतीय तथा पश्चिमीय काव्य सिद्धान्तों को समन्वित करने का प्रयत्न किया था उसको ठीक तथा सुदृढ़ रूप देने का कार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल जी की आलोचनात्मक कृतियों द्वारा हुआ।

शुक्लजी हृदय से कवि थे और मस्तिष्क से आलोचक। उन्होंने सूर, तुलसी, जायसी आदि कवियों पर लिखकर हिन्दी संसार में उनका स्थान निश्चित किया। वे 'तुलसी' जैसे मर्यादावादी तथा नियतिवादी कवि से प्रभावित थे। तुलसीदास ने जिन आदर्शों को सामने रखकर अपने काव्य का निर्माण किया था उनको पूर्ण रूप से समझ कर अपने साहित्यिक विचारों को निश्चित किया। तुलसीदास की आध्यात्मिक तथा सांप्रदायिक पृष्ठभूमि को छोड़कर महत्वपूर्ण चरित्रों को महत्व दिया और उनके मनोवैज्ञानिक चारित्रिक आदर्श का चित्रण बड़ी सहृदयता से किया है। उन्होंने तुलसीदास की रचनाओं की व्याख्या करते समय भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा को एक नया

रूप दिया और सैद्धान्तिक समीक्षा का आदर्श हिन्दी पाठकों के सामने उपस्थित कया।

शुक्लजी की कृतियों में नवीनता के प्रति आग्रह है। शुक्लजी साहित्य के ज्ञाता थे और रिचर्ड जैसे प्रतिभाशाली आलोचक की प्रतिभा का प्रभाव उनपर दिखाई देता है। उनकी समालोचनात्मक शैली में पाश्चात्य परम्परा विषयक बहुत सी बातें मिलती हैं लेकिन जहाँ वाद का प्रश्न आता है तब वे भारतीय साहित्य के आदर्श के अनुसार ही साहित्य की नई प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हैं। इसलिए उनकी आलोचना में भारतीय तथा पाश्चात्य प्रवृत्तियों का सामंजस्य मिलता है।

श्यामसुन्दर दास की आलोचनात्मक कृतियाँ शुक्लजी की रचनाओं के समकालीन हैं। शुक्लजी की रचनाएँ द्विवेदीकालीन परम्परा से प्रभावित हैं और उनकी समीक्षात्मक रचनाओं का प्रकाशन सन् १९०१ से मिलता है और सन् १९०४ में उनका 'साहित्य' शीर्षक लेख सरस्वती में छपा है। इस लेख के द्वारा उन्होंने अपने साहित्यिक विचारों को पाठकों के सामने रखा और इसमें उन्होंने साहित्य की व्यवस्था इस प्रकार दी है--

> "साहित्य केवल लेखन-प्रणाली ही का नाम है, वाचालतों का नहीं। भिन्नता उसकी प्रणाली में, उसके सर्वांगीण और दिगंतव्यापी होने में है। जो बात कही जाती है वह बोलने वाले के पास से बहुत दूर नहीं जा सकती, वायु में उसका नाश हो जाता है। जब शब्दों को, सारगर्भित और उन्नत-भावों को प्रगट करने के लिए, प्रयोग करना होता है, जब उन्हें सृष्टि के अन्त तक स्थायी रखना आवश्यक होता है, और जब उनके द्वारा भावी सन्तति का उपकार वांछित होता है, तब उन्हें लिखना पड़ता है, अर्थात् साहित्य के रूप में ढालना पड़ता है।"[1]

इसी प्रकार 'आनन्द कादंबिनी' में प्रकाशित 'अपनी भाषा पर विचार' शीर्षक लेख में उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार 'शब्द-विस्तार' और 'शब्द योजना' पर जो विचार व्यक्त किये हैं उनमें नवीनता के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। शुक्लजी की भाषा और साहित्य के बारे में देखने का दृष्टिकोण उनकी अन्य रचनाओं में मिलता है। उनकी 'तुलसी-ग्रंथावली' (१९२३), 'जायसी ग्रंथावली' (१९२५), 'भ्रमर गीत सार' (१९२६) आदि की भूमिकाओं में उनकी आलोचनात्मक शैली का परिष्कृत रूप मिलता है। शुक्लजी की समीक्षात्मक कृतियों ने हिन्दी आलोचना को एक निश्चित दिशा में मोड़ दिया है। उनकी आलोचनात्मक कृतियों में उनके व्यक्तिगत भावों तथा विचारों का प्रभाव सर्वत्र दिखाई देता है।

रामचंद्र शुक्ल जी का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' आधुनिक समालोचना के

---

१. 'सरस्वती', मई, १९०४, पृ० १५४

क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने की परम्परा आलोचना के प्रारंभिक युग से ही शुरू हुई थी और इस दृष्टि से गर्साद तासी कृत 'इस्त्वार दला लितेरा त्यूर ऐंदुई ऐं ऐन्दुस्तानी' ग्रंथ का प्रकाशन पहले हुआ है। इसके पश्चात् शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज' और ग्रियर्सन कृत 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्थानी' नामक ग्रंथ लिखे गए। हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने की यह परम्परा मिश्रबंधु कृत 'मिश्रबंधु विनोद' में मिलती है। परन्तु इन ग्रंथों में हिन्दी साहित्य का श्रृंखलाबद्ध इतिहास नहीं लिखा गया। शुक्लजी का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' सन् १९२९ में 'हिन्दी-साहित्य का विकास' शीर्षक से 'हिन्दी शब्दसागर' की भूमिका के रूप में निकला था और सन् १९३० में उसको पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया गया।

शुक्लजी के 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' द्वारा हिन्दी के ऐतिहासिक समीक्षा के क्षेत्र में भी वैज्ञानिक समीक्षा का प्रारम्भ हुआ। उन्होंने हिन्दी-साहित्य के इतिहास को चार विभागों में रखकर, वैज्ञानिक ढंग पर ऐतिहासिक आधार लेकर, विभिन्न समय की नई-नई प्रवृत्तियों का पता लगा कर, प्रत्येक काल की विशिष्ट प्रवृत्ति के साथ उसके मूल के धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि कारणों का विश्लेषण किया है। शुक्ल जी ने इसमें हरएक काल विशेष के अंतर्गत आने वाले ज्ञात तथा अज्ञात कवियों पर लिख कर उनकी कृतियों का उल्लेख किया है। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से जो-जो नई प्रवृत्तियाँ सम्मुख आई हैं उनके तथ्यों का उद्घाटन इतिहास के प्रमाणों के आधार पर कर के कवियों तथा लेखकों की कृतियों का इतिहास देने की अपेक्षा उनकी कृतियों में आधुनिक प्रवृत्तियों का प्रवेश किस रूप में हुआ है इसका क्रमिक इतिहास उन्होंने दिखाया है। काल-विभाग के आधार पर इतिहास लिखने की यह परम्परा हिन्दी साहित्य के इतिहास में क्रान्तिकारी सिद्ध हुई।

हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में जिस गम्भीरता से शुक्लजी ने अपनी कृतियों को प्रस्तुत किया है, वह अत्यन्त विचारणीय है। उन्होंने हिन्दी के तीन महान् कवियों की कृतियों का अध्ययन करके अपने काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर उनका मूल्यांकन किया। उनकी समीक्षात्मक कृतियों पर पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र का प्रभाव दिखाई देता है। उन्होंने पाश्चात्य समीक्षा से अनेक बातें सीखकर हिन्दी आलोचना को रूढ़िमुक्त किया और हिन्दी में आलोचना की अपनी स्वतंत्र पद्धति बनवाई।

हिन्दी आलोचना साहित्य का यह काल-विभाग अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। भाषा के प्रश्न पर अभी तक कोई ठीक निर्णय नहीं लिया गया था और भारतेन्दु-कालीन खड़ी बोली के आन्दोलन का रूप अब भी दिखाई दे रहा था। हिन्दी-उर्दू आन्दोलन की समस्या राजनीतिक रूप ले रही थी और हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखा जाने लगा था। हिन्दी-उर्दू के प्रश्न को लेकर अनेक लेख लिखे गये। हिन्दी को प्रारम्भ

से ही अपने अस्तित्व के लिए अन्य भाषाओं से संघर्ष करना पड़ा जिनमें अंग्रेजी और उर्दू प्रमुख रहीं।

इस काल-विभाग में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'सरस्वती', 'सुदर्शन', 'हिन्दी प्रदीप', 'नागरी हितैषिणी पत्रिका', 'इन्दु', (१९०९), 'गृहलक्ष्मी' (१९१०), 'मनोरमा', (१९१५), 'हिन्दी गद्यमाला' (१९१८), 'माधुरी', (१९२३), 'चाँद', (१९२३), 'साहित्यिक आलोचक' (१९२५), 'सुधा' (१९२७) 'हंस' (१९३०) आदि पत्रिकाओं के कारण हिन्दी साहित्य में विविध प्रकार के साहित्य का प्रकाशन हुआ और पत्रिकाओं में बीच-बीच में जो समालोचनात्मक लेख प्रकाशित हो रहे थे उनका विशेष महत्व है। इन पत्रिकाओं में साहित्य के उद्देश्य के बारे में भी लेख मिलते हैं; जिनमें से अधिकांश लेख किसी साहित्यिक वाद को लेकर ही लिखे गये हैं। इन वादात्मक लेखों में किसी साहित्य-परम्परा का या किसी लेखक की लेखन कला का पक्ष लेकर इन आलोचकों ने साहित्यिक सिद्धान्तों का पक्ष लोगों के सामने रखने का कार्य किया है। वादात्मक लेखों का प्रकाशन होना आवश्यक है परन्तु लेखक के प्रति एक पूर्व धारणा लेकर उसके कृतित्व की तीव्र आलोचना करने की प्रवृत्ति आलोचना के विकास में कोई योग नहीं देती है। वादों की समीक्षा का उग्र रूप अवध उपाध्याय जैसे लेखकों के समालोचनात्मक लेखों में मिलता है। अवध उपाध्याय ने 'मनोरमा' मासिक पत्रिका में सन् १९२७ के जून, जुलाई, सितम्बर के अंकों में तीन लेख प्रकाशित किए हैं। इस प्रकार का प्रयत्न भी 'समालोचक पत्रिका' में हुआ है। उसमें 'प्रेमचंद की प्रेमलीला का उत्तर' शीर्षक लेख द्वारा उसका उत्तर दिया गया। इस प्रकार प्रेमचंद को भी अपनी कृतियों का समर्थन करने के लिये अपनी लेखनी उठानी पड़ी।

इस काल-विभाग में कन्हैयालाल पोद्दारकृत 'काव्यकल्पद्रुम', 'अलंकार-प्रकाश' महावीर प्रसाद कृत 'नाट्य-शास्त्र' किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'साहित्य मीमांसा', रामशंकर शुक्ल कृत 'अलंकार-पीयूष' आदि महत्वपूर्ण ग्रंथों द्वारा सैद्धान्तिक आलोचना का रूप उपस्थित किया गया। रामचंद्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में बीच-बीच में सैद्धान्तिक आलोचना का भी दर्शन होता है। हिन्दी आलोचना का मार्ग प्रदर्शन करने का कार्य शुक्लजी की आलोचनात्मक कृतियों द्वारा हुआ।

## विस्तार-काल (सन् १९३० से सन् १९५० ई० तक)

सन् १९३० के पश्चात् हिन्दी आलोचना में अनेक नव्यतर प्रवृत्तियों का दर्शन होता है। महावीरप्रसाद, रामचंद्र आदि की कृतियों के कारण आलोचना के प्रति आकर्षण बढ़ रहा था। सन् १९३० के आसपास का समय ऐसा था कि हिन्दी साहित्य में महान् कृतियों की रचना हो रही थी। 'प्रसाद,' 'प्रेमचंद', 'पंत', 'महादेवी', 'निराला', 'जैनेन्द्र', आदि कलाकारों की कृतियाँ भी सामने आ रही थीं। अवध उपाध्याय जैसे लेखक प्रेमचंद जैसे महान् कलाकार की कृतियों की कठोर से कठोर

आलोचना कर रहे थे। रामचंद्र शुक्ल तक के द्विवेदीकालीन आलोचकों में साहित्य सेवा के प्रति कर्तव्य तथा सेवा की भावना थीं। रामचंद्र शुक्ल जी ने हिन्दी के प्राचीन तथा नवीन धाराओं का अध्ययन करके अपनी साहित्यिक कृतियाँ रचीं।

अब पाठकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन दिखाई देने लगे और वे साहित्यकार के सामने साहित्य के उद्देश्य, परम्परा, लक्ष्य आदि की व्याख्या करने लगे। इनमें अधिकतर पाठक या विचारक किसी राजनीतिक, सामाजिक विचारधारा से प्रभावित थे और वे अपने सिद्धान्तों के अनुसार साहित्यकारों से कलाकृतियों की माँग करते थे। उनका अपना वैयक्तिक दृष्टिकोण था और उसको वे अपने समाज में प्रसारित करना चाहते थे। अहिन्दी प्रान्तों में भी हिन्दी का प्रचार होने के कारण विद्यार्थियों की संख्या बढ़ने लगी और परीक्षोपयोगी आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी गईं। हिन्दी में पाश्चात्य समालोचना पद्धति का प्रवेश होने के कारण 'कला के आदर्श' के बारे में व्याख्या होने लगी और साहित्यिक विद्वान् और लेखकों की प्रतिभा में एक प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व दिखाई देने लगा। राजनीतिक विचारधारा से प्रभावित साहित्य में जब मनोविश्लेषणवादी विचार-धारा का प्रवेश होने लगा तब साहित्य दर्शन की प्रवृत्तियों में भी परिवर्तन दिखाई देने लगा। अब साहित्य में मनुष्य की मनोवृत्तियों का विश्लेषण होने लगा और आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार साहित्य की व्याख्याएँ होने लगीं। अतः कलाकृतियों की अपेक्षा कलाकार के व्यक्तित्व की समीक्षा भी आरम्भ हुई और मनोवैज्ञानिक समीक्षा का आरम्भ हुआ।

शिक्षा का प्रचार अधिक मात्रा में होने के कारण परीक्षोपयोगी आलोचनात्मक कृतियाँ सामने आने लगीं और नई-नई आलोचनात्मक किताबें प्रकाशित होने लगीं। 'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा अनुसंधान का कार्य चल रहा था। अब अनुसंधान के कार्य पर पी-एच्० डी० की उपाधियाँ मिलने लगीं और विश्वविद्यालयों में अनुसंधाना कार्य को महत्वपूर्ण स्थान मिलने लगा। हिन्दी में अभी तक जो कुछ लिखा जा चुका था या जो कृतियाँ हस्तलिखित रूप में आलमारियों में पड़ी थीं उनपर शोध-कार्य होने लगा और किसी विषय के अध्ययन के लिये इस साहित्यिक-सामग्री का उपयोग होने लगा। इसी कारण अनेक अप्रकाशित ग्रंथ प्रकाश में आये और हिन्दी साहित्य के भंडार में किताबों की संख्या बढ़ने लगी।

इस काल-विभाग में 'विश्वामित्र' (१९३३), 'रूपाभ' (१९३८), 'साहित्य संदेश' (१९३८), 'जीवन-साहित्य' (१९४०), 'विश्वभारती' (१९४२), 'संगम' (१९४२), 'नया साहित्य' (१९४२), 'पारिजात' (१९४५), 'हिमालय' (१९४६), आदि साहित्यिक पत्रिकाओं में आलोचनात्मक लेख प्रकाशित हुए। हिन्दी में 'अभिनन्दन ग्रंथ' प्रकाशित करने की जो परम्परा मिलती है, उसके द्वारा भी आलोचना साहित्य का विकास बढ़ता हुआ दिखाई देता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न पत्रिकाओं

के जो विशेषांक प्रकाशित हुए हैं उनके द्वारा भी किसी विशेष साहित्य-विभाग पर या किसी लेखक की कृतियों पर आलोचनात्मक लेख प्रकाशित हुए।

हिन्दी काव्य में छायावाद युग का आरम्भ होने के कारण हिन्दी के अनेक कवियों की कृतियों की व्याख्या होने लगी। कई कवियों ने अपने कविता-संग्रहों के लिये भूमिकाएँ लिख कर हिन्दी काव्य और उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला। इन भूमिकाओं में तत्कालीन काव्य-साहित्य संबंधी भी आलोचना मिलती हैं।

रामचंद्र शुक्ल ने जिस आलोचनात्मक पद्धति का आदर्श हिन्दी संसार के सामने रखा उसकी विकसित परम्परा का रूप विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, चन्द्रबली पाण्डेय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, कृष्णशंकर शुक्ल, रामकृष्ण शुक्ल "शिलीमुख" की आलोचनात्मक-कृतियों में मिलता है। इन आलोचकों में किसी निश्चित समालोचना पद्धति का रूप नहीं मिलता लेकिन शुक्लजी ने अपनी समीक्षा पद्धति का जो आदर्श सामने रखा था उससे वे अवश्य प्रभावित हुए है।

श्यामसुन्दरदास की आलोचना पद्धति की विकसित परम्परा डा० बड़थ्वाल की समालोचना पद्धति में मिलता है। हिन्दी की निर्गुण धारा का ऐतिहासिक परिचय, उसका विकास तथा उसकी गति का निर्देश करने वाले आलोचकों में डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल का स्थान महत्वपूर्ण है। 'हिन्दी काव्य में निर्गुण धारा' (दि निर्गुण स्कूल आफ् हिन्दी पोयट्री) ग्रंथ आलोचना के क्षेत्र में उनकी एक महत्वपूर्ण कृति है। उन्होंने ऐतिहासिक समीक्षा के रूप में अनेक हस्तलिखित ग्रंथों के आधार पर निर्गुण धारा के आरम्भ, विकास, विचारधारा, सारग्राहिता आदि का पाण्डित्यपूर्ण विवेचन प्रस्तुत कर हिन्दी संतों का परिचय तथा उनकी कृतियों का समालोचनात्मक अध्ययन किया। एक अनुसंधानात्मक आलोचना के रूप में उसका निर्माण होना हिन्दी के लिये बड़े गौरव की बात है। इस ग्रंथ में उनकी विवेचन पद्धति मूलग्राही है और सर्वत्र वैज्ञानिक-संपूर्णता दिखाई देती है। किसी भी वस्तु को बिना जाँचे वे ग्रहण नहीं करते थे। इस प्रबंधात्मक कृति का आदर्श हिन्दी संसार के सामने रखा गया। उनकी प्रबंध-कला की गंभीरता या विवेचन शक्ति हिन्दी के अनुसंधानात्मक प्रबंधों में बहुत कम परिमाण में मिलती है।

शुक्लजी ने जिस व्यावहारिक आलोचना का आदर्श लोगों के सामने रखा था उसकी विकसित परम्परा का विकास विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की रचनाओं में मिलता है। उनके 'वाङमय विमर्श' और 'बिहारी!' ग्रंथ में उनकी समीक्षा पद्धति का रूप दिखाई देता है। उन्होंने अपने अध्ययन के लिए रीतिकालीन साहित्य का क्षेत्र बनाकर जो समालोचनात्मक कृतियाँ उपस्थित की हैं उन्हें हिन्दी साहित्य के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान मिला है। शुक्लजी का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' हिन्दी साहित्य का सर्वांगीण परिचय देता है और मिश्रजी का 'हिन्दी वाङमय विमर्श' हिन्दी

साहित्यि के संक्षिप्त विश्वकोष का आभास देता है। मिश्रजी के 'वाङमय विमर्श' में हिन्दी-साहित्य के विविध साहित्य-प्रकारों की सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचना उनकी समीक्षा-पद्धति की पांडित्यपूर्ण शैली का परिचय देती है। शुक्लजी ने अपने लिये सूर, तुलसी, और जायसी को चुना तो मिश्रजी ने भूषण, बिहारी और घनानंद को अपने अध्ययन के लिये चुना। अर्थात् रीतिकालीन कवियों का इतना पांडित्यपूर्ण अध्ययन हिन्दी के कम आलोचकों में मिलता है।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कृत 'बिहारी' (१९५०) शीर्षक पुस्तक में आलोचना के एक नये मानदंड का रूप मिलता है। बिहारी पर बिलकुल नए खोजों के आधार पर इसका निर्माण हुआ है। पुस्तक के आरम्भ में 'श्रृंगारकाल' के नामकरण, विभाजन और उस काल की प्रवृत्तियों के संबंध में भी विचार किया गया है और उसपर लाला भगवानदीन की तुलनात्मक समीक्षा की छाया लक्षित होती है और बिहारी का इस प्रकार का मूल्यांकन हिन्दी आलोचना के लिये उनकी विशेष देन है। मिश्रजी की समालोचनात्मक रचनाओं के कारण शुक्लजी की समीक्षात्मक शैली का आस्वाद पाठकों को मिलता है।

स्वतंत्र चिन्तन तथा गंभीर विवेचन की शैली चन्द्रबली पाण्डेय की 'तसव्वुफ़ और सूफीमत', 'हिन्दी कवि चर्चा', 'तुलसीदास', साहित्य संदीपनी', 'हिन्दी गद्य का निर्माण' आदि आलोचनात्मक कृतियों में मिलती है। पाण्डेय जी ने अपनी साहित्य-सेवा का निश्चित रास्ता हिन्दी भाषा तथा हिन्दी के पुराने कवियों तक सीमित रखा है। उनकी भाषा शैली में वक्तृत्व-कला का परिपोषण अधिक मात्रा में होने के कारण समालोचना की सजीव तथा आधार करने वाली शैली मिलती है। उनकी रचनाओं में अधिकतर वादात्मक साहित्यिक बातों को प्राधान्य मिला है। हिन्दी में अनुसंधान के रूप में जो कुछ समीक्षात्मक साहित्य प्रकाशित हुआ है उनके मार्मिक तथा वादग्रस्त प्रश्नों को लेकर खोजपूर्ण आलोचना करना उनकी समालोचना पद्धति का आदर्श रहा है। हिन्दी साहित्य के कतिपय अंशों पर नया प्रकाश डालने की परम्परा उनकी रचनाओं में मिलती है। उनकी हरएक रचना में कहीं न कहीं सूक्ष्म बात या सिद्धान्त पर एक नए सिरे से विचार मिलता है। उन्होंने खोजपूर्ण आधारों पर सिद्धान्तों की स्थापना की है। 'हिन्दी कवि चर्चा' में चन्दबरदाई, विद्यापति, कबीर, जायसी आदि कवियों पर आलोचनात्मक निबंध मिलते हैं।

शुक्लजी की समीक्षात्मक शैली की परम्परा में रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' कृत 'प्रसादजी की नाट्य कला', 'आलोचना समुच्चय' आदि समालोचनात्मक कृतियाँ आती हैं। वे समालोचना में प्रतिभा तथा आलोचक की वैयक्तिकता को प्रधान मानते हैं। उनके विचारों में जो निर्भयता, भावाभिव्यक्ति, मौलिकता तथा अभिव्यक्ति की शक्ति है वह अन्य समालोचकों में विरल है। डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा की

'हिन्दी गद्य-शैली का विकास' प्रसाद के 'नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' शीर्षक रचनाओं में आलोचना शैली की सरलता तथा स्वैच्छंदता के दर्शन होते हैं।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१९४०), 'कबीर' (१९४२) आदि रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य के आदिकाल तथा भक्ति काल पर प्रकाश डाला गया। द्विवेदी जी हिन्दी साहित्य के एक प्रौढ़ तथा पहले श्रेणी के आलोचक हैं। डा० बड़थ्वाल ने हिन्दी के सन्त-साहित्य के बारे में जो कुछ संशोधनात्मक कार्य किया था उसे अपना क्षेत्र मान कर द्विवेदी जी ने अपनी रचनाएँ हिन्दी संसार के सामने प्रस्तुत की। द्विवेदी जी संस्कृत, पाली, आदि भाषाओं के पंडित होने के कारण संस्कृत-साहित्य, बौद्ध-साहित्य, जैन-साहित्य आदि की परम्परा से पूर्ण परिचित हैं। इसलिए हिन्दी साहित्य की परम्परा को समझने के लिए उनके पास विशेष सामग्री है। प्राचीन साहित्य में विशेष अध्ययन के कारण ही वे हिन्दी साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और कवियों पर विचार करने वाली हिन्दी साहित्य की भूमिका जैसी प्रामाणिक तथा ऐतिहासिक आलोचनात्मक पुस्तक दे सके। द्विवेदी जी का अध्ययन तथा अध्यापन कार्य काशी तथा शान्तिनिकेतन जैसे शैक्षणिक और सांस्कृतिक वातावरण में होने के कारण आलोचना करने के लिए जिस मानववादी तथा सांस्कृतिक मनोभूमि की आवश्यकता थी उनका सुन्दर मिलन उनकी मानस भूमि में मिलता है। रवीन्द्र और अरविंद जैसे सांस्कृतिक विचारों के व्यक्तियों की विचारधारा का प्रभाव उनके समूचे साहित्य पर पड़ा है।

द्विवेदी जी की मानवतावादी उदारता का परिचय उनकी 'कबीर' 'साहित्य का मर्म' आदि आलोचनात्मक रचनाओं में मिलता है। द्विवेदी जी की कृतियों में मनुष्य को मुख्य मान कर कवि तथा उसकी कृतियों का मूल्यांकन हुआ है। समाज-शास्त्र का गहरा अध्ययन होने के कारण उनकी कृतियों में समाजगत भावनाओं से पूर्ण रचनात्मक व्यक्ति की महिमा गाई गई है। उनका क्षेत्र संस्कृत-साहित्य था इसलिये हिन्दी साहित्य का विश्लेषण करते समय उनका आचार्यत्व बीच-बीच में झलकता है। उनके विचारों में मानवतावादी तीव्र संवेदना होने के कारण, साहित्य के मार्मिक लक्ष्य की व्याख्या बीच-बीच में हुई है। 'अशोक के फूल' और 'कल्पलता' के आलोचनात्मक निबंधों में समालोचना की स्वच्छंद धारा स्पष्ट दिखाई देती है। साहित्य के प्रति देखने का उनका दृष्टिकोण समाज-शास्त्रीय तथा उदारवादी है। साहित्य की ऐतिहासिक परंपरा का विवेचन करते समय वे हरएक बात में जीवन की एक विशेष दृष्टि से देखते हैं। उनके मन में साहित्य के प्रति जो मंगल भावना तथा मानववादी दृष्टिकोण है उसका विश्लेषण उनके हरएक विचार में दिखाई देता है। द्विवेदी जी के समान इतना मानववादी दृष्टिकोण हिन्दी आलोचना में कम मिलता है। साहित्य का जीवन से कितना निकट संबंध होता

है और कलाकार की प्रतिभा पर देश और काल का कैसा प्रभाव पड़ सकता है इसका सुन्दर विश्लेषण उनकी आलोचना में मिलता है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी कृत 'सूर संदर्भ' (१९४१), 'जयशंकर प्रसाद' (१९४१), 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' और 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' नामक रचनाओं में कलावादी तथा स्वच्छंदवादी समालोचना का परिष्कार मिलता है। हिन्दी में छायावाद का युग आरंभ होने के कारण हिन्दी काव्य की आलोचना करने के लिये एक कलावादी आलोचक की आवश्यकता थी और वाजपेयी जी ने अपनी आलोचना पद्धति द्वारा मुख्यतः छायावादी काव्य की आलोचना की।

अभी तक के आलोचकों ने समालोचना के परंपरागत मापदंड के अनुसार आलोचना करके काव्य परंपरा को महत्वपूर्ण स्थान दिया। परन्तु वाजपेयी जी ने काव्य परंपरा के किसी नियम के आधार पर किसी कलाकृति की आलोचना नहीं की है। वाजपेयी जी काव्य में हृदयस्पर्शिता तथा आह्लाद को महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। उनकी कला मूलतः सौन्दर्यवादी है अतएव उन्होंने रूढ़िगत नीति परंपरा का विरोध किया है। वे कलाकार की मौलिकता, रचना-चातुर्य, भाव सौन्दर्य आदि पर तुरंत मुग्ध हो जाते हैं, इसलिये उनकी आलोचना-पद्धति में एक प्रकार का लालित्य और भावमाधुर्य दिखाई पड़ता है।

वाजपेयी जी की 'सूरसंदर्भ', 'जयशंकर प्रसाद' नामक आलोचनात्मक रचनाओं में हिन्दी के दो महान् कवियों की आलोचनाएँ हैं और 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' शीर्षक कृतियों में उनके प्रकाशित आलोचनात्मक लेखों का संग्रह है।

वाजपेयी जी ने छायावाद के विरोधी वातावरण में हिन्दी के आधुनिक कवियों का पक्ष लेकर आलोचना के क्षेत्र में पदार्पण किया। उस समय शुक्ल जी जैसे समालोचक ने भी छायावाद को प्रोत्साहित नहीं किया, क्योंकि वे द्विवेदी युग की नीतिवादी परंपरा के पुरस्कर्ता और प्राचीन काव्य परंपरा के हितैषी थे। सन् १९३० के बाद समूचे हिन्दी साहित्य को एक नई दिशा मिली और हिन्दी साहित्य एक नए काल-खंड में पदार्पण करने लगा। हिन्दी साहित्य की भावचेतना तथा सौन्दर्य-सत्ता को स्वतंत्र ढंग से सोचना आवश्यक था और उसके लिये उदारवादी तथा व्यापक काव्यालोचना की आवश्यकता थी। पूर्वनिश्चित काव्य परंपरा की किसी भी कसौटी पर किसी भी कलाकृति की आलोचना करना वाजपेयी जी को अच्छा नहीं लगता था। 'सूरसंदर्भ' तथा 'जयशंकर प्रसाद' वाजपेयी जी की प्रारंभिक कृतियाँ हैं, परन्तु हिन्दी साहित्य : 'बीसवीं शताब्दी' तथा 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' में जो समालोचनात्मक लेख मिलते हैं वे भिन्न-भिन्न काल में लिखे हुए आलोचनात्मक निबंध हैं। शुक्लजी ने प्राचीन काव्यादर्श की परंपरा का नवीनता से समन्वय करने का प्रयत्न किया परन्तु वाजपेयी जी ने

प्राचीन परंपरा का अध्ययन करके भी नवीन समीक्षा पद्धति से अपनी कलाकृतियों का निर्माण किया।

सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में बाबू गुलाबराय कृत 'काव्य के रूप' तथा 'सिद्धान्त और अध्ययन' शीर्षक कृतियाँ महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इन कृतियों में काव्य के व्यापक सिद्धान्त देकर भारतीय तथा पाश्चात्य ढंग से काव्य की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है। इन दो कृतियों द्वारा हिन्दी के साहित्यालोचन का क्षेत्र पूर्ण हो जाता है। गुलाबराय जी ने अपनी कृतियों का निर्माण इस ढंग से किया है कि विद्यार्थी-गण उनकी कृतियों के आधार पर अपना अध्ययन करते हैं।

हिन्दी के मनोवैज्ञानिक आलोचकों में डा० नगेन्द्र, इलाचंद्र जोशी आदि की कृतियाँ आती हैं। डा० नगेन्द्र की आलोचना में सूक्ष्म परीक्षण की आलोचना पद्धति मिलती है तथा इलाचंद्र जोशी जी की आलोचनात्मक कृतियाँ फ्रायड के सिद्धान्तों से प्रभावित हैं। नगेंद्र जी फ्रायड के सिद्धांतों से प्रभावित होकर भी इलाचंद्र जोशी जी के समान फ्रायडवादी नहीं बने। छायावादी आलोचकों में प्रभाकर माचवे का नाम उल्लेखनीय है।

मार्क्सवादी आलोचकों में डा० रामविलास शर्मा को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। प्रगतिवादी आलोचकों में शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचंद्र गुप्त, विजयशंकर मल्ल आदि उल्लेखनीय आलोचक हैं। इनकी आलोचना में जीवन के व्यावहारिक पक्ष को अर्थपूर्ण स्थान मिला है।

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों के रूप में डा० रामकुमार वर्मा, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डा० श्रीकृष्णलाल तथा डा० भोलानाथ के नाम प्रसिद्ध हैं। शुक्लजी के 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' के द्वारा जिस प्रकार की आलोचना पद्धति का आदर्श उपस्थित किया गया था उसकी विकसित परंपरा इन आलोचकों की कृतियों में मिलती है। रामकुमार वर्मा कृत 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय कृत 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१७५७-१८५७) तथा 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' (१८५०-१९००), श्रीकृष्ण लाल कृत 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९००-१९२५) तथा भोलानाथ कृत 'हिन्दी साहित्य' (१९२६-१९४७) आदि आलोचनात्मक कृतियों में हिन्दी साहित्य के भिन्न-भिन्न काल विभाग की प्रवृत्तियों, कवियों और लेखकों की रचनाओं पर प्रकाश डाला गया है। ये रचनाएँ शोध-प्रबन्धों के रूप में लिखी गईं, परन्तु उनका साहित्यिक तथा ऐतिहासिक महत्व है। इन ग्रंथों द्वारा हिन्दी के समूचे साहित्य का इतिहास बहुत ही विस्तृत रूप में उपस्थित किया गया है।

विभिन्न कालविभागों के आधार पर लिखी हुई रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य की संपूर्णता का चित्र खड़ा हो जाता है और हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों के लिये

इस प्रकार के ग्रंथ बहुत उपयोगी हैं। इन ग्रंथों के रचयिताओं में शैली की विभिन्नता दिखाई पड़ती है परन्तु अपने विषय के अनुसार हरएक आलोचक में हिन्दी साहित्य का विकास दिखाने की पद्धति अलग-अलग है।

डा० रामकुमार वर्मा की आलोचना पद्धति का प्रारंभिक रूप उनके 'साहित्यालोचन' ग्रंथ में मिलता है और उसकी विकसित परंपरा 'कबीर का रहस्यवाद', 'कबीर पदावली', 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' आदि ग्रंथों में मिलता है। एक मौलिक लेखक होने के कारण उनकी आलोचना में एक कलाकार की प्रतिभा का भी दर्शन होता है। इसी प्रकार डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय की कृतियों में आलोचना का परिष्कृत तथा शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण मिलता है। डा० द्विवेदी जी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' लिखकर हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि का सुन्दर चित्र खींचा है। वार्ष्णेय ने आधुनिक हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि का सुस्पष्ट चित्र पाठकों के सामने रखा। परन्तु श्रीकृष्णलाल जी ने अपने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' ग्रंथ द्वारा आलोचना पद्धति का एक स्वतंत्र रूप दिया है। उन्होंने अपने ग्रंथ में ग्रंथकार तथा उनकी पुस्तकों के नामों का विवरण न देकर हरएक साहित्य किस प्रकार किस रूप में विकसित होता गया है इसका सुन्दर विश्लेषण किया है और इसमें उनकी मौलिक प्रतिभा का दर्शन मिलता है। इसी प्रकार डा० माताप्रसाद गुप्त की आलोचनात्मक कृतियों में उनकी संशोधनात्मक कृति का दर्शन होता है। उनका 'हिन्दी पुस्तक-साहित्य ग्रंथ आलोचना के क्षेत्र में अपना एक विशेष महत्व रखता है।

टीका-ग्रंथों के रूप में भी कई ग्रंथ इस काल में प्रकाशित हुए हैं। सेठ कन्हैयालाल कृत 'काव्यकल्पद्रुम', रामबहोरी कृत 'काव्य-प्रदीप', प्रभुदयाल मीतल कृत 'ब्रज-' भाषा में—नायिका निरूपण', सीताराम शास्त्री कृत 'साहित्य-सिद्धान्त', पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी कृत 'हिन्दी रस गंगाधर' आदि ग्रंथों द्वारा भी हिन्दी आलोचना के विकास में सहयोग मिला है। इस काल की यह एक विशेषता है कि उपाधियों के लिये आलोचनात्मक रचनाएँ लिखकर उपस्थित की गई हैं। अंग्रेजी साहित्य के अनुकरण स्वरूप यह परंपरा हिन्दी में आई। पी-एच० डी०, डी० फिल्० तथा डी० लिट्० उपाधि के लिए भारत के पन्द्रह सोलह विश्वविद्यालयों में अनुसंधानकर्ताओं द्वारा निबंध लिखे जा रहे हैं। इसी प्रकार का कार्य फ्रान्स, जर्मनी, इंग्लैंड आदि के विश्वविद्यालयों में भी हो रहा है। हिन्दी का सब से पहला अनुसंधानात्मक कार्य हिन्दुस्तानी ध्वनियों के विषय में इंग्लैंड में सन् १९३० में डा० मोहिउद्दीन कादरी द्वारा हुआ। भारत में इस प्रकार की पहली उपाधि (डी० लिट्०) बाबूराम सक्सेना को सन् १९३० में 'अवधी का विकास' शीर्षक निबंध पर मिली।

हिन्दी में इस प्रकार के शोधकार्य की प्रथा हिन्दी संबंधी किसी विशेष अनुसंधानात्मक कार्य के लिये प्रस्तुत हुई और 'हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय' जैसे गंभीर

तथा अनुसंधानात्मक विषय पर बहुत अच्छे ढंग से डा० बड़थ्वाल ने कार्य किया है। परन्तु आजकल इस प्रकार का कार्य अधिकतर उपाधि की प्राप्ति के लिए हो रहा है। कई विश्वविद्यालयों में एम० ए० के एक या दो प्रश्नपत्रों के लिये भी इस प्रकार के अनुसंधानात्मक निबंध लिखने की प्रथा है। इस प्रकार उपाधियों के लिए लिखे हुए इन प्रबंधों द्वारा हिन्दी आलोचना का विकास होने में सहायता हुई है।

साधारण रूप में शोध-संबंधी आलोचनात्मक कृतियों के दो विभाग किए जाते हैं। प्रथम विभाग में अप्रकाशित तथा हस्तलिखित साहित्य की खोज करके उसको हिन्दी संसार के सामने उपस्थित करना, साथ ही उसपर आलोचना लिखकर उसका मूल्यांकन करना आदि है। दूसरे विभाग में प्राप्त सामग्री के आधार पर किसी नई दृष्टि से उस पर विचार करना या उसमें नई-नई प्रवृत्तियों तथा नए-नए विषयों की खोज करना है। इस प्रकार के कार्य में आलोचना की सच्ची प्रगति दिखाई देती है क्योंकि प्रकाशित आलोचना-साहित्य के आधार पर नई-नई वृत्तियों का विश्लेषण होता है और साहित्य के विविध पहलू पर विचार होता है। इस प्रकार के शोध-कार्य द्वारा किसी विशेष लेखक या कवि की रचनाओं का मूल्यांकन भी किया जा सकता है।

अभी तक जितना शोधकार्य हुआ है उसमें आलोचनात्मक साहित्य का दर्शन होता है और उसमें विषयों की विविधता तथा समालोचना की शैली का नया-नया रूप दिखाई पड़ता है। हिन्दी भाषा, भाषा और साहित्य की परंपरा, इतिहास, तुलना, विशेष कवि या लेखक, एक ही वर्ग-विशेष का समूह-कवि समूह या लेखक समूह, साहित्य के रूप या कोई एक रूप, साहित्य की विविध धाराएँ या वाद, भाषा विज्ञान, हस्त-लिखित या अप्रकाशित ग्रंथों का प्रकाशन, आदि अनेक विषयों पर शोध-कार्य हुआ है और हो रहा है।

हरएक विश्वविद्यालय में इस प्रकार के शोध-कार्य संबंधी निश्चित मान्यताएँ हैं और स्तर की दृष्टि से एक प्रकार की समानता रखने का प्रयत्न हो रहा है। एम० ए० के विद्यार्थी प्रबंध के रूप में जो प्रबंध लिखते हैं वह अधिकतर दो सौ पृष्ठों में लिखा जाता है। पी-एच० डी० या डी० फिल्० उपाधि के लिये चार सौ या पाँच सौ पृष्ठों का होता है, तथा डी० लिट्० उपाधि का प्रबंध एक हजार पृष्ठों तक ही बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार के प्रबंधों के लिये पृष्ठों की संख्या सीमित नहीं है केवल मौलिकता तथा विषय की उपयोगिता पर ही ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार के प्रबंधों द्वारा हिन्दी का आलोचना-साहित्य समृद्ध हो रहा है।

हिन्दी में कई ऐसे समालोचक हैं जिनकी कृतियाँ इन उपाधियों के लिये लिखे हुए प्रबंधों की अपेक्षा अनुसंधान की दृष्टि से अच्छी हैं। परशुराम चतुर्वेदी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आदि आलोचकों की महत्वपूर्ण रचनाएँ इसी श्रेणी में आ सकती हैं। परन्तु इस प्रकार के अनुसंधानात्मक कार्य की व्याप्ति इतनी बढ़ रही है कि एक ही विषय पर

दो से अधिक विद्यार्थी भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में शोध-कार्य कर रहे हैं। इस प्रकार विषय के चुनाव के बारे में कोई निश्चित पद्धति नहीं मिलती। हरएक विश्वविद्यालय में शोधकार्य हो रहा है लेकिन शोध-कार्य के क्षेत्र की कोई निश्चित सीमा नहीं रखी गई है।

हिन्दी का आलोचना-साहित्य अब इतना विस्तृत हो रहा है कि उसकी विकसित प्रवृत्तियों में अनेक शाखाओं का निर्माण हो रहा है। हिन्दी आलोचना-साहित्य का इतिहास केवल अस्सी वर्षों का है और इस थोड़े से समय में उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। हिन्दी आलोचना को स्वतंत्र गति रामचंद्र शुक्ल की आलोचना पद्धति द्वारा मिली। उनका 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' आलोचना के क्षेत्र में एक दीप-स्तंभ के समान ही कार्य कर रहा है। शुक्लजी की आलोचना की शैली में भारतेन्दु तथा द्विवेदीकालीन परंपरा का दर्शन होता है। परन्तु उनकी आलोचना पद्धति में रूढ़िवादी परंपरा को स्थान नहीं मिल सका।

हिन्दी के आलोचना क्षेत्र में रामचंद्र शुक्ल को महत्वपूर्ण स्थान मिलने के अनेक कारण हैं। इन कारणों का विश्लेषण अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है। उनके काल तक आलोचक तथा उसके कार्य संबंधी निश्चित धारणा नहीं बनी थी और आज भी उसके बारे में निश्चित दृष्टिकोण आलोचकों के सामने नहीं है। पहले रसास्वादन या रसानुभूति का परिचय देने वाले किसी भी रसिक की आलोचनात्मक कृति को आलोचना की संज्ञा मिलती थी। परन्तु आलोचक का स्थान कृतिकार की अपेक्षा नीचा भी है, तथा ऊँचा भी––इस साहित्यिक सिद्धान्त का पूरा विश्लेषण तब तक नहीं हुआ था।

साधारण रूप से यह निश्चित माना जा सकता है कि साहित्य जीवन की स्वानुभूति-आलोचना है। साहित्यकार को जीवन में जो कुछ अनुभव मिले या दूसरों के अनुभवों से जो कुछ समझा या सोचा उन सब बातों का प्रतिबिंब उसकी साहित्यिक कलाकृति में मिलता है। अर्थात् एक कलाकार के रूप में उसने अपनी प्रतिभा द्वारा एक कलाकृति को जन्म दिया। ठीक उसी प्रकार से कलाकृति का आस्वादन करना पाठकों को नहीं आता, फिर भी सहृदय पाठक उस कलाकृति को कुछ न कुछ समझ सकता है। यहाँ आलोचक की आवश्यकता होती है और तत्पश्चात् कलाकार के स्वरूप की आवश्यकता होती है, अर्थात् उसे लेखक की कलाकृति को समझ कर उसको दूसरों को समझाना पड़ता है। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि लेखक जीवन की आलोचना करता है और आलोचक कलाकार की कलाकृति की समीक्षा करता है। अतः आलोचक को जीवन को भी समझना पड़ता है और साथ ही साहित्य में चित्रित जीवन को भी, इसीलिए आलोचक में कलाकार तथा आलोचक की मानसिक भूमिका की भी आवश्यकता है और इस आधार पर ही आलोचना के स्वतंत्र तथा कलात्मक रूप का अस्तित्व निश्चित हो जाता है, अर्थात् आलोचकों में दुहरी प्रतिभा अपेक्षित

है। इन दो प्रतिभाओं का कारयित्रि प्रतिभा और भावयित्रि प्रतिभा के रूप में नामकरण हुआ है। इनके द्वारा आलोचक के अंतरंग के मनोव्यापारों की कल्पना की जा सकती है। आलोचना के इस आदर्श तथा कलात्मक मनोभूमि पर खड़े होकर यदि हम हिन्दी की आलोचना पर विचार करेंगे तो उसकी वास्तविक गतिविधि का परिचय होगा।

बीस साल पहले (सन् १९३०) रामचंद्र शुक्ल जी ने आलोचना के क्षेत्र में जिस दिशा का संकेत किया वह आलोचना पद्धति इस काल के लिए आदर्श मानी जा सकती है। शुक्लजी की आलोचना पद्धति में किसी विशेष मतमतांतर या साहित्य के समकालीन उद्देश्य का प्रभाव नहीं मिलता। उस पद्धति में साहित्य के सार्वदेशीय और सर्वकालीन उद्देश्य के आदर्श की व्याख्या की गई थी और साहित्य के निश्चित आदर्श के बारे में कल्पना करते समय भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य परंपरा का आधार लिया गया था। इसलिए उनकी आलोचना पद्धति में किसी साहित्यिक वाद या सामयिक विचारधारा का प्रभाव नहीं पड़ा। शुक्लजी शील, शक्ति और सौन्दर्य के पुजारी थे इसलिए साहित्य के प्रति उनका आदर्श नीति से प्रेरित था और वे मर्यादावादी भी थे। केवल यही एक बात समालोचना के आदर्श के बारे में खटकने वाली हो सकती है। बाकी सर्व बातें लोक-मंगल की भावभूमि की यथार्थ परंपरा पर होते हुए भी सामाजिक आदर्शों से अनुप्राणित थीं।

परन्तु शुक्लजी की समालोचना पद्धति के आदर्श की स्थापना आधुनिक आलोचना में नहीं मिलती। इने-गिने आलोचकों को छोड़कर हिन्दी के आधुनिक आलोचकों के बारे में हमें उदासीन होना पड़ता है। विचारों की गंभीरता, शैली की शालीनता तथा साहित्य के शाश्वत आदर्श एवं ध्येय की मीमांसा आज की आलोचना में नहीं मिलती। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि विचारधाराओं में किसी एक विचारधारा को प्राधान्य देकर आज के आलोचक मानववादी आलोचक, समाजवादी आलोचक, मार्क्सवादी आलोचक, प्रगतिशील आलोचक, मनोवैज्ञानिक आलोचक आदि वर्गों में विभाजित हो गये हैं और उनकी आलोचना पद्धति की मीमांसा पाश्चात्य आलोचना साहित्य पर आधारित है। आजकल आलोचना का स्तर बहुत गिरता चला जा रहा है जैसे आज का आलोचक पंत जी पर लिखते समय 'वर्ड्स्वर्थ' या 'शेली' पर लिखी हुई आलोचना का अनुवाद करके पंत जी का काव्य की विशेषताएँ बतलाता हैं। आलोचना-पद्धति में इससे हीन और क्या हो सकता है?

साहित्य के सिद्धान्तों में न पाश्चात्य आदर्श का परिपक्व रूप मिलता है न किसी नवीन साहित्यधारा का परिचय मिलता है। परीक्षोपयोगी-आलोचना साहित्य के कारण आलोचना के क्षेत्र में धाँधली मची है और विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभागों के अधिकतर अध्यापक आलोचक की उपाधि से विभूषित होने लगे हैं। विद्यार्थियों

और अध्यापकों में आलोचना साहित्य की मीमांसा एक कसरत के रूप में दिखाई पड़ती है जिससे सहृदय विचारक या पाठक के विचारों को स्थान ही नहीं मिलता। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में जो तीन-चार अच्छे-अच्छे आलोचक हैं उनकी समीक्षा पद्धति के द्वारा हिन्दी आलोचना अपनी प्रगति के मार्ग में अग्रसर हो सकती है। आधुनिक आलोचकों में पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी के नाम उल्लेखनीय हैं। यदि हमें हिन्दी आलोचना के एक प्रौढ़ तथा परिष्कृत रूप की कल्पना करनी हो तो उपर्युक्त चार या पाँच आलोचक-प्रवरों की शैलियों का संगम करना पड़ेगा, और उनके सम्मिलित योग से ही आशावादी, भाववादी, मानवतावादी तथा सौन्दर्यवादी आलोचना-गंगा की भाव एवं बोध-भूमि का वैभव और विस्तार मिल सकेगा।

# उपसंहार

आधुनिक हिन्दी गद्य के नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना आदि साहित्य-रूपों के उद्भव एवं विकास-क्रम में एक परंपरा मिलती है और हिन्दी का आधुनिक गद्य-साहित्य अपनी प्रगति की दिशा में आगे बढ़ रहा है। हिन्दी भाषा तथा उसके साहित्य का इतिहास बड़ा संघर्षमय है और उसकी सीमा एवं कार्यव्याप्ति केवल एक सौ वर्षों की कालावधि के भीतर है। मुसलमानों तथा अंग्रेजों के राज्य-शासन के कारण भारतीय साहित्य, कला और संस्कृति पर दबाव पड़ा है परंतु इतना विरोध होते हुए भी उनमें विकास-क्रम की निश्चित परंपरा मिलती है।

हिन्दी गद्य-साहित्य का लालन-पालन अंग्रेजी शासन के छत्र-छंया में हुआ और उसकी विकसित परंपरा की धारा अंग्रेजी, बंगाली, उर्दू आदि भाषाओं के साथ आगे बढ़ी। अंग्रेजी तथा बंगला के साहित्य का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर स्पष्ट दिखाई देता है और अब भी इन भाषाओं के साहित्य से बहुत कुछ ग्रहण किया जा सकता है।

हिन्दी गद्य-साहित्य में प्रगति के लक्षण दिखाई पड़ते हैं और उसके आकार और व्याप्ति में एक प्रकार की विशालता का अनुभव होता है। काल और परिस्थितियों के अनुसार प्रगति की दिशा का स्पष्ट संकेत मिलता है परन्तु साहित्य का आदर्श या लोक-मंगल की भावना का सुदृढ़ तथा कलात्मक पक्ष उसमें स्पष्ट रूप से नहीं दिखाई पड़ता। साहित्यकार बहुत कुछ जीवन से ग्रहण करता है और अपनी रचना का निर्माण करता है। जब वह जीवन में जो कुछ देखता है, या दूसरों से जो कुछ सुनता है तथा कई बातों का खुद अनुभव करता है, तब वह अपनी रचनाओं द्वारा लोगों के सामने अपनी प्रतिभा का व्यावहारिक रूप खड़ा करके अपने वैयक्तिक सिद्धान्तों के अनुसार जीवन की महत्वपूर्ण समस्याओं की व्याख्या करता है और इसमें ही उसकी कला का आदर्श सत्यं-शिवं-सुन्दरम् के रूप में रहता है। साहित्यकार की इस भावभूमि के आधार पर यदि हिन्दी गद्य-साहित्य पर विचार किया जाय तो हमें इने-गिने बहुत ही कम साहित्यकार मिलेंगे जिनकी कृतियों में जीवन के आदर्श को स्पष्ट ढंग से चित्रित किया गया है।

आधुनिक हिन्दी गद्य-साहित्य का इतिहास लगभग अस्सी वर्षों का है फिर भी इसमें भारतेन्दु हरिश्चंद्र, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचंद, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, जैनेंद्र कुमार और 'अज्ञेय' जैसे महान् साहित्यकारों की कला-कृतियाँ मिलती हैं। इनमें से हरएक कलाकार ने काल और परिस्थितियों के अनुसार हिन्दी साहित्य के ज्ञान-भंडार को समृद्ध किया है।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र के कारण हिन्दी नाटक और निबंध का प्रारंभ हुआ और साहित्य की उन्नति के लिये सब मार्ग सुलभ हुए। उन्होंने 'निज-भाषा' की उन्नति में देश की उन्नति मान कर हिन्दी की सेवा की। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भाषा को परिष्कृत करके हिन्दी-गद्य को समृद्ध करने की दृष्टि से अनेक प्रयत्न किये तथा हिन्दी में पत्रकार-कला का आदर्श उपस्थित किया। द्विवेदीजी द्वारा हिन्दी निबंध और आलोचना की भी प्रगति हुई। जयशंकर प्रसाद के आविर्भाव के कारण हिन्दी के नाटक साहित्य में एक नए युग का आरंभ हुआ। साथ ही प्रसाद जी ने अनेक कहानियाँ लिखकर हिन्दी में भावपूर्ण कहानियों की सृष्टि निर्माण की। इसी प्रकार उनके उपन्यासों ने भी प्रसिद्धि पाई है। प्रेमचंद के कथा-साहित्य के कारण हिन्दी साहित्य का स्थान विश्व-साहित्य में ही निश्चित हुआ है और उनके उपन्यास तथा कहानियाँ हिन्दी साहित्य के अमर रत्न बनीं। हिन्दी में प्रेमचंद के समान प्रतिभाशाली कलाकार नहीं दिखाई पड़ता जिसके साहित्य में शक्ति, शील तथा कला के आदर्श मिलते हैं। प्रेमचंद का कथा-साहित्य हिन्दी गद्य-साहित्य की एक स्थायी देन है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचनात्मक रचनाओं के कारण हिन्दी में आलोचना का एक नया युग प्रारंभ हुआ और हिन्दी के आलोचना-साहित्य को एक नई दिशा मिली। हिन्दी निबंध-साहित्य में शुक्लजी के निबंध एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आधुनिक गद्यकारों में जैनेंद्रकुमार तथा 'अज्ञेय' जी की कृतियों में हिन्दी गद्य की नवीनतम प्रवृत्तियों के दर्शन मिलते हैं। जैनेंद्र जी ने अपने उपन्यासों तथा कहानियों द्वारा आधुनिक कथा-साहित्य का सूत्रपात किया तथा शिल्प तथा विषय की दृष्टि से अनेक कृतियों का निर्माण किया। 'अज्ञेय' जी के कथा-साहित्य में उपन्यास-कला तथा कहानी-कला के आदर्श मिलते हैं। 'अज्ञेय' की कृतियों में भाषा का जो प्रौढ़ तथा परिमार्जित रूप मिलता है वह हिन्दी के अन्य कलाकारों में कम दिखाई पड़ता है। 'जैनेंद्र' तथा 'अज्ञेय' की कला-कृतियों में आधुनिकता के सब लक्षण दिखाई पड़ते हैं परन्तु उनकी अभी तक प्रारंभिक कृतियाँ ही हिन्दी संसार के सामने आई हैं। उनकी प्रौढ़ कृतियों का अभी तक दर्शन नहीं हुआ है। इन दो कलाकारों की प्रौढ़ कृतियों में हिन्दी-गद्य का उज्ज्वल भविष्य दिखाई पड़ेगा।

# पत्र-पत्रिकाएँ

१. आनंद कादंबिनी
२. आलोचना
३. इन्दु
४. कविवचन-सुधा
५. कवि व चित्रकार
६. नागरी प्रचारिणी पत्रिका
७. बालबोधिनी
८. भारतेन्दु
९. विद्यार्थी सम्मिलित हरिश्चन्द्र चन्द्रिका और मोहन चन्द्रिका
१०. विशाल भारत
११. समालोचक
१२. सरस्वती
१३. सार-सुधानिधि
१४. साहित्यकार
१५. साहित्य सन्देश
१६. सुधा
१७. हरिश्चन्द्र चन्द्रिका
१८. हरिश्चन्द्र मैगज़ीन
१९. हिन्दी अनुशीलन
२०. हिन्दी प्रदीप
२१. हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका
२२. क्षत्रिय पत्रिका

# सहायक ग्रथों की सूची


१. अजातशत्रु---जयशंकर प्रसाद

२. अतीत के चलचित्र---महादेवी वर्मा

३. अथ योगवासिष्ठ---वैराग्य और मुमुक्षु प्रकरणम्

४. 'अधखिला फूल'---अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

५. *अन्तर्नाद---वियोगी हरि

६. अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक---सं० पंडित विजयानन्द त्रिपाठी, अनुवादक राजा लक्ष्मण सिंह

७. अमरसिंह राठौर---राधाचरण गोस्वामी

८. अलका---निराला

९. आकाश दीप---जयशंकर प्रसाद

१०. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी समालोचना---रामविलास शर्मा

११. आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीत---सं० राहुल सांकृत्यायन

१२. आधुनिक कथा साहित्य---गंगाप्रसाद पाण्डेय

१३. आधुनिक कवि (महादेवी वर्मा)---हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

१४. आधुनिक कवि (सुमित्रानन्दन पंत)---हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

१५. आधुनिक कहानियाँ---विजयशंकर मल्ल

१६. आधुनिक समीक्षा---डा० देवराज

१७. आधुनिक साहित्य---नन्ददुलारे वाजपेयी

१८. आधुनिक हिन्दी साहित्य---लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

१९. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास---श्रीकृष्णलाल

२०. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका---लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

२१. आनंदरघुनंदननामनाटकम्---बांधवेश विश्वनाथसिंह

२२. इतिहास तिमिर नाशक---राजा शिवप्रसाद

२३. इन्द्रजाल---जयशंकर प्रसाद

२४. इरावती---जयशंकर प्रसाद

२५. इवाल्यूशन आफ दि इंग्लिश नावेल---फ्रांसिस स्टाडर्ड

२६. उर्दू बेगम---भगवानदास

२७. उद्धार---हरिकृष्ण 'प्रेमी'

२८. एक घूँट—जयशंकर प्रसाद
२९. एक रात—जैनेंद्र कुमार
३०. काव्य और कला तथा अन्य निबंध—जयशंकर प्रसाद
३१. काव्य के रूप—गुलाबराय
३२. कुछ विचार—प्रेमचंद
३३. कृष्णार्जुन युद्ध—माखनलाल चतुर्वेदी
३४. खरगोश के सींग—प्रभाकर माचवे
३५. गद्य संकलन—संपादक करुणापति त्रिपाठी
३६. गाँधी टोपी—राधिकारमण सिंह
३७. गुनाहों का देवता—डा० धर्मवीर भारती
३८. गुलेरीजी की अमर कहानियाँ—संपादक : शक्तिधर गुलेरी
३९. गोदान—प्रेमचंद
४०. घरौंदे—रांगेय राघव
४१. चढ़ती धूप—अंचल
४२. चन्द हसीनों के खुतूत—पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'
४३. चन्द्रकान्ता—देवकीनन्दन खत्री
४४. चन्द्रगुप्त—जयशंकर प्रसाद
४५. चलचित्र—पहाड़ी
४६. चिन्तामणि—रामचन्द्र शुक्ल
४७. चित्रलेखा—भगवतीचरण वर्मा
४८. छलना—भगवतीप्रसाद वाजपेयी
४९. जयदोल—अज्ञेय
५०. जयशंकर प्रसाद—नन्ददुलारे वाजपेयी
५१. जयसंधि—जैनेन्द्र कुमार
५२. टेढ़े-मेढ़े रास्ते—भगवतीचरण वर्मा
५३. डायरी के नीरस पृष्ठ—इलाचन्द्र जोशी
५४. त्यागपत्र—जैनेन्द्र कुमार
५५. दक्खिनी का पद्य और गद्य—श्रीराम शर्मा
५६. दक्खिनी हिन्दी—बाबूराम सक्सेना
५७. दादा कामरेड—यशपाल
५८. दि कोर्स आव डिवाइन रेवेलेशन
५९. दि संस्कृत ड्रामा—ए० बी० कीथ
६०. द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ

६१ द्विवेदीयुगीन निबंध साहित्य—गंगाबख्श सिंह
६२ दो धारा—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
६३. ध्रुवयात्रा और अन्य कहानियाँ—जैनेन्द्रकुमार
६४. ध्रुवस्वामिनी—जयशंकर प्रसाद
६५. नदी के द्वीप—अज्ञेय
६६. नया साहित्य : नये प्रश्न—नन्ददुलारे वाजपेयी
६७. नहुष नाटक—संपादक ब्रजरत्नदास
६८. नाटक की परख—एस० पी० खत्री
६९. नाट्यकला मीमांसा—गोविन्ददास
७०. नासिकेतोपाख्यान—सदल मिश्र, संपादक श्यामसुन्दरदास
७१. निबंधकार बालकृष्ण भट्ट—गोपाल पुरोहित
७२. निमंत्रण—भगवतीप्रसाद वाजपेयी
७३. नूतन चरित्र—रत्नचन्द्र प्लीडर
७४. नूतन ब्रह्मचारी—बालकृष्ण भट्ट
७५. पद्मपुराण भाषा भूमिखंड
७६. पर्यवसान—चंडीप्रसाद हृदयेश
७७. परख और स्पर्धा—जैनेन्द्र कुमार
७८. पर्दे की रानी—इलाचन्द्र जोशी
७९. परीक्षा गुरु—सं० श्रीकृष्णलाल (श्रीनिवासदास)
८०. पाजेब—जैनेंद्रकुमार
८१. पिपासा—भगवतीप्रसाद वाजपेयी
८२. पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ
८३. प्रताप पीयूष—संपादक रमाकान्त त्रिपाठी
८४. प्रतिध्वनि—जयशंकर प्रसाद
८५. प्रसाद के तीन ऐतिहासिक नाटक—राजेश्वरप्रसाद अर्गल
८६. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—जगन्नाथप्रसाद शर्मा
८७. प्रेमसागर—योगध्यान मिश्र
८८. बिदा—प्रतापनारायण श्रीवास्तव
८९. ब्रजभाषा—डा० धीरेन्द्र वर्मा
९०. भट्टनिबंधावली—संपादक देवीदत्त शुक्ल
९१. भाग्यवती—श्रद्धाराम फुल्लोरी
९२. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—सुनीतिकुमार चटर्जी
९३. भारतेन्दु के निबन्ध—केशरीनारायण शुक्ल
९४. भारतेन्दु ग्रंथावली—संपादक ब्रजरत्नदास

९५. भारतेन्दु युग—रामविलास शर्मा
९६. भारतेन्दुयुगीन निबंध—शिवनाथ
९७. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—रामविलास शर्मा
९८. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
९९. मंगलसूत्र—प्रेमचन्द
१००. मनोरमा—गोपालराम गहमरी
१०१. महात्मा ईसा—बेचन शर्मा 'उग्र'
१०२. माधव मिश्र निबंधमाला—संपादक चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा
१०३. मृगनयनी—वृंदावनलाल वर्मा
१०४. रत्नाकर (जगन्नाथदास रत्नाकर के संपूर्ण काव्यों का संग्रह) भाग
संपादन : नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
१०५. रक्षाबंधन—हरिकृष्ण प्रेमी
१०६. राजस्थानी भाषा और गद्य—पंडित मोतीराम मेनारिया
१०७. राज्यश्री—जयशंकर प्रसाद
१०८. रानी केतकी की कहानी—(इंशा अल्ला खाँ) संपादक श्यामसुन्दर दास
१०९. रूपक रहस्य—श्यामसुन्दर दास
११०. रूपक विकास—उपाध्याय वेदमित्र व्रती
१११. रेडियो नाट्य शिल्प—सिद्धनाथ कुमार
११२. रेशमी टाई—रामकुमार वर्मा
११३. वचन का मोल—उषादेवी मित्रा
११४. वर्णरत्नाकर आफ ज्योतिरीश्वर ठाकुर—संपादक सुनीतिकुमार चटर्जी
११५. वरमाला—गोविन्दवल्लभ पंत
११६. वंशीरव—दिनेशनन्दिनी डालमिया
११७. वाङ्मय विमर्श—विश्वनाथप्रसाद मिश्र
११८. वातायन—जैनेन्द्रकुमार
११९. वामाशिक्षक—मुंशी ईश्वरीप्रसाद और मुंशी कल्याणराय
१२०. विक्रमादित्य—उदयशंकर भट्ट
१२१. विवेचना—इलाचन्द्र जोशी
१२२. वेदना—भँवरलाल सिंघी
१२३. वेस्टर्न इन्फ्लूअन्स इन बेंगाली लिटरेचर—प्रियरंजन सेन
१२४. वोल्गा से गंगा—राहुल सांकृत्यायन
१२५. शान्तिनिकेतन—चंडीप्रसाद हृदयेश
१२६. शिवशम्भु के चिट्ठे—बालमुकुन्द गुप्त

१२७. शिवसाधना—हरिकृष्ण प्रेमी
१२८. शेखचिल्ली की कहानियाँ
१२९. शेखर : एक जीवनी—अज्ञेय
१३०. शेष स्मृतियाँ—रघुवीरसिंह
१३१. श्यामा स्वप्न—(ठा० जगमोहन सिंह) संपादक श्रीकृष्णलाल
१३२. श्रीनिवास ग्रंथावली—संपादक श्रीकृष्णलाल
१३३. संचयन—संकलनकर्ता श्री प्रभात शास्त्री
१३४. संस्कृत साहित्य का इतिहास—बलदेव उपाध्याय
१३५. सड़क पर—पहाड़ी
१३६. सत्य हरिश्चन्द्र—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
१३७. सत्यार्थ प्रकाश—दयानन्द सरस्वती
१३८. सन्देश रासक—संपादक जिनविजय मुनि
१३९. सप्तराशि—गोविन्ददास
१४०. समर्पण—जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द'
१४१. साधना—रायकृष्णदास
१४२. साहित्यालोचन—श्यामसुन्दरदास
१४३. साहित्य सुमन—बालकृष्ण भट्ट
१४४. सिंदूर की होली—लक्ष्मीनारायण मिश्र
१४५. सिद्धान्त और अध्ययन—गुलाबराय
१४६. सिद्धान्त और समीक्षा—
१४७. सुनीता—जैनेन्द्र कुमार
१४८. सोहिनी—उषादेवी मित्रा
१४९. सौ अजान एक सुजान—बालकृष्ण भट्ट
१५०. सौन्दर्योपासक—ब्रजनंदनसहाय
१५१. स्कन्दगुप्त—जयशंकर प्रसाद
१५२. स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य—जयशंकर प्रसाद
१५३. स्मृति की रेखाएँ—महादेवी वर्मा
१५४. स्वर्णमयी—ईश्वरीप्रसाद शर्मा
१५५. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास—भगवतस्वरूप मिश्र
१५६. हिन्दी उपन्यास—शिवनारायण श्रीवास्तव
१५७. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद—त्रिभुवनसिंह
१५८. हिन्दी कथा साहित्य—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
१५९. हिन्दी कहानियाँ—सं० श्रीकृष्णलाल

१६०. हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास—लक्ष्मीनारायण लाल
१६१. हिन्दी की गद्य-शैली का विकास—जगन्नाथप्रसाद शर्मा
१६२. हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ—संपादक नंददुलारे वाजपेयी
१६३. हिन्दी के आलोचक—शचीरानी गुर्टू
१६४. हिन्दी के गद्यकार और उनकी शैलियाँ—रामगोपालसिंह चौहान
१६५. हिन्दी के सामाजिक उपन्यास—ताराशंकर पाठक
१६६. हिन्दी गद्य का निर्माण—चन्द्रबली पाण्डेय
१६७. हिन्दी गद्य मीमांसा—रमाकान्त त्रिपाठी
१६८. हिन्दी गद्य रत्नावली—वियोगी हरि
१६९. हिन्दी गद्य के युगनिर्माता—जगन्नाथप्रसाद शर्मा
१७०. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—दशरथ ओझा
१७१. हिन्दी नाटककार—जयनाथ नलिन
१७२. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—सोमनाथ गुप्त
१७३. हिन्दी नाटकों का विकास—शिवनाथ
१७४. हिन्दी निबंध और निबंधकार—ठाकुरप्रसाद सिंह
१७५. हिन्दी निबंधकार—जयनाथ नलिन
१७६. हिन्दी पुस्तक-साहित्य—माताप्रसाद गुप्त
१७७. हिन्दी भाषा का इतिहास—राजा शिवप्रसाद
१७८. हिन्दी भाषा-सार—सं० लाला भगवानदीन और रामदास गौड़
१७९. हिन्दी साहित्य—भोलानाथ
१८०. हिन्दी साहित्य—श्यामसुन्दरदास
१८१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा
१८२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल
१८३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
१८४. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ—जयकिशन प्रसाद
१८५. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष—शिवदान सिंह चौहान
१८६. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी—नन्ददुलारे वाजपेयी